वैदिक-यज्ञदर्शन

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

This book belongs to

Sushil Kumar Arya
Sirpur Kagaznagar
Adilabad (A.P.)
504296

[illegible signature]

वैदिक-यज्ञदर्शन

□

लेखक—
आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

□

मूल्य ६०-०० रु०

प्रकाशक :
पंडिता उर्मिलादेवी शास्त्री
४१ जयेश कालोनी
फत्तेगंज, बड़ौदा-२

मुद्रक—
सैनी प्रिण्टर्स, पहाड़ी धीरज,
दिल्ली-६

प्रथमावृत्ति……

ओ३म्

लेखक के कुछ शब्द

प्रस्तुत पुस्तक जिसका नाम वैदिक यज्ञदर्शन है मुद्रित एवं प्रकाशित होकर शीघ्र ही पाठकों के हाथ में जाने वाली है। पुस्तक का विषय जहाँ अति उपयोगी है वहाँ इसकी साज-सज्जा और छपाई आदि भी सुन्दर है। पुस्तक को हर प्रकार से सुन्दरतापूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है जबकि कागज छपाई और जिल्दबन्दी आदि का भाव अत्यधिक बढ़ गया है। आजकल के समय में पुस्तक छापना छपाना बड़ा ही कठिन है। फिर भी प्रयत्न किया गया है कि यह अत्युपादेय पुस्तक पाठकों तक पहुंचे और उनकी मानसिक ज्ञानपिपासा को तृप्त करे।

पुस्तक के लिखने में मेरी पण्डिता पत्नी श्रीमती उर्मिला देवी शास्त्री और मेरी पुत्री आयुष्मती शर्मिष्ठा शास्त्री एडवोकेट (जो गृहस्थ होने के बाद अब शर्मी शास्त्री अलुग, एडवोकेट के नाम से प्रसिद्ध हैं और दिल्ली रहती हैं) का बहुत बड़ा सहयोग रहा है। मेरे जामाता चि० रोशन जी अलुग ने अच्छा कागज चुनकर लगाने का यत्न किया। इनके सहयोग की सराहना करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

इस यज्ञदर्शन और वह भी वैदिक यज्ञदर्शन के लिखने का विचार मेरे मन में वर्तमान यज्ञों के स्वरूप को देखकर समय-समय पर उठता रहता था। परन्तु यह धारणा और भी अधिक दृढ़ तब बनी जब मैं और मेरे शिष्य बम्बई निवासी श्री पं० दयाशंकर जी शर्मा आर्योपदेशक एक बार अति परिचित अपने धार्मिक मित्र स्वर्गीय श्री रामप्रकाश जी मेहरा बम्बई से मिलने गये। मेहरा जी का अपने साथ बड़ा ही प्रेम था और यही बात अब उनके परिवार की भी अपने साथ है। मेहरा जी ने भी इस विचार का समर्थन किया और कहा कि वैदिक यज्ञदर्शन लिखा जाना चाहिए और मेरी लेखनी से लिखा जाना चाहिए। पुस्तक तो उनके जीवन काल में ही तैयार हो गई थी। परन्तु आज वह इस पुस्तक को देखने को विद्यमान नहीं हैं। स्वर्गीय मेहरा जी को यज्ञ से बहुत प्रेम था और उनके परिवार में भी यह भावना दृढ़ है।

श्री रामप्रकाश जी मेहरा का जन्म ३० नवम्बर १९१२ को पंजाब प्रान्त में

हुआ था। उनकी शिक्षा दीक्षा अमृतसर में हुई थी। उन्होंने व्यापार में लगना अपना लक्ष्य बनाया और पंजाब से बम्बई आ गये। भारत में आर्ट सिल्क की छपाई का कार्य सर्वप्रथम १९३२ ईस्वी में उन्होंने ही किया। सन् १९४५ से १९४६ तक वे सिल्क मर्चेण्ट असोसियेशन के मन्त्री, सदस्य आदि पदों पर आसीन रहे। १९५६ में वे इस असोसिएशन के प्रधान बने और उत्तमता से इस पद की गरिमा को निभाया।

स्वर्गीय मेहरा जी मेसर्स सिल्क ऐण्ड आर्ट सिल्क मिल्स असोसियेशन लिमिटेड तथा मेसर्स सिल्क एण्ड आर्ट सिल्क रिसर्च असोसियेशन लिमिटेड के डायरेक्टर पद पर रहे और १९६६ में सिल्क एण्ड आर्ट सिल्क एसोसियेशन लिमिटेड के चेयरमैन रहे। इतना ही नहीं वे भारत सरकार की मैनमेड फाइवर्स डेवलपमेण्ट कौंसिल के सदस्य भी रहे। श्री मेहरा जी का सम्बन्ध अन्य अनेक सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से भी था। वे परोपकार के कार्यों में भी अपनी आय का अच्छा खासा भाग व्यय करते रहे। श्री मेहरा जी श्री लाला लाजपत राय कालेज ट्रस्ट के प्रबन्धक ट्रस्टी रहे और बड़ी योग्यता तथा तत्परता से कार्य किया।

स्वर्गीय श्री रामप्रकाशजी मेहरा के परिवार में उनकी पत्नी बहन इन्द्रावती जी मेहरा हैं जो स्वयं बहुत ही धार्मिक हैं और परिवार में धार्मिकता को बनाये रखने में स्तम्भ का कार्य करती हैं। श्री मेहरा जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री कपिल मेहरा हैं। वे और उनकी पत्नी श्रीमती मोना मेहरा तथा श्री कपिल जी के लघु भ्राता श्री जितेन्द्र मेहरा और इनकी पत्नी श्रीमती पवन मेहरा पिता के चरण चिह्नों पर चलते हुये उनके सभी कार्यों को बड़ी योग्यता और तत्परता से संभाल रहे हैं। भगवान् इन्हें शक्ति और सफलता दे।

पहले लिखा जा चुका है कि श्री रामप्रकाश जी मेहरा मेरे एक परम मित्र थे। उनकी मैत्री का और कोई प्रतिफल क्या दिया जा सकता है। उनकी स्मृति में उनका फोटो इस पुस्तक के साथ प्रकाशित किया जाता है। इससे बढ़कर किसी मित्र की अमर स्मृति और क्या हो सकती है?

प्रिय पंडित दयाशंकर जी शर्मा, बम्बई महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनन्य भक्त हैं। महर्षि के सिद्धान्तों में उनकी अटूट श्रद्धा है। मेरे प्रति सदा आदर भाव रखते हुए वे मेरे प्रत्येक कार्य में सहानुभूति और सहयोग देते हैं। इस पुस्तक में भी उन्होंने वह अपेक्षा पूरी की है। परमेश्वर उन्हें महर्षि के कार्य की पूर्ति में सदा अग्रसर रखें, दीर्घायु और यश प्रदान करें—यही मेरी अन्तर्भावना है।

प्रिय पंडित रविशंकर द्विवेदी महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में लगे रहते हैं। मेरे प्रति उनकी भी अटूट श्रद्धा है। उनके सहानुभूति और सहयोग भी दृष्टि से ओझल नहीं किए जा जकते हैं। वे सदा महर्षि के कार्य में अग्रसर रहें, यही मेरी कामना है।

आर्य समाज काकड़वाड़ी बम्बई और उसके अधिकारियों, श्री ओम्प्रकाश जी मेहरा बम्बई और उनकी धर्म परायणा पत्नी श्रीमती कमलावती मेहरा, श्री आर० डी० शर्मा वैदिक परमार्थाश्रम बम्बई, प्रिय आदित्य सिह प्रताप सिह शूर जी वल्लभदास, श्री के० रामकृष्णप्पा. श्री विजय कुमार, श्री सुरेन्द्र जी गोयल, श्री बलवीर जी गोयल आदि महानुभावों ने सहानुभूति और सहृदयता मेरे प्रति दिखाई उसके लिए मैं आभार प्रकट करता हूं।

मेसर्स सैनी प्रिण्टर्स, पहाड़ी धीरज, दिल्ली के मालिक श्री चन्द्रमोहन जी शास्त्री ने पुस्तक के मुद्रण, प्रूफ शोधन, साज सज्जा के कार्यों में हृदय से सहयोग दिया तदर्थ धन्यवाद देता हूं।

मेरी सभी पुस्तकों का पठित, विचारक, अन्वेषक वर्ग और साधारण पाठकों में बड़ा सम्मान हुआ है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक का भी वैसा ही समादर होगा।

वैद्यनाथ शास्त्री

बड़ौदा
८ अगस्त १९७९
श्रावण पूर्णिमा

वैदिक यज्ञदर्शन

ओ३म्



स्व० रामप्रकाश मेहरा

जन्म १९१२ मृत्यु २४ जुलाई १९७७

विषयानुप्रवेश

प्रस्तुत पुस्तक का नाम वैदिक-यज्ञदर्शन है। इसमें वैदिक यज्ञों का दर्शन वर्णित किया गया है—यह नाम से ही विदित हो जाता है। दर्शन यथार्थ ज्ञान है अतः यज्ञों का यथार्थ ज्ञान इस पुस्तक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। जहां यह समझना एक भारी भूल है कि वेदों का मुख्य विषय केवल कर्मकाण्ड और संस्कार आदि हैं वहां उससे भी अधिक महती भूल यह है कि वेदों को केवल आध्यात्मविषयक ही समझा जावे। तथा यज्ञ आदि को बाद की कल्पना वा कल्पित क्रियाकलाप ही समझा जावे। वेद जहां कर्मकाण्ड के उन्नायक हैं वहां ज्ञान-विज्ञान के आकर हैं। वेदों के यज्ञ और कर्मकाण्ड भी ज्ञान-विज्ञान से ओतप्रोत हैं। यह धारणा इस पुस्तक के अध्ययन से परिपुष्ट होगी।

मैंने जहां अनेक ग्रन्थ विविध विद्यावों सम्बन्धी भिन्न भिन्न विषयों को लेकर आर्यभाषा और आंग्लभाषा आदि में लिखे हैं वहां इस ग्रंथ को लिखने की मेरी इच्छा प्रबल हुई जब मैंने कर्मकाण्ड के वर्तमान बिगड़ते रूप को देखा। जो चाहता है वही और जैसा चाहता है मनमाना कर्मकाण्ड बना लेता है। यज्ञ की तो अनेकों विधियां लोगों ने अपनी बना रखी हैं। महर्षि की विधि को न समझने वालों ने भी उनके नाम पर अपनी विधियां चालू कर रखी हैं। संस्कारविधि का कोई भी संस्कार समझने की क्षमता हो या नहीं परन्तु संस्कार कराने का ठेका ले रखना और महा पुरोहित बन जाना। इन बातों को देखकर वास्तविकता को प्रकट करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गई। ग्रन्थ के विषय को सरलता से समझाने का प्रयत्न किया गया। परन्तु विषय को दृष्टि में पूरे सच्चे रूप में रखने के लिए कितना भी यत्न किया जावे कुछ न कुछ गुढ़ता तो रहती ही है। इसलिए कि यह एक दर्शन है, रहस्य है। इस तथ्य को यहां दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिए कि जिस वेदाङ्ग अर्थात् कल्पविज्ञान ने यज्ञादि को बताया है उसी ने दर्शन विद्या के आकर उपाङ्ग का भी उपस्थापन किया है। भारतीय छः दर्शन उपाङ्ग हैं। ये किस अङ्ग से संबद्ध उपाङ्ग है—यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसका समाधान आवश्यक है। महर्षि दयानन्द के विचार इस प्रश्न का समाधान करते हैं। अर्थात् दर्शनरूपी उपाङ्ग कल्प अङ्ग से सम्बद्ध है। कल्प अङ्ग में जहां गृह्य, श्रौत्र आदि कर्मों, यज्ञ और यज्ञाङ्गों का प्रतिपादन है वहां धर्मसूत्र वाले कल्पांश से दर्शन-विद्या का भी उद्भव होता है। गृह्यसूत्र गृह्यकर्म, श्रौतसूत्र श्रौतकर्म का प्रतिपादन करते हैं।

शुल्बसूत्र वैज्ञानिक तथ्यों का और गणित एवं रेखागणित का प्रतिपादन करते हैं। धर्मसूत्र दार्शनिक दृष्टि का पल्लवन करते हैं।

दर्शन-विद्या के मुख्य केन्द्र बिन्दु ईश्वर, जीव, जगत्, कर्म, कर्मफल, वर्णाश्रम-धर्म, इह लोक, परलोक, भोग और अपवर्ग तथा उसकी सिद्धि आदि है। इनमें किसको प्रमाणविद्या अर्थात् ज्ञानशास्त्र और किसको प्रमेय-विद्या अर्थात् सत्ताशास्त्र कहा जावे इसका भी वर्गीकरण किया जाता है। साथ ही नीति-मीमांसा क्या है—इस पर भी दर्शन ही विचार करता है। इसका वर्णन धर्मसूत्रों में बीज रूप से मिलता है, धर्म सूत्र ही स्मृतियों के भी आधार हैं। जिन ऋषियों के गृह्य, श्रौत और धर्मसूत्र आदि पाये जाते हैं बहुधा स्मृतियाँ भी उन्हीं की पाई जाती हैं।

वायुदूषण आदि की समस्या और यज्ञ

वर्तमान समय में जल और वायु के दूषण की समस्यायें सामने उपस्थित हैं। और साथ ही सबसे बड़ी समस्या बुद्धिदूषण की भी है। यज्ञ से इन सबका ही समाधान हो सकता है। यज्ञ एक ऐसा माध्यम है कि वायु और जल आदि के दूषणों का निवारण इससे हो सकता है। बुद्धिदूषण को भी यह दूर कर सकता है।

प्रश्न यह उठाया जाता है कि प्रतिदिन थोड़ा सा घी और सामग्री द्वारा किया जाने वाला यह यज्ञ वायुदूषण के महान् ओघ को कैसे दूर कर सकता है। प्रतिदिन फैक्टरियों का जितना धुवां वायु को दूषित करता है उसमें यह छोटी सी मात्रा का यज्ञधूम समुद्र में बिन्दु के बराबर अर्थात् न के समान होगा। परन्तु प्रश्न करने वाले यह नहीं जानते कि यज्ञ कितने बड़े बड़े होते हैं। यदि इन बड़े बड़े यज्ञों को स्थान-स्थान पर किया जावे तो यह यज्ञधूम इतना अधिक होगा कि उस दूषक वायु को मिटा सकेगा। फैक्टरियों आदि के द्वारा उत्पादित सहस्र मात्रा की दूषित वायु को यज्ञधूम की एक मात्रा शुद्ध कर सकती है।

इसके अतिरिक्त यह भी तो सोचना चाहिए कि संसार में मानव की आबादी कितनी है। यदि दो अरब मनुष्य सभी यह थोड़ा थोड़ा यज्ञ प्रतिदिन करें तो यह कितना बड़ा धूम समूह प्रतिदिन उत्पन्न होगा। यह तो इतना अधिक होगा कि इन प्रदूषणों को भी मिटावेगा और अपना प्रचुर अवशिष्ट प्रभाव आगे के दूषणों को भी दूर करने के लिए जमा रखेगा। वृक्ष, बल्ली, वनस्पति आदि को इतना प्रभावशाली बनावेगा कि बहुत सा वायुदूषण ये वृक्ष आदि ही चूस लेंगे।

बुद्धि के दूषण क्या हैं?

१—किसी निश्चय वा निर्णय का समय पर न होना

२—अच्छे बुरे का, कार्य अकार्य का, परिज्ञान न कर सकना।

३—ठीक समझ का न होना।

४—स्मृति का समय पर ठीक कार्य न करना।

५—व्रत का जीवन में अभाव होना।

६—अनुशासन का जीवन न होना। आदि।

यज्ञ एक ऐसा धर्मानुशासन है जो बुद्धि के इन सभी प्रदूषणों को दूर करने की क्षमता रखता है।

यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्ध कैसे

यज्ञ एक विचार पूर्वक कर्म है—यह तो आपत्ति करने वाला भी स्वीकार करेगा। मानव जिन कर्मों को करता है वे दो प्रकार के होते हैं। एक विचार-पूर्वक और दूसरा स्वतः। एक इच्छापूर्वक और दूसरा अनिच्छा-पूर्वक। श्वास आदि का लेना शरीर की रक्षा करने के लिए आवश्यक क्रियायें हैं। इनके सम्पादन में हमें इच्छा करने वा विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। ये हमारी इच्छा पर निर्भर भी नहीं। जो क्रियाएं अच्छा करने और बुरा करने से सम्बन्ध रखती हैं उनमें हमारी इच्छा और विचार का पूरा स्थान है। हम चाहे करें और चाहे न करें। हम अच्छा करें या बुरा करें। यज्ञ भी एक उत्तम और इच्छापूर्वक किया जाने वाला कर्म है। यह विचार-पूर्वक संपादित किया जाता है। जहां विचार है वहां ज्ञान और विज्ञान का अभाव हो यह सम्भव नहीं।

यज्ञों में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं उनमें उदात्त विचार पाए जाते हैं। समस्त वेद मन्त्रों से भी यज्ञ किया जा सकता है। सभी मन्त्रों को यदि देखा जावे तो उनमें ज्ञान-विज्ञान का वर्णन मिलेगा ही। इस विषय का इस ग्रन्थ में सम्बद्ध प्रकरण में प्रतिपादन किया गया है। उसे पढ़ने से इस विषय का पूरा परिज्ञान मिलेगा। यहां पर विषय के स्पष्टीकरण के लिए कुछ विचार दिए जाते हैं।

नीचे निम्नलिखित वाक्य जो वेदों से उद्धृत किए जाते हैं ध्यान देने योग्य हैं—

१. ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः (ऋ० १-६५-२)

२. दश च मे शतं च मे (अथर्व ५-१०-१०)

३. भिनद्वलस्य परिधीँरिव त्रितः (ऋ० १-५२-५)

४. ईशानकृतो धुनयो रिशादशो वातान् विद्युतस्तविषेभिरक्रत ।
(ऋ० १-६४-५)

५. (मित्रावरुणौ) धियं घृताची साधन्ता । (ऋ० १-२-७)

६. विश्पतिं सप्तपुत्रम् (ऋ० १-१६४-१)

इनका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है : —

१. विश्व ब्रह्माण्ड की समस्त दिव्य शक्ति शाश्वत सृष्टि-नियम का अनुगमन करती है ।

२. हमारे लिए दश संख्या और शत संख्या हो ।

३. विद्युत् मेघ को इस प्रकार छिन्न-भिन्न करती है जिस प्रकार त्रिकोण बतुलं की परिधि को काट देता है ।

४. मरुद्गण उत्तर पूर्व दिशा के कोण को बनाते हुए लहर को प्रकट करते हुए और मृत कणों को समाप्त करते हुए अपने कार्यकलाप से बायु और विद्युत् को उत्पन्न करते हैं ।

५. मित्र और वरुण तप्त किये गये और संयुक्त किए गये जल के उत्पन्न करने की क्रिया को संपन्न करते हैं ।

६. सूर्य सात प्रकार की किरणों वाला है ।

इन उपर्युक्त मंत्र खण्डों का अध्ययन यह स्पष्ट बताता है कि ये विज्ञान से गर्भित हैं । यदि इनमें प्रकट किये गये विचार विज्ञान नहीं तो और क्या कहे जा सकते हैं । कोई भी व्यक्ति इनको पढ़कर इसी परिणाम पर पहुंचेगा कि इनमें विज्ञान की शिक्षा दी गई है । यही स्थिति वेद के सभी मन्त्रों की है । उनमें किसी न किसी प्रकार का विज्ञान पाया जाता है ।

यज्ञों के प्रसंग में जो शान्तिकरण के मन्त्र पढ़े जाते हैं उनमें यजुर्वेद का निम्न मन्त्र संगृहीत है :—

शन्नो वातः पवतां शन्नस्तपतु सूर्यः ।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु ॥
यजुः ३६।८

इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है —

हमारे लिए कल्याणकारी वायु बहे, सूर्य हमारे लिए सुखद रूप में तपे, दिव्य शक्ति वाला मेघ गर्जता हुआ बरसे और हमारे लिए कल्याणकारी हो ।

यहाँ पर मन्त्र में बायु के बहने और सूर्य के तपने की बात कही गई है । इन दोनों का एक दूसरे से पूरा सम्बन्ध है । बिना इनके सहयोग के वृष्टि का

होना व मेघ का बनना हो ही नहीं सकता है । परन्तु मन्त्र में एक तथ्य और भी खोला गया है । वह यह है कि मेघ गर्जता हुआ बरसे, वर्षा हो परन्तु गरजते हुये मेघ से वर्षा हो । यदि मेघ का गर्जना और विद्युत् की चमकाहट आदि न हो तो रोग के कृमियों का विनाश न हो, भूमि और खाद आदि में उपजाऊ शक्ति नहीं आती है । विद्युत् के पतन से प्राणवायु तथा ओजोन अधिक मात्रा में उत्पन्न होकर वायुमण्डल में फैलता है । इस लिए मन्त्र में कहा गया कि बादल बरसे ही नहीं अपितु गरजता हुआ बरसे ।

यज्ञों और कर्मकाण्ड के प्रसंग में जो स्वस्तिवाचन किया जाता है उसमें सामवेद का निम्न मंत्र भी आता है । मंत्र इस प्रकार है :—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
निहोता सत्सि बर्हिषि ॥ साम० १।१

सामवेद उपासना-काण्ड है ! मन्त्र में उपासना की भावना है । परन्तु उपासना के साथ साम का अर्थ समन्वय भी है । सृष्टि में एक समन्वय पाया जाता है । अतः प्रसंग से इस मन्त्र में सृष्टि-रचना से सम्बन्ध रखने वाले एक दार्शनिक एवं वैज्ञानिक तथ्य पर भी प्रकाश डाला गया है । उसे भी आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता है । इस दृष्टि से भी इस मन्त्र का अर्थ होगा । दोनों ही अर्थ नीचे क्रमशः दिये जाते हैं ।

१. हे स्वयं प्रकाश परमेश्वर ! आप हमारे द्वारा प्रार्थित हुये हमारी आत्मा को अपने प्रकाश से प्रकाशित करने हेतु और समस्त उत्तम पदार्थों को प्रदान करने के लिए हमारे अन्दर प्रकाशित हूजिये । आप हमारे हृदय में सदा विराजमान हैं ।

२. यह अग्नि अच्छी प्रकार जाना गया भोग्य पदार्थों को देने के लिए तथा एक साथ लगे अपृथक् लोकों को पृथक् करने के लिए भली प्रकार से सर्वत्र व्याप्त होता है । यह यज्ञ का होता है और अन्तरिक्ष में व्यापक है ।

वैज्ञानिकी प्रज्ञा के धनी यज्ञ-व्याख्याकार शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिताओं ने इस रहस्य को समझा और उद्घाटित किया । वे इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि पूर्वावस्था में सूर्य और पृथिवी लोक एक दूसरे से पृथक् नहीं होते हैं । अग्नि उन्हें पृथक् करता है । अतः तैत्तिरीय शाखा का कथन है कि कि यह "अग्न आयाहि वीतये" जो कहा है, वह इन दोनों लोकों को पृथक् करने के लिए कहा गया है । यह तथ्य तैत्तिरीय शाखा ५।१।५ और शतपथ ब्राह्मण १।४।१।२२-२३ में प्रकट किया गया है ।

यही कारण है कि यज्ञ की व्याख्या करते हुए ब्राह्मण और शाखा ग्रन्थ इन वैज्ञानिक रहस्यों का भी उद्घाटन करते हैं। यज्ञ स्वयं भी एक वैज्ञानिक कर्म है। अतः उससे विज्ञान का सम्बन्ध है ही। यज्ञ में जो सामग्री जलाई जाती है उसको भी तो वैज्ञानिक दृष्टि से ही निर्धारित किया गया है। ग्रन्थ में प्रसंग से विस्तार के साथ यह स्पष्ट कर दिया गया है।

ऋत और यज्ञ

वेदों में ऋत पद का अनेक अर्थों में प्रयोग है। परन्तु सभी अर्थ किसी न किसी विशेष महत्व को लिए हुए हैं। ऋत का अति महत्वपूर्ण अर्थ सृष्टि का शाश्वत नियम है। इस नियम पर सृष्टि के पदार्थ कार्य कर रहे हैं। यह नियम अटूट है। इस नियम का प्रवर्तक होने से भगवान् को 'ऋतस्य गोपाः' अर्थात् शाश्वत नियम का पालक कहा जाता है। ऋत के अध्ययन से विविध विद्यायें प्रकाश में आती हैं। वेद ऋत का अध्ययन है और परमेश्वर-प्रदत्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान है।

ऋत पद यज्ञ के अर्थ में भी वेद और वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। जहां यज्ञ नाम उसका देवपूजा, संगतिकरण और दान के कारण है वहाँ ऋत उसका नाम इसलिए ज्ञात होता है कि वह नियमों, व्रतों, अनुशासन, सत्य, नीतिमत्ता के सिद्धान्तों और सृष्टि-नियमों के आधार पर आधारित है। ऋत पद के भाव को बताने के लिए शतपथ आदि ब्राह्मणों में निम्न वाक्य पाये जाते हैं :—

१—(यजुः १२।१०; ३८।२०) सत्यं वा ऋतम्। श० ७।३।१।२३ (यजुः १२।१४) ऋतमिति सत्यमित्येतत्। श० ६।७।३।११.

२—ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम्। ऐ० ४।२०

३—अग्निर्वा ऋतम्। तै० २।१।११।२

४—चक्षुर्वाऋतं तस्माद्यतरों विवदमानयोराह अहमनुष्ठ्या चक्षुपादर्शमिति तस्य श्रद्धधति। ऐ० २।४०

५—मनो वा ऋतम्। जै० उ० ३।३६।५

६—ब्रह्म वा ऋतम्। श० ४।१।४।१०

७—ओमित्येतदेवाक्षरमृतम्। जै० उ० ३।३६।५

यहां उन उपर्युक्त वाक्यों में सत्य, सूर्य, अग्नि, चक्षु, मन, ब्रह्म और 'ओम्' अक्षर को ऋत कहा गया है। यहां ऋत के जितने अर्थ बताये गये हैं सभी का यज्ञ से सम्बन्ध पाया जाता है। यज्ञ की प्रतिष्ठा सत्य पर है। सत्य-

ज्ञान, सत्यवाणी, सत्यकर्म, सत्यश्रद्धा, सत्यनियम और सत्यनिश्चय के बिना कोई यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता है। यह सत्य ही मूल है जिससे यज्ञ को पल्लवित किया जाता है।

अग्नि और सूर्य का यज्ञ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अग्नि के बिना यज्ञ होता नहीं और सूर्य किरणें ही अग्नि के द्वारा यज्ञ में हुत पदार्थों को प्राप्त कर आकाश में सुरक्षित करती और रासायनिक परिवर्तन से विविध कार्यों का सम्पादन करती हैं। अग्नितत्व वाहक है। इससे बढ़कर यज्ञ का और कोई उत्तम माध्यम नहीं है। यह हवि को जलाकर उसके सूक्ष्म तत्त्वांश को सभी देवों तक पहुंचा देता है।

चक्षु के कार्य की उपादेयता सुतराम् सिद्ध है। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि चक्षु की प्रधानता ज्ञान के क्षेत्र में देखी जाती है। जब किसी वस्तु पर दो व्यक्ति विवाद करते हैं और यह कह दिया जाता है कि यह चक्षु से देखी बात है तब विवाद का स्थान नहीं रह जाता है। चक्षु से तात्पर्य समस्त प्रत्यक्ष की साधन इन्द्रियों से है। चक्षु यहाँ पर उपलक्षण है। प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता सिद्ध है। अतः इसी आधार पर प्रमाणमीमांसा वा ज्ञानमीमांसा का उद्भव होता है।

यज्ञ मन का विचारपूर्वक कार्य है। मन की पवित्रता के लिए भी यह सम्पन्न किया जाता है। मन के ठीक रहने पर ही यह यज्ञ रूपी कर्म सुचारु रूप से चलता है। मन में विकार हो और वह कार्य पर जमे नहीं तो यज्ञ में विघ्न उत्पन्न होगा। वाणी और मन के मिथुन से यह यज्ञ चलता है।

ब्रह्म जहाँ भगवान् का नाम है वहाँ वेदज्ञान को भी ब्रह्म कहा जाता है। ओम् परमेश्वर का वाचक है और यज्ञ में वेदमन्त्र और परमेश्वर देवता है। ये यज्ञ के प्रधान तत्व हैं। इनके ज्ञान के लिए और इनके उद्देश्य को लेकर यज्ञ के रूप की समृद्धि होती है।

ब्राह्मणग्रन्थ जो यज्ञ के आकर ग्रन्थ हैं यज्ञ का प्रतिपादन करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। जो भी मंत्र वे अपने व्याख्यान के प्रसंग में लेते हैं उसके सभी पहलुवों पर प्रकाश डालते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ निम्न व्यवस्था का अनुवर्तन करते हैं :—

१. मन्त्र का अर्थ।

२. यौगिक निरुक्ति जो वेद के शब्दों पर की जाती है।

३. यज्ञ के रूप की समृद्धि करना और निहित क्रियावों की वैज्ञानिकी व्याख्या करना।

४. वेद के शब्दों का सृष्टिगत पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित करना।

५. यज्ञ पद के व्यापक अर्थ को लेकर यज्ञों की प्रक्रिया का संगमन करना तथा मन्त्रार्थ को उसी दृष्टि से खोलना।

६. वेद छन्द हैं, देवतामय हैं, मंत्र हैं, ज्ञान के आकर हैं—इन तथ्यों की पुष्टि करना।

जब यज्ञ किये जाते हैं तब इन बातों का पूरा ध्यान रखा जाता है। इसी लिए मन्त्रों का क्रिया में विनियोग करने में इन सभी बातों को विचार कर विनियोग निर्धारित किये जाते हैं। विनियोग निर्धारण करने वाले शास्त्र स्वयं एक विद्याग्रन्थ हैं और विज्ञान हैं। प्रसंग से इनका भी ग्रन्थ में वर्णन किया गया है।

यज्ञ के विज्ञान को नीचे लिखा मन्त्र भली प्रकार खोलता है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥
ऋ० ४।५८।३

अर्थ—चारों वेद जिसके आश्रय हैं, प्रातः, माध्यन्दिन और सायं जिसके तीन सवन है, हविर्धान और प्रवर्ग्य जिसके दो शिर स्थानीय हैं, गायत्री आदि सात छन्द जिसके हस्त के समान हैं ऐसा यह समस्त कामनाओं का पूरक यज्ञ मंत्र, ब्राह्मण और कल्प विज्ञानों से तीन प्रकार से बंधा हुआ मनुष्यों में स्थिति पाये हुये है।

यहाँ पर यज्ञ-सम्बन्धी तीन विज्ञान वर्णित हैं। वे हैं मंत्र, कल्प और ब्राह्मण। चारों वेदों के मन्त्र ऋग्, यजुः और साम रूप से तीन प्रकार की संज्ञा यज्ञ परिभाषा में धारण करते हैं। इन्हीं को त्रयी विद्या भी कहा जाता है।

यहाँ पर विशेष स्मरण रखने योग्य है कि वेद चार हैं तीन नहीं। परन्तु चारों वेदों के मन्त्रों का प्रकार तीन संज्ञा के अन्दर व्यक्त किया गया है। ये संज्ञायें यज्ञ की परिभाषा के अनुसार हैं। मीमांसा आदि में इसका वर्णन किया गया है।

इन तीन संज्ञा वाले मंत्रों का मन्त्रशब्द से बोध आता है। कभी कभी अन्य शास्त्रों के वचन भी कर्मों में विनियुक्त किये पाये जाते हैं परन्तु वे इनके आधार पर और यज्ञ की धारणावों को सिद्ध करने वाले होते हैं।

कल्प वह विज्ञान है जिसके द्वारा मन्त्रों का कर्मकाण्ड में सुनिश्चित विनियोग किया जाता है। पूर्व ऋत और यज्ञ उपशीर्षक में विनियोग के लिए जिन बातों को आवश्यक बताया गया है—यह कल्प विज्ञान उनका पूरा-पूरा विचार करके विनियोग का निर्धारण करता है।

ब्राह्मण पद से यहां पर ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं बल्कि उनमें वर्णित मुख्य विज्ञान को लेना चाहिए। ब्राह्मण क्या विज्ञान है ? इसका वर्णन पूर्व कर दिया गया है। जो इसी प्रकरण में पृष्ट १६ पर अंकित किया गया है। इसके द्वारा यज्ञ के रूप की समृद्धि और कर्म की सम्पन्नता होती है। ऋत और यज्ञ की व्याख्या से यज्ञ के इस समृद्ध रूप को बतलाना ही यहाँ पर अभिप्रेत था।

यज्ञ में पशु वा मनुष्य आदि को डालने का कोई विधान नहीं है :

वैदिक यज्ञों में पशु के दान का विधान तो है परन्तु पशुमार कर डालने का कोई विधान नहीं है। यजुर्वेद के २४ वें अध्याय मे बहुत से जलचर, स्थलचर और नभश्चर पशुओं के नामों का परिगणम किया गया है। साथ ही 'आलभते' क्रिया का प्रयोग किया गया है। उवट और महीधर आदि भाष्यकारों के अनुसार यह आश्वमेधिक पशुओं के वर्णन का अध्याय है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या ये सभी पशु यज्ञ में डाले जावें, यह अभिप्रेत है। क्योंकि यहाँ पर तो सभी प्रकार के पशु पक्षी, शूकर, मुर्गे आदि का वर्णन है। उल्लू का भी वर्णन है। क्या ये सभी पशु यज्ञ मे डाले जाने के लिए ही हैं। महीधर और उवट का आशय वाममार्ग के सिद्धान्तों से ओत प्रोत है परन्तु स्पष्ट रूप से मारने वा यज्ञाग्नि में इनके डालने की बात वे भी नहीं कहते हैं।

'आलभते' क्रिया का अर्थ 'मारना' लिया जाता है। यह साधारण अर्थ है। परन्तु इस साधारण अर्थ से विशेषार्थ का सदा के लिए अपलाप हो जावे और वह लिया ही नहीं जावे ऐसा विधान कहीं पर नही है। हन् धातु का अर्थ हिंसा भी है और गति भी है। सामान्य अर्थ हिंसा और विशेषार्थ गति है। पुरुष स्त्री के शरीर का एक अङ्ग 'जघन' कहा जाता है 'जंघा' भी नाम है ही। यह हन् धातु से बना है परन्तु यहाँ पर हिंसा अर्थ नहीं, गति अर्थ को ही लेकर शब्द का व्याकरण किया जाता है।

इसी प्रकार 'आलभते' का जहां मारना अर्थ होता है वहाँ उसका आ+लभते' अर्थात् भली प्रकार प्राप्त करना अर्थ भी होता है। भली प्रकार से प्राप्त करना अर्थात् इनका ज्ञान करना अभिप्रेत है। 'आलभते' क्रिया का अर्थ उवट और महीधर ने भी 'नियुनक्ति' किया है। 'आलभते' अर्थ यदि

मारना ही है तो फिर 'नियुनक्ति' अर्थात् नियुक्त करना किस प्रकार से हो गया। इससे यह तो सिद्ध है ही कि 'आलभते' का अर्थ मारना मात्र ही नहीं है। उसके अन्यार्थ भी हैं।

'आलभते' का अर्थ भली प्रकार प्राप्त करना अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना है—इस सम्बन्ध में मैं विचार करने से पूर्व आचार्य यास्क का एक सन्दर्भ उद्धृत करके यह दिखाना चाहता हूं कि यहां पशुओं का ज्ञान प्राप्त करना ही अभिप्रेत है। यास्क कहते हैं :—

अधोरामः सावित्र इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते।

सः कस्मात् (गुण) सामान्यात् ? इति
अधस्ताद्वेलायाम् तमो भवति एतस्मात्सामान्यात्
अधस्तात्तमोऽधस्तात्कृष्णः ॥

अर्थात् पशुपक्षी भी काल आदि का ज्ञान कराते हैं। इसलिए वे सूर्य वा अन्य अग्नि आदि पदार्थों के पशु कहे गये हैं। उनके निमित्त मारे जाने वा यज्ञाग्नि में डाले जाने के लिए नहीं।

यास्क के वाक्य का अर्थ यह है कि अधोराम नामक पक्षी सविता अर्थात् सूर्य का है। ऐसा ही पशु समाम्नाय से ज्ञात होता है। किस समानता से यह सविता का पशु है ? इस समता से कि समय पर नीचे की तरफ अन्धकार होता है और ऊपर की तरफ प्रकाश होता है। यह पशु भी नीचे के भाग से काला है। अतः यही समता है।

पुनः यास्क 'कृकवाकु' पक्षी को भी सावित्र अर्थात् सूर्यसम्बन्धी पशु कहता है। यह किस समानता से ? इस का उत्तर वह देता है कि चूंकि यह पक्षी काल का ज्ञान कराता है अतः यह सविता का पशु है।

इस प्रकार से यास्क ने इस रहस्य को खोल दिया कि यजुर्वेद के २३ वें २४वें अध्याय में जिन पशुओं आदि को जिन देवताओं के सम्बन्धी गुणों वाला कहा गया है उनसे उसी प्रकार का परिज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

अब 'आलभेत' शब्द पर विचार करना चाहिए। यास्क के उद्धरणों से यह सिद्ध हो गया कि इस पशु समाम्नाय में कहे गए पशुवों को जिन पदार्थों से सम्बद्ध कहा गया है उनके गुणों आदि की किसी समानता को लेकर ही ऐसा कहा गया है। तथा उवट और महीधर के भाष्यों के आधार पर यह सिद्ध है कि 'आलभते' क्रिया का अर्थ केवल मारना नहीं है। वे स्वयं 'नियुक्त करना' अर्थ

भी करते हैं। 'आलभते' पद को सम्यक् तौर पर समझने के लिए नीचे लिखे उद्धरणों पर विचार करना चाहिए :—

अथास्य दक्षिणांसमधि हृदयमालभते। पारस्कर-गृ० २।३।१
वरो वध्वा दक्षिणांसमधि हृदयमालभते। पारस्कर १।१।८

अर्थ—आचार्य गुरुकुल में प्रवेश के समय शिष्य के दाहिने कन्धे के साथ हृदय का स्पर्श करता है।

वर वधू के दाहिने कन्धे के साथ हृदय का स्पर्श करता है। यहाँ 'आलभते' क्रिया का अर्थ 'स्पर्श करना' है।

इसी प्रकार 'आलंभन' संज्ञपन, अवदान और विशसन पदों के अर्थों के विषय में भी समझना चाहिए। इनका भी अर्थ सर्वत्र 'मारना मात्र' नहीं हुआ करता है। इनके अन्यार्थ भी हैं। कुछ प्रमाण नीचे दिए जाते हैं :—

१—स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च। मनु० २।१०
२—संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ अथर्व ६।१०।९५

अर्थ— १—ब्रह्मचारी को विद्यार्थी जीवन में किसी स्त्री का दर्शन स्पर्शन आदि नहीं करना चाहिए।

२—हे मनुष्य ! तुम्हारा मन अच्छे ज्ञान से पूरित हो, तुम्हारा हृदय ज्ञान के प्रेम से भरपूर हो, मैं तुम्हें ऐश्वर्य को देने वाला जो परिश्रम है उससे भली प्रकार ज्ञान कराता हूं। यहाँ पर इन प्रमाणों में 'आलंभन' का अर्थ स्पर्श और संज्ञपन का अर्थ जानना और जताना है। इसी प्रकार अवदान आदि शब्दों के अर्थ वही हैं जो उनके धात्वर्थ से संगत होते हैं। 'अवदान' का अर्थ देना है और 'विशसन' का अर्थ शिक्षित करना है।

कुछ लोग कहते हैं कि ऋग्वेद १०।८५।१३ मंत्र में गाय के मारने का स्पष्ट विधान है। परन्तु वे 'गौ' का अर्थ केवल गाय और 'हन्' धातु का अर्थ केवल मारना समझते हैं। अन्य अर्थों को हठवादिता और हठधर्मी के आवेश में भूल जाते हैं।

यहां पर उक्त मंत्र और उसके अर्थ को दिया जाता है। इससे भ्रान्ति दूर होगी।

सूर्यायाः वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥
ऋ. १०।८५।१३

सूर्य का प्रकाश वा शक्ति जो कि प्रातः और सायं की उषाओं को उत्पन्न करती है, सूर्य में अपना मूल पाती है। मघा नक्षत्र अर्थात् माघ मास में गौ अर्थात् सूर्य की किरणें मारी जाती है अर्थात् वे तिरछी पड़ती है। यहाँ पर हन् धातु का जहां मारा जाना अर्थ है वहाँ उसमें गत्यर्थ भी मिला हुआ है। किरणें तिरछी फैलती हैं—यह आशय है। यहाँ 'हन्यन्ते' क्रिया तिरछे होने (Refraction) को प्रकट करती है। यहाँ 'गावः' का अर्थ सूर्य की किरणें हैं। गाय के अर्थ का यहां पर कोई प्रसंग नहीं हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि गायों का मारा जाना वेदविहित है और प्राचीन वैदिक आर्य गोमांस खाते थे। यह धारणा मूर्खतापूर्ण है और वेद के अर्थ को वेद की भाषा के माध्यम से न समझने के कारण बहुत से विदेशीय और एतद्देशीय विद्वानों ने इसका उद्भाव, विस्तार और प्रचार किया है। वेद में गाय और बैल अर्थात् संपूर्ण गोवंश के व्यक्तियों में से किसी के भी मारने वा खाने का विधान नहीं है।

वेद में गाय को अघ्न्या कहा गया है। अघ्न्या का अर्थ अहन्तव्या है अर्थात् जो कभी मारी जाने वाली नहीं है। इसी प्रकार बैल को अथर्ववेद (९-४-१७) में 'अघ्न्य' कहा गया है। अघ्न्या पद स्त्रीलिङ्ग है अतः गाय का वाचक है और 'अघ्न्य' पद पुलिंग होने से बैल सांड बछड़े आदि का वाचक है। ये सभी वेद की दृष्टि में अहन्तव्य हैं।

प्राध्यापक धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री ने जो स्वयं भी वैयाकरण नहीं हैं 'अघ्न्या' पद के व्याकरण को लेकर एक नयी अटकल बाजी लगाई है। वे शायद अटकल को तर्कशिरोमणि होने से गंभीर तर्क की उपमा दें परन्तु यह तर्क के मूल्य से सर्वथा ही विहीन है। न व्याकरण का आधार ठीक है न तर्क ही।

वे 'ब्लिट्ज' पत्र में एक लेख में (जिसका उत्तर मैंने अपनी पुस्तक 'जेम्स आफ वैदिक विजडम' में अंग्रेजी में दिया है) लिखते हैं कि "पहले ऋग्वैदिक काल में आर्य लोग गोमांस को विशेष पसंद करते थे। परन्तु बाद में जब उन्होंने गाय के आर्थिक पहलू का मूल्य समझा तो उसके मारने पर रोक लगा दी। तथा उन्होंने उसे अघ्न्या कहना प्रारम्भ कर दिया। क्योंकि 'अघ्न्या' पद ही अपनी रचना से प्रकट करता है कि पहले गाय हन्तव्य थी बाद में अघ्न्या वा अहन्तव्य हुई।"

श्री शास्त्री जी की यह बात गलत है कि ऋग्वेद के समय में आर्य लोग गोमांस खाते थे। प्रथम तो ऋग्वेद का कोई न काल है जैसा वे मानते हैं और

न उसका कर्त्ता कोई मनुष्य है। चारों वेद एक ही समय सृष्टि के प्रारम्भ में मानव पर भगवान् की प्रेरणा से आये। जब से वेद में गाय का वर्णन है तभी से उसके आर्थिक मूल्य का अङ्कुर भी है।

दूसरी व्याकरण सम्बन्धी बात तो बड़ी ही हास्यास्पद है। अघ्न्या पद में 'अ' नहीं अर्थ में 'घ्न्या' मारने के अर्थ में है। अतः 'पहले मारने का विधान होगा तब तो निषेध किया गया। क्योंकि प्राप्ति होने पर ही निषेध होता है। परन्तु शास्त्री जी के इस आधार को माना जावे तो वेदों में भगवान् को 'अकाय अनन्त और अमृतः कहा गया है। यहां भी फिर इनका तर्क लागू किया जाए तो भगवान् को पहले शरीर होता रहा होगा, उसका अन्त भी होता रहा होगा और वह मरता भी होगा तब उसे बाद में अकाय, अनन्त और अमृत कहा गया होगा। यह ऐसे लालबुझक्कड़पने की बात है जो उनके अतिरिक्त और कोई समझदार व्यक्ति कर नहीं सकता है।

वेद में गाय के मारने का सर्वथा निषेध है और जो गाय को मारता है उसके लिए दण्ड भी बता दिया गया है। नीचे कुछ प्रमाण उनके अर्थों के साथ दिए जाते हैं :—

१—मा गामनागामदितिं वधिष्ट। ऋ० १०।१०१।१५

२—विषं गां यातुधाना भरन्तामावृश्चन्ताम्।
अदितये दुरेवाः परैणान्देव देवः सविता ददातु॥

अथर्व० ८।३।१६

३—अन्तकाय गोघातम्। यजु : ३

४—यः पौरुषेण क्रविषा समंक्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्यायाः भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥

ऋ० १०।८७।१६

५—यदि नो गां हंसि यदि अश्वं यदि पूरुषम्। तंत्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥

अथर्व० १।१।७४

भावार्थ :—

१—गाय निरपराध पशु है उसे नहीं मारना चाहिये।

२—जो लोग गाय को विष आदि देकर मारते हैं उन्हें राजा देश से निकाल दे।

३—गाय मारने वाले को अन्तक अर्थात् मृत्यु के देव को दे देना चाहिए।

४—जो मनुष्य के मांस में भाग लेता है, जो घोड़े के मांस का भागी है और जो गाय के दूध को हर लेता है वह राक्षस है और हे राजन् ! तू उसके सिर को काट दे ।

५—हे मनुष्य ! यदि तुम हमारे लिए गाय को मारते हो, यदि घोड़े को और यदि मनुष्य को तो तुम्हें सीसे की गोली से मारूंगा जिससे तू फिर ऐसा पाप न कर सके ।

इन उपर्युक्त प्रमाणों में जहां गाय के मारने का निषेध है वहां मारने वाले को सख्त दण्ड का भी विधान किया गया है । इसके अतिरिक्त वेद में पशु के मांस के खाने का कोई विधान नहीं है । केवल उसके दुग्ध पीने का ही विधान है ।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां···कवयो य इन्वथ । अथर्व० ४।२७।३

पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् ।

अथर्व० १९।३१।५

इन उपर्युक्त मंत्रों में ओषधी का रस और पशु का केवल दूध ही खाद्य माना गया है । मांस नहीं ।

ऋग्वेद ८।४३।११ में क्रमशः उक्षन्नाय' और 'वसान्नाय' पद पड़े हैं । इन पर लोग आपत्ति उठाते हैं । परन्तु इनमें भी कोई ऐसी बात नहीं है । इन दोनों पदों का अर्थ क्रमशः घृतसिक्त अन्न और घृत में पकाया हुआ अन्न है । ये दोनों प्रकार के अन्न खाये पिये जाते हैं । न तो उक्षा किसी प्रकार का अन्न है और न वसा ही अन्न है । अतः यहां पर विशेषार्थ को मानकर अर्थ करना चाहिए ।

डूबते को तिनके का सहारा—इस उक्ति के अनुसार कुछ लोग यह कहते है कि वेद में अतिथि सत्कार में गोमांस परसने का विधान है । परन्तु ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करने में वे समर्थ नहीं । श्री राजा राजेन्द्रलाल मित्तल, आप्टे, वैदिक एज तथा अन्य पुस्तकों का आश्रय लेकर वे इस प्रकार की बात करते हैं । परन्तु न इन उद्धृतजनों को ही और न उनका आश्रय लेने वालों को ही वेद का कोई परिज्ञान है । एक दूसरे के पीछे चलते हुये अपनी भ्रांतियों को सिद्धान्त बनाकर जनमानस को दूषित करते रहते हैं । इनका प्रधान अस्त्र आचार्य पाणिनि का एक सूत्र (दासगोघ्नौ संप्रदाने० अ० ३।४।७३) है । ये इस सूत्र का अर्थ तो समझते नहीं केवल 'गोघ्न' पद को लेकर अपनी कल्पना खड़ी करते हैं । ये कहते हैं कि पाणिनि के अनुसार 'गोघ्न'

वह है जिसके लिए गौ अर्थात् गाय मारी जावे । गौ र्हन्यते अस्मै इति गोघ्नः यद्यपि इस सूत्र में आये 'गोघ्न' पद का इस प्रकार भी व्याख्यान किया जा सकता है । १—गाय दी जावे जिसके लिए वह गोघ्न है क्योंकि 'हन्' धातु का अर्थ गति है और गति के ज्ञान, गमन, प्राप्ति और मोक्ष अर्थ हैं । २—'गौ' अर्थात् वाणी दी जाती है जिसके लिए उसका नाम गोघ्न है ।

परन्तु हम यहां पर गोघ्न अतिथि है इसी पक्ष का सर्वथा निराकरण कर देना आवश्यक समझते हैं । प्रश्न यहां पर यह होता है कि पाणिनि के सूत्र में तो 'गोघ्न' शब्द है । इसका अर्थ अतिथि है—यह कहां से आया । पाणिनि ने तो गोघ्न को अतिथि अपने सूत्रों में बताया नहीं है । फिर यह अतिथि अर्थ कहां से आया । कहना पड़ेगा कि इस सूत्र पर सिद्धान्त कौमुदी आदि के रचयिताओं ने अपने ग्रन्थ में 'गोघ्न' को अतिथि माना है । यह उनकी गलती है । 'गोघ्न' का अर्थ अतिथि है—यह पाणिनि को कैसे मन्तव्य बना दिया । पाणिनि का आशय ब्रह्मचारी भी हो सकता है जिसे वाणी दी जाती है आचार्य के द्वारा । जिसको गाय दी जावे ऐसे राजा वा वर वा ब्राह्मण आदि को भी गोघ्न कहा जा सकता है । पाणिनि का आशय हन् धातु के प्रयोग से मारने मात्र का है यह और जिसके लिए गौ मारी जावे वह अतिथि है, ये दोनों बातें किस प्रकार और किस आधार पर मान ली गईं । कौन सा जानने का सन्दर्भ मिला कि जिससे पाणिनि यही मानते हैं—ऐसा स्पष्ट हो गया ?

यहां पर 'गोघ्न' पद का अर्थ चाण्डाल वा दुष्ट राक्षस जिसके लिए 'गौ' मारी जाती है—यह क्यों न माना जावे ?

गोघ्न पद पर विचार

यहां पर 'गोघ्न' पद का स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है । इससे पूर्व की पंक्तियों में इसके अनेक अर्थ दे दिए गए है और यह भी बता दिया गया है कि 'हन्' धातु को हिंसार्थक मानकर 'गोघ्न' पद का अतिथि अर्थ पाणिनि को अभिप्रेत हो—ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है ।

'गोघ्न' पद का व्याकरण दो प्रकार से किया जा सकता है और पाणिनि व्याकरण से दोनों ही प्रकार का बनेगा । वे दोनों तरीके इस प्रकार है :—

१. गां हन्ति इति गोघ्नः अर्थात् जो गाय को मारता है उसे 'गोघ्न' कहा जाता है ।

२. गौर्हन्यते ऽस्मै इति गोघ्नः अर्थात् गाय इसके लिए मारी जाती है अतः यह गोघ्न है ।

इस प्रकार गोघ्न के दो अर्थ हुये—गाय को मारने वाला और गाय जिसके लिए मारी जाती है। ऋग्वेद १।११४।१० में 'गोघ्न' पद इस प्रथम अर्थ में अर्थात् गाय को मारने वाले के अर्थ में प्रयुक्त है। मंत्र निम्न प्रकार हैं :—

आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु।
मृडा च नो अधि च ब्रूहि देवाधा नः शर्म यच्छ द्विबर्हा ॥
ऋ० १।११४।१०

अर्थ—हे शत्रुवों के नाश करने हारे राजन्। हमसे अपने उस क्रोध को दूर रखें जिससे आप गाय और मनुष्य को मारने वाले को मारते हैं। हमें सुखी करें, हमारी रक्षा करें और परलोक को सुखमय करें।

यहां पर गाय को मारने वाले को दण्डार्ह कहा गया है। दण्ड भी थोड़ा वा छोटा नहीं। मार देने तक दण्ड है परन्तु किसके लिए? उसके लिए जो गाय का प्रत्यक्षतः मारने वाला है। क्योंकि वह गाय को स्वयं मारता है। और मारने रूप क्रिया वा अपराध का वह स्वयं ही कर्त्ता है। मंत्र से यह तो सिद्ध है कि गाय का स्वयं मारने वाला दण्डनीय है परन्तु जिसके लिए गाय मारी जाती है वह अपराधी है वा नहीं।

पाणिनि ने "दासगोघ्नौ संप्रदाने" सूत्र लिख कर और गोघ्न पद को कर्त्ता अर्थ के अतिरिक्त संप्रदान अर्थ में बनाकर इसका समाधान कर दिया। पाणिनि यह कहना चाहते हैं कि जो गाय को मारता है वह तो गोघ्न है ही। परन्तु जिसके लिए गाय मारी जाती है वह भी गोघ्न है। यहां पर गाय मारने वाला तो गोघ्न है ही, गाय जिसके लिए मारी जाती है वह भी गोघ्न है। यह 'गोघ्न' अतिथि नहीं, चाण्डाल, पापी, राक्षस है। अतिथि, वर, राजा, ब्राह्मण आदि अर्थ तो इस गोघ्न पद का तब होगा जब 'हन्' धातु का अर्थ गति होगा।

एक बात और भी सोचने की है। हाथ में जो हाथ की रक्षार्थ दस्ताना धारण किया जाता है वह हस्तघ्न कहा जाता है। क्या यहां पर भी हन् धातु का मारना अर्थ लेकर संगति बैठाई जा सकेगी? कभी नहीं।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी (३।३।८५) 'उपघ्न आश्रये' सूत्र से 'उपघ्न' पद सिद्ध किया है जिसका अर्थ रक्षा वा पहुंच का स्थान। यहां 'हन्' को बिना गत्यर्थक माने यह 'उपघ्न' पद आश्रय अर्थ में बनाया ही नहीं जा सकेगा।

इस प्रकार से पशु, पक्षी, पुरुष आदि को यज्ञ में डालने का कोई भी विधान वेद में नहीं है। लोगों ने अपनी अपनी कल्पनाएं बना रखी हैं जिनका शास्त्र

से कोई सम्बन्ध नहीं। इस पुस्तक में पुरोडाश आदि के सन्दर्भ में अधिक स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

जो नाम पशु, पक्षी आदि के पाये जाते हैं उन्हीं नामों की ओषधियां आदि और अन्न आदि पदार्थ भी पाये जाते हैं। उन सबका जहां पर जैसा सन्दर्भ हो वैसा ही अर्थ लेकर चलना चाहिए।

विश्वकर्मा का सर्वमेध क्या है ?

इस विषय पर विचार करने के प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि यह 'सर्वमेध' क्या है। वैदिक कोष के अनुसार 'मेध' यज्ञ का नाम है। यास्क निघण्टु ३।३।१२ में ऐसा लिखते हैं।

सर्व पद का अर्थ करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न वाक्य पाये जाते हैं :—

यद्वै विश्वं तत्सर्वम्। श० ३।१।२।११

सर्वं वै तद्यत्सहस्रम्। कौ० ११।७; २५।१४

सर्वं वै सहस्रम्। श० ४।६।१।१५

प्रजापतिरेव सर्वम्। कौ० ६।१५

विश्व वा ब्रह्माण्ड जो अपने समक्ष उपस्थित है उसे वैदिक शब्दावली में सहस्र और सर्व के नाम से भी पुकारा जाता है। प्रजापति परमेश्वर भी सर्व है। अतः सर्वमेध वह यज्ञ है। जो प्रजापति=परमेश्वद के द्वारा किया है और वह सर्व अर्थात् विश्व की रचना और संहार से सम्बन्ध रखता है। इस लिये यह सर्वमेध कहा जाता है।

यह सर्वमेध किसके द्वारा किया जा रहा है? इस पर निरुक्तशास्त्र के प्रणेता यास्क ने लिखा है कि —

तत्रेतिहासमाचक्षते। विश्वकर्मा ह भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुह्वाञ्चकार स आत्मानमपि अन्ततो जुह्वाञ्चकार।

अर्थात्—इस विषय में आत्मविद् एक नित्य इतिहास की कल्पना करते हैं। वह यह कि भुवन में व्यापक वा भुवन के पालक विश्वकर्मा=विश्व के बनाने और प्रलय करने वाले परमेश्वर ने सर्वमेध=अर्थात् विश्व के संहार काल में सब भूतों को समाप्त कर दिया और अन्त में आत्मा अर्थात् अपने सामर्थ्यभूत प्रकृत्यात्मक सूक्ष्म शरीरों और नित्य आत्माओं को भी प्रलय की गोद में रख दिया। अर्थात् जीव भी जिनके भोग बाकी हैं वे अपने कर्मों सहित प्रलय काल में प्रकृति में विद्यमान रहते हैं।

यहां पर इतिहास की कल्पना करते हुए ",जुह्वाञ्चकार" क्रिया का प्रयोग किया गया है। एतत्सम्बन्धी मंत्र में भी 'जहवत्' क्रिया प्रयुक्त हुई है। यह दोनों ही क्रियाएँ 'हु' धातु के रूप हैं। 'हु' के दो अर्थ हैं दान और अदन। परमेश्वर जीवों के लिए संसार की रचना कर उन्हें विश्व को देता है। इसलिए यह उसका दान है। वही प्रलयकाल में समस्त विश्व का अदन कर जाता है अर्थात् खा जाता है। अथवा कारणरूप में ग्रहण कर लेता है। अदन पद का अर्थ भक्षण और ग्रहण दोनों हैं। इस प्रकार 'जुह्वाञ्चकार' वा 'जुह्वत्' क्रिया की सार्थकता सिद्ध है। परमेश्वर के द्वारा सृष्टि करने की इच्छा वा ईक्षण को 'चिकीर्षा' कहा जाता है। हरण करने अर्थात् प्रलय करने की इच्छा को 'जिहीर्षा' कहा जाता है। यही जगत् की रचना और प्रलय विश्कर्मा का सर्वमेध है।

विश्वकर्मा पद के निम्नलिखित अर्थ पाये जाते हैं :—

वाग् वै विश्वकर्मा। श० ८।१।२।९
प्रजापति विश्वकर्मा। श० ७।४।२।५
सम्वत्सरो विश्वकर्मा। ऐ० ४।२२
असौ वै विश्कर्मा यो ऽसौ (सूर्यः) तपति।
कौषी० ५।५; गो० उ० १।२३
असौ (द्यौः) विश्वकर्मा। तै० ३।२।३।७
विश्वकर्मायमग्निः। श० ९।२।२।२
अयं वै वायुर्विश्वकर्मा। श० ८।१।१।७

इन उपर्युक्त उद्धरणों में वाक्, प्रजापति, सम्वत्सर, सूर्य, अग्नि और वायु को विश्वकर्मा कहा गया है। ये सभी जगत् के लिए आवश्यक हैं अतः सर्वमेध इनसे सम्बद्ध है।

यह इतिहास कल्पित नित्य आख्यान है जो विषय को समझाने के लिए गढ़ा जाता है। यह व्यक्ति-विशेष आदि का इतिहास नहीं। वेद में अनित्य इतिहास जो व्यक्ति-विशेषों से सम्बद्ध होते हैं, नहीं है। इस विषय का विवेचन मैंने अपनी पुस्तक वैदिक-इतिहास-विमर्श में कर दिया है। विस्तार से वहां पर देखना चाहिए। इस प्रकार यह विश्वकर्मा=परमेश्वर की जगत् रचना का यज्ञ बताया गया। यही सर्वमेध है।

पुरुषमेध क्या है ?

वेद में पुरुष को यज्ञ में डालने का कहीं पर कोई विधान नहीं है। सोलह संस्कारों में अन्त्येष्टि संस्कार अन्तिम माना जाता है। यह संस्कार मृत शरीर

का होता है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से इसी का दूसरा नाम नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग और पुरुषयाग है। इसके अतिरिक्त कर्मकाण्ड की दृष्टि से और कोई पुरुषमेध नहीं है।

वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि को लेकर पुरुष और पुरुषमेध की कल्पना का बड़ा ही प्रांजल रूप वेदों में पाया जाता है। शत-पथ आदि ब्राह्मणों में निम्न वर्णन इस विषय में मिलते हैं :—

१—इमे वै लोकाः पुरुषमेधः श० १३।६।१।९
२—सर्वं पुरुषमेधः। श० १३।६।१।६
३—सः (प्रजपतिः) पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराड् इति नामाधत्त। गो० पू० ५।८

इन उपर्युक्त सन्दर्भों का भाव यह है कि ये समस्त लोक ही पुरुषमेध हैं, सर्व=विश्व ही पुरुषमेध है और प्रजापति परमेश्वर ने पुरुषमेध के द्वारा विराड् (समष्टि जगत्) के नाम को धारण किया।

इससे प्रकट होता है कि पुरुष=परमेश्वर, पुरुष=जीवात्मा और पुरुष=प्रकृतिभूत कारण से जगत् की उत्पत्ति की पूरी प्रक्रिया ही पुरुषमेध है। पुरुष शब्द का अर्थ है पुरियों वा पुरी में शयन करने वाला, व्यापक होकर विद्यमान रहने वाला और कार्य मात्र में उपादान रूप से विद्यमान रहने वाला पुरुष है। शयन पद से ये सभी भाव स्पष्ट रूप से आ जाते हैं।

पुरुष का एक कार्य पूरित करना है। परमेश्वर रूपी पुरुष जो सभी पदार्थों में व्यापक है जगत् को पूर्ण करता है। उसका यह जगत् आश्चर्यमय है और पूर्ण है। जीवात्मा रूपी पुरुष शरीर में स्थित है वह शरीर में होने वाले क्षत आदि को भरता है। प्रकृति-रूपात्मक पुरुष अपने प्रत्येक कार्य में उपादान रूप से विद्यमान रहकर उसको पूरित करता है। इस प्रकार यह पुरुष की समष्टि रूप में साधारण व्याख्या हुई। वस्तुतः परिभाषा के रूप में पुरुष पद से परमात्मा और जीवात्मा का ही ग्रहण किया जाता है। ये पुरुषपन के मुख्य अर्थ हैं। इनके बिना केवल प्रकृति रूपी कारण से जगत् की पहेली का समाधान नहीं हो सकता है। सृष्टि-प्रक्रिया के समस्त प्रश्नों का समाधान परमेश्वर में निहित है। समस्त कठिनाइयों का निराकरण करने के लिए ही वेद के कुछ मन्त्रों के समूह की पुरुषसूक्त संज्ञा रखी गई है। यह चारों वेदों में पाया जाता है।

पुरुषसूक्त क्या है ? और क्यों ?

पुरुषसूक्त के मन्त्रों में पुरुष का वर्णन है। परन्तु पुरुषसूक्त का नहीं। पुरुषसूक्त का नाम बाद में प्रसिद्ध किया गया। यह न वेद में हो सकता है

और न है ही। वेद के इन मन्त्रों में तो पुरुष का वर्णन है। पुरुष-सम्बन्धी सूक्त को पुरुष सूक्त लोगों ने कहा। क्योंकि इसमें पुरुष का प्रधानतया वर्णन है अतः यह पुरुष सूक्त नाम से प्रसिद्ध किया गयाहै। सूक्त पद का अर्थ है उत्तमकथन। पुरुष-सूक्त का अर्थ है पुरुषसम्बन्धी उत्तम कथन वा प्रतिपादन।

पुरुष-सूक्त में सृष्टिप्रक्रिया आदि विषयों का वर्णन यज्ञ मुख से कहा गया है। सृष्टि-रचना, शरीर-रचना और स्थिति, समाज-रचना आदि वस्तुतः यज्ञ हैं। इनका पुरुषसूक्त में विशेष वर्णन है। इस पुस्तक के पृष्ठ १७ और १८ पर एक संक्षिप्त सा वर्णन इसका कर दिया गया है।

पुरुष सूक्त का जो यज्ञ वर्णित है उसके देखने से निम्न बातें समझ आती हैं :—

१—जगत् के कारण (ईश्वर, जीव, प्रकृति) पुरुष द्वय और प्रकृति तथा जगत् एवं उसकी रचना।

२—जगत् और शरीर अर्थात् ब्रह्माण्ड और पिण्ड की समता।

३—समाज, परिवार, राष्ट्र आदि की भावना।

४—समाज के प्रति उसी प्रकार सचेतता बर्तनी पड़ती है जिस प्रकार अपने शरीर के अङ्गों के प्रति वर्तनी पड़ती है।

५—समाज में कर्त्तव्य और अधिकार साथ चलते हैं और ये नीतिमत्ता के सिद्धान्तों के बिना संगत नहीं किए जा सकते।

६—सृष्टि की रचना ईश्वर, जीव और प्रकृति के बिना हो नहीं सकती है।

७—समाज की धारणा, कर्त्तव्य और अधिकार की भावना, जीवन के अन्तिम लक्ष्य का विचार तथा भौतिक वस्तुओं का मूल्यांकन जीव के बिना नहीं हो सकता है।

८—ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के बिना समस्या नहीं सुलझ सकती है।

इन सभी का संगतिकरण इस पुरुषसूक्त के यज्ञ में किया गया है।

सृष्टि रचना को यज्ञ कहकर कई विशेष बातों का संकेत कर दिया है। यज्ञ में न्यूनता नहीं की जाती है। यज्ञ होने से विश्व में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। इस पुरुषसूक्त में सृष्टि रचना रूपी यज्ञ का वर्णन कर निम्न बातों का निराकरण कर दिया है :—

१—विश्व का कारण केवल एक मात्र जड़ वा अचेतन नहीं है।

२—विश्व का कारण केवल एक मात्र चेतन नहीं है।

३—विश्व मिथ्या वा भ्रम नहीं है।

४—विश्व का उद्भव असत् वा अभाव से नहीं है।

५—विश्व का कोई ऐसा अनिर्वचनीयकारण नहीं है जिसे न भाव, न अभाव, न प्रमाण, न प्रमेय, न तत्त्व, न अतत्त्व—कहा जा सके। बल्कि उसे निरपेक्ष मात्र कहा जावे। ऐसा कोई निरपेक्ष मान्य नहीं है।

६—जगत् भोग और अपवर्ग के उद्देश्य को लिए हुए है।

७—परमनिरपेक्ष्यतत्त्व भगवान् के विषय में ज्ञान के लिए सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, ज्ञान का प्रकाश और समन्वय की योजना पर विचार आवश्यक है।

८—जगत् की रचना न आकस्मिक है और न ज्ञान-विकास, जीवन-विकास और सृष्टि-विकास नाम का कोई विकास सम्भव है। जगत् में कर्तृत्व उद्देश्य, ऐक्य और समंजसता पाये जाते हैं।

यज्ञ और मीमांसाविज्ञान

यज्ञों का संसार वेद के अनुसार बहुत ही विस्तृत है। वैदिक यज्ञों के विस्तार को कल्प सूत्रों, ब्राह्मण ग्रंथों में दिखाया गया है। इन यज्ञों के वास्तविक रहस्य, संगति, अर्थ, समन्वयन, नियमानुसार संपादन, विविध अङ्गों पर विचार आदि को प्रकट करने के लिए जैमिनि ने पूर्वमीमांसा (जिसे मीमांसा नाम से भी स्मरण किया जाता है) की रचना की। यह छः दर्शनों में एक दर्शन है। इसमें यज्ञविषयक दर्शन का पल्लवन किया गया है।

यज्ञ के विषय में एक सबसे बड़ी बात यह उपस्थित होती है कि उसकी प्रामाणिकता क्या है? यज्ञ वस्तुतः धर्म है। इस धर्म का प्रमाणीकरण वेद से होता है। यही कारण है कि धर्म की परीक्षा के प्रकरण को उठाकर मीमांसा दर्शन मे वेद की प्रामाणिकता और धर्म विषय में उसका आदेश परम प्रमाण है यह सिद्ध किया गया है। जैमिनि अपने गुरु व्यास के सिद्धान्त को दिखाते हुए वेद के शब्दों का सृष्टि के पदार्थों के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध मानते हैं। जिसका तात्पर्य है कि वेदशब्दपूर्विका यह सृष्टि है।

जैमिनि ने इस विषय मे यह एक अकाट्य तर्क दिया है कि सृष्टि के जिन पदार्थों का वर्णन वेद मे जैसा किया गया है वे संसार में ठीक उसी प्रकार के पाये जाते हैं। उनमें किसी प्रकार का कोई वैतथ्य नहीं है। अतः वेद की परम

प्रमाणिकता सिद्ध है। ऐसा होने पर वेद के उपदेश होने से धर्म का प्रामाण्य सिद्ध है। अतः वेद में कहे गए यज्ञों का प्रामाणिकत्व स्वयं सिद्ध है। वेद स्वतः प्रमाण हैं अन्य शास्त्र परतः प्रमाण हैं।

यज्ञ क्या है ? और याग या होम क्या है ? इसकी पूर्ण परिभाषा भी मीमांसादर्शन में की गई है।

यज्ञ को धर्म कहकर प्रतिपादन करना ही यह बताता है कि इन यज्ञों का एक नैतिक मूल्य भी है। इस नैतिक मूल्य का भी गंभीरता से मीमांसादर्शन में विचार किया गया है। किसी भी इच्छापूर्वक हुई क्रिया का क्या नैतिक मूल्य है और साथ ही वह किस प्रकार अदृष्ट को पैदा करती है, उसका फल होता है—आदि बातों का विचार मीमांसादर्शन में उठाया गया है।

महर्षि कणाद ने भी वैशेषिक दर्शन का प्रारम्भ धर्म की व्याख्या से किया है। परन्तु वैशेषिक का यह वर्णन पदार्थ-धर्म के प्रसंग से किया गया है। इसी लिए भाष्यकार प्रशस्तपाद ने इसे पदार्थ-धर्मसंग्रह शास्त्र कहा है। जैमिनि ने मुख्य रूप से यज्ञधर्म का विचार किया है।

एक रहस्य

इस प्रसंग में यह ज्ञात रहे कि जैमिनि और कणाद दोनों ही वेद की प्रमाणता के विषय में वर्तमान जगत् का हवाला देते हैं। उनका ऐसा करना यह सिद्ध करता है कि वे दोनों ही जगत् को सत्य मानने हैं और जगत् के भेद को स्वीकार करते हैं। ज्ञान का भेद बिना जगत् का भेद माने किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। जगत की भिन्नता को स्वीकार करने पर मायावादी, शून्यवादी और विज्ञानवादी आदि सभी उड़ जाते हैं।

मीमांसादर्शन में यह भी बताया गया है कि विविध वाक्यों की अर्थसंगति किस प्रकार लगाई जावे। यह एक अत्यन्त उपादेय विषय है। यह सभी विद्या के क्षेत्रों में उपयोगी है। मीमांसा विज्ञान पर भी इस पुस्तक मे इसके प्रकरण में प्रकाश डाला गया है।

एक बहुत बड़ा भ्रम

यह दो और चार की भाँति सिद्ध है कि यज्ञ का उपदेश वेद करते हैं। वेद सभी दर्शनकारों के अनुसार नित्य हैं और ईश्वरीय ज्ञान हैं। यह एक सत्य है कि जिसे काटा नहीं जा सकता है। सभी आर्ष दर्शन वेद के सामने नत-

मस्तक हैं। वे वेद की नित्यता और उसके ईश्वरीय ज्ञान होने का पदे पदे वर्णन करते हैं।

वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक, पाखण्डविदारक, कुरीतिनिवारक, अज्ञानसंहारक वेदज्ञान के प्रष्ठापक महर्षिदयानन्द ने वेद को ईश्वरीय ज्ञान माना है और उसकी नित्यता मानी है। वेद का ज्ञान प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों पर परमेश्वर की प्रेरणा से प्रकट होता है—इसका महर्षि ने सिद्धान्त रूप से प्रतिपादन किया है और स्वीकार किया है।

तात्पर्य यह है कि स्वयं वेद से यह तथ्य सिद्ध है और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषि यह मानते आये हैं। यहाँ तक कि वेदान्तदर्शन के 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र पर शंकराचार्य को भी यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा और "अतएव च नित्यत्वम्" आदि सूत्रों पर उन्होंने इस पक्ष का स्पष्ट ही प्रतिपादन किया है। 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्' सूत्र पर तो लगभग सभी भाष्यकारों ने इन तथ्यों को स्वीकार किया है। कारण यह है कि महर्षि व्यास ने स्वयं इन पक्षों के प्रतिपादनार्थ ही इन सूत्रों का प्रणयन किया है। वेद 'ईश्वरीय ज्ञान है' और वेद ज्ञान की नित्यता है—इसका विशेष प्रतिपादन मैंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वैदिक ज्योति' में किया है।

परन्तु आश्चर्य और खेद का विषय है कि "दयानन्द सरस्वती हिज लाइफ एण्ड आइडियाज" के लेखक श्री प्रो० जे० टी० एफ० जोर्डन्स ने अपनी अन्वेषण वैचिती दिखाने के प्रयास में एक अनर्गल ही प्रलाप कर डाला है। जिसको रिसर्च कहना तो दूर की बात है, सर्वथा ही युक्ति, प्रमाण और संदर्भ शून्य केवल मिथ्या कल्पना ही कहा जा सकता है। रिसर्च करने का कार्य करते हुए भी ईसाईमत का प्रभाव मस्तिष्क पर प्रभावशाली है। तभी ऐसी बात उन्होंने लिखी है।

वे कहते हैं कि महर्षि स्वामी दयानन्द को "वेद ईश्वरीय ज्ञान एवं प्रेरणा है"—यह विचार प्रोटेस्टेण्ट ईसाई विचारधारा से आया। क्योंकि इनसे शास्त्रार्थ आदि उन्हें करना पड़ा। उनकी पुस्तक की भूमिका (Introduction) और पृष्ठ २७९ को देखा जा सकता है। भूमिका देखने और इस विषय का अनेक स्थलों पर प्रतिपादन देखने से यह झटिति साधारणतया मस्तिष्क पर आ बैठता है कि उन्होंने अपनी कुछ मान्यताओं की कल्पना को साकार रूप देने के लिए ही इस पुस्तक को लिखा। अन्य अनेक बातें सृष्टि रचना, जीव के स्वरूप और ईश्वर आदि विषयों पर उन्होंने लिखी हैं जो केवल कल्पना मात्र हैं। मैंने यहां प्रसंग से केवल एक ही विषय दिखलाकर सन्तोष किया है। समय पर विस्तृत लिखा जा सकता है।

प्रोफेसर महोदय ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह विचार उन्होंने स्यात्, नहीं नहीं, अवश्य ही श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक से उधार लिया है। क्योंकि इससे उनका अपना विकासवादी दृष्टि-कोण सिद्ध होता है। उक्त लेखक ने महर्षि की जीवनी लेखकों को सभी को अप्रामाणिक और व्यर्थ सिद्ध किया है। यह कह कर कि ये लेखक सभी आर्य-सामाजिक थे और स्वामी जी को अपना गुरु मानते थे। अतः मुख्य बातों को जो प्रोफेसर जी ने प्रकट की है छिपाया। वा विशेष विचार नहीं किया। उनका यह भी कहना है इन लेखकों ने "महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" और "परोपकारिणी सभा का इतिहास" आदि कई पुस्तकों के आधार पर ये पूर्वोक्त जीवनियाँ नहीं लिखी गई हैं। इस कमी की पूर्ति श्री प्रोफेसर महोदय की पुस्तक करेगी।

श्री प्रोफेसर महोदय ने अपने अनुसंधान में श्री दामोदर सुन्दर लाल द्वारा गुजराती में लिखित बम्बई आर्य समाज के इतिहास को अपने विचार स्रोतों में माना है। लिखा है कि ये स्रोत अबतक उपेक्षित रहे। परन्तु इस स्रोत में आर्य समाज की स्थापना तिथि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा लिखा है। जब कि प्रोफेसर महो-दय ने १० अप्रैल १८७५ लिखा है। बलिहारी है इस अनुसंधान की कि आर्य समाज बम्बई के साप्ताहिक अधिवेशन के रजिस्टर और इन प्रोफेसर जी के माने साधनों आदि को प्रयोग में लाकर आर्य समाज की स्थापना तिथि ६ अप्रैल १८७५ (चैत्र शुक्ला प्रतिपदा) का एक ट्रैक्ट ही लिखा गया है जो इन्हें दृष्टिगत ही नहीं हुआ। इन्होंने इस तथ्य को कैसे उपेक्षित किया? मालूम होता है केवल दो व्यक्तियों के उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर अपनी सम्मति बना ली। सारा आर्यसंसार आर्य समाज की स्थापना तिथि चैत्र शुक्ला प्रतिपदा ही मानता है। उसकी शिरोमणि सार्वदेशिक सभा का निर्णय भी यही है। परन्तु प्रोफेसर महोदय को उसका कोई परिज्ञान ही नहीं क्योंकि उनका अनुसंधान केवल दो एक व्यक्तियों की सम्मति पर आधारित है।

यज्ञ और मानव जीवन के अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति

मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। यह दृश्य जगत् उसके भोग और अपवर्ग के लिए है। अपवर्ग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। इस उद्देश्य की सिद्धि में यज्ञ कहाँ तक सहायक है—यही यहाँ पर विचारना है। वैदिक धर्म निराशावाद और अकर्मण्यता को स्थान नहीं देता है। वह संसार को केवल दुःखमात्र नहीं मानता है। संसार उसकी दृष्टि मे जहाँ भोगों का साधक है वहाँ मोक्ष का भी साधक है। बिना संसार में आये यदि जीव

को मोक्ष मिलता होता तो फिर जीव के लिए संसार की आवश्यकता ही न पड़ती और संसार की ऐसी अवस्था में कोई जरूरत न रह जाती।

संसार को मिथ्या और शून्य कहने वाले भी यह नहीं बता सकते हैं कि फिर संसार के उत्पन्न होने की आवश्यकता ही क्या है? यह एक ऐसा प्रश्न है कि उनकी सारी दार्शनिक कल्पना की भित्ति ढह जाती है। ऐसे लोगों का निरपेक्ष तत्त्व सापेक्ष के चक्कर में क्यों पड़ता है?

मनुष्य कर्म किए बिना क्षण भर भी नही रह सकता है। कर्म उसे करना पड़ता है। वह बुरे कर्म भी करता है और अच्छे भी। परन्तु वह अच्छे ही कर्म करे, बुरे कर्म न करे इसकी प्रेरणा वेद देता है। वे अच्छे ही कर्म यज्ञादि कर्म भी हैं। क्योंकि यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म का नाम है। श्रेष्ठतम कर्म ज्ञानपूर्वक होता है और ज्ञान के संपादन के लिए किया जाता है।

उत्तम कर्म सकाम और निष्काम भेद से दो प्रकार के हैं। सकाम कर्म कामना के साथ किया जाता है अतः वह स्वर्ग सुख आदि बन्धनों से बाँधता है। कारण यह है कि उसमें सकामता रूपी राग लगा हुआ है। राग मिथ्या-ज्ञान का प्रकार है। उसकी निवृत्ति के लिए यज्ञ आदि कर्मों को कर, मन को पवित्र कर योग आदि के द्वारा आत्मा को निर्मल बनाकर निष्काम कर्म करना चाहिए। निष्काम कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते हैं।

जब तक चावल मे धान का छिलका लगा है तब तब वह अंकुर पैदा करता है। जब तक चने की दाल छिलके के साथ है तब तक चने से अंकुर पैदा होता है। केवल चावल और केवल दाल से अंकुर नहीं पैदा होता है। इसी प्रकार जब तक राग आदि कर्म के साथ लगे हैं, कर्म फल पैदा करते हैं। बिना राग के कर्म फल पैदा करने में असमर्थ होते हैं। अतः निष्काम कर्म फल नहीं पैदा करते।

इस प्रकार यज्ञ आदि कर्म कर्तव्य समझकर निष्काम भावना से करने पर ज्ञान की सिद्धि कराते हैं। ज्ञान जब उदित हो जाता है तो मिथ्याज्ञान का विनाश हो जाता है। मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाने से मोक्ष की सिद्धि ज्ञान से होती हैं। कर्म जिनमें यज्ञ आदि उत्तम कर्म भी हैं ज्ञान की सिद्धि पर पहुं-चाते हैं। ज्ञान से पुनः मुक्ति होती है। योग में भी तो क्रिया योग है ही। मोक्ष केवल कर्म से नहीं होता है और केवल ज्ञान से नही होता है। वह ज्ञान और कर्म के समुच्चय से होता है। इसका भी प्रसंग से इस पुस्तक में विचार किया गया है।

यज्ञ और ज्यौतिष-विज्ञान

यज्ञों के साथ ज्योतिष का भी सम्बन्ध है। ज्योतिषविज्ञान में ग्रहों, नक्षत्रों, गणित, भूगोल और खगोल आदि विज्ञानों का समावेश है। अतः यज्ञ के करने के साथ तिथि, नक्षत्र, वार, ऋतु, मास और अयन आदि का विचार करना पड़ता है। क्योंकि इनका सम्बन्ध उससे लगा होता है। संस्कारों में नक्षत्र तिथि और देवता का भी विचार होता है। ऋत्विग्वरण के समय जो संकल्प किया जाता है उसमें सृष्टि के बीते वर्षों से लेकर वर्तमान समय तक का वर्णन होता है और इसमें मिनट मिनट तक का परिज्ञान रखना पड़ता है।

परन्तु एक बात ध्यान में रहे कि यह गणित ज्योतिष मात्र ही वैदिक ज्योतिर्विज्ञान है। इसमें नवीनों ने जो फलित को लगा रखा है उससे यज्ञ का कोई सम्बन्ध नहीं और न ज्यौतिष शास्त्र का ही उससे कोई सम्बन्ध है। यह कपोल-कल्पना है। यज्ञ में मुहूर्त आदि फलित ज्योतिष की कल्पनाओं का कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकार ग्रहों और नक्षत्रों तथा तिथियों और वारों का शुभाशुभ योग देखना भी आडम्बर है और अवैदिक है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गणित का तात्पर्य गणितज्यौतिष में केवल संख्यामात्र और गुणाभाग आदि करना मात्र नहीं। यह भी है और ज्य मिति, कुज्या, त्रिज्या, गोल, व्यास, अर्धव्यास, क्षेत्र, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, सृष्टि के समय का गणित, अस्तोदय का हिसाब और सभी ग्रहों के दिनमान, वर्ष, भ्रमण समय आदि का ज्ञान इसमें समाविष्ट है। इसका सूर्यसिद्धान्त आदि में बड़ा ही विस्तार है।

सृष्टि के काल के सम्बन्ध में

बहुत साधारण और सरल गणित यह है कि चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का कलियुग का मान है। इसका दूना द्वापर, त्रिगुणा त्रेता और चतुर्गुणा कृतयुग है। इन चारों युगों को मिलाने पर उसकी संज्ञा चतुर्युगी है। चतुर्युगी में चारों युगों के वर्षों का योग है और उसकी वर्ष संख्या तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष है। ज्यौतिष शास्त्र में अङ्कों में भी हिसाब लगाया जाता है और श्लोक की रचना में भी। अक्षरों में लघु स्थान लगता है और श्लोक की रचना में भी कठिनाई नहीं होती है। इसलिए वेद पद से चार, चन्द्र पद से एक, वसु पद से आठ; मुनि पद से क्रमशः सात आदि संख्याओं का बोध होता है। बीस अदद और उससे अधिक भी संख्याओं को आसानी से इस प्रकार लिखा जा सकता है।

जैसा कहा जा चुका है चारों युगों का योग एक चतुर्युगी है तथा वेदानुसार एक सहस्र चतुर्युगी का समय ही सृष्टि का समय है और उतना ही प्रलय का समय है। इस प्रकार एक हजार चतुर्युगी अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष सृष्टि है और उतने ही समय तक प्रलय होता है। यह दोनों समय अर्थात् सृष्टि और प्रलय आठ अरब चौंसठ करोड़ वर्ष होते हैं परन्तु यह समय एक सृष्टि और एक प्रलय का है।

इसको स्पष्ट करने के लिए सृष्टिकाल को ब्रह्म का एक दिन और प्रलय काल को एक रात्रि कहा गया है। यह इस प्रकार ब्रह्म का एक अहोरात्र (दिन और रात्रि) है। जब यह दिन और रात्रि है और इनके भी मास, वर्ष बनायें जावें तो बहुत बड़ी संख्या वर्षों की होगी। वेद आयु का सीधा हिसाब शतसमा वा शत वर्षों का रखता है। इसी प्रकार सूर्यसिद्धान्त जो उपलब्ध है उसमें ब्रह्मा की भी शत वर्ष की आयु की कल्पना की गई है। यह शतवर्ष जो ब्रह्म व ब्रह्मा की आयु कही गई है वही एक परान्तकाल का समय होता है। यह परान्तकाल ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्षों का होता है। इस काल में ३६००० बार सृष्टि और उतनी ही बार प्रलय का समय समाविष्ट है।

भगवान् दयानन्द ने इसका हिसाब लगाकर यह बताया कि ३६००० बार सृष्टि और प्रलय का जितना समय होता है उतने समय तक यह मुक्त जीव मुक्ति का आनन्द भोगता है और बाद को पुनः मुक्ति से वापस आता है।

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में जो गणित किया गया है वही भगवान् दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में दिखाया है।

ब्रह्म के ३० अहोरात्रों का एक मास और १२ मासों का एक वर्ष और ऐसे १०० वर्षों की आयु। अतः ३०×१२×१००=३६००० अर्थात् इस प्रकार से वह ३६००० बार सृष्टि और प्रलय का समय परान्त काल है। यही ब्रह्म की शत वर्ष की आयु है। सूर्यसिद्धान्त में यहाँ तक का हिसाब है। यह परान्तकाल तक का समय ही सूर्यसिद्धान्त का वर्णनीय विषय काल के सम्बन्ध में है।

मन्वन्तर आदि क्यों ?

ऊपर की पंक्तियों में जो विवरण सृष्टिकाल का दिखाया गया है वह सीधा सरल है। परन्तु जब ग्रहों की वर्तमान चाल, भविष्य मे कब किस समय कौन ग्रह किस बिन्दु पर होगा और उसका समय क्या होगा, ग्रहण कब लगेंगे, और

कितने काल का भुगतान सृष्टि से लेकर तब तक हो जावेगा और अभी कितना हुआ है आदि विवरणों को केवल समूचे युगों और चतुर्युगियों मात्र में नहीं दिया जा सकता है। उसमें चतुर्युगी, युग और खण्ड में भी लिखना पड़ेगा। जैसे आजतक के व्यतीत हुए सृष्टिकाल को केवल चतुर्युगी आदि के समूचे पैमाने में नहीं दिया जा सकता है। इसलिए लघु, लघुतर और और लघुतम समय भाग को हिसाब में लाया जा सके और प्रकट किया जा सके इसके लिए प्राजापत्य मान बनाया गया। यह मनु आदि प्रजापतियों की मानविधि है। इसके अनुसार छोटे से छोटे समय भाग को बताया जा सकता है और सारा व्यवहार चल सकता है।

यह विधि मन्वन्तर विधि है जो समस्त पेचीदगियों को हल कर सकती है। सृष्टिकाल को इसमें मन्वन्तरों में बांटा गया है। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष जो सृष्टि का समय है उसे चौदह मन्वन्तरों में बिभक्त किया गया है। एक मन्वतर ७१ चतुर्युगियों का होता है। परन्तु एक सृष्टिकाल को चौदह मन्वन्तरों में बाँटने पर भी छः चतुर्युगियाँ शेष रह जाती हैं! अर्थात् एक सृष्टिकाल में चौदह मन्वतर (९९४ चतुर्युगियाँ) और छः चतुर्युगी होती हैं। इस प्रकार यह एक सहस्र चतुर्युगी का सृष्टिकाल होता है।

इस सृष्टिकाल में जो छः चतुर्युगी १४ मन्वतन्तरों में उस काल के विभक्त करने पर शेष रहती हैं उनके विषय में नीचे लिखे विकल्प उठते हैं। इनको मन्वन्तरों के प्रारम्भ होने के पूर्व माना जावे अथवा मन्वन्तरों की समाप्ति पर माना जावे अथवा इनका विभाग करके मन्वन्तरों के साथ-साथ माना जावे। पूर्व मानने और अन्त में मानने की बात एकदम छः चतुर्युगियों की बनती नहीं। इस व्यवहार में गणित आदि करने में उलझनें आवेंगी। ये ठीक नहीं की जा सकेंगी। फिर तो सृष्टि को केवल १४ मन्वन्तर के जितनी ही मानना पड़ेगा और छः चतुर्युगी की खोट रहेगी। यदि कहें कि व्यवहार आदि के लिए १४ मन्वन्तर वाले काल को ही लिया जाता है तो फिर इन छः चतुर्युगियों के काल का उपयोग बताना पड़ेगा और मन्वन्तरों के साथ सामंजस्य और सार्थकता बतानी पड़ेगी।

इस समस्या का समाधान प्राजापत्य मान वाले ऋषियों ने १५ संधियों का मान स्थापित करके किया है। एक संधि का समय एक कृतयुग जितना अर्थात् सत्तरह लाख अट्ठाइस सहस्र वर्ष का होता है। जितना समय १५ संधियों का होता है उतना ही समय छः चतुर्युगियों का होता है। अतः ज्योतिष शास्त्र के अनुसार पहली सन्धि प्रथम मन्वन्तर के पूर्व प्रारम्भ होती और अन्तिम

पन्द्रहवीं सन्धि चौदहवें मन्वन्त के बाद चालू होती है। अर्थात् एक सृष्टि का काल केवल १४ मन्वन्तर मात्र ही नहीं अपितु उनकी १५ संधियों को मिलाकर है। सन्धियां मन्वन्तरों के साथ-साथ हिसाब में आती हैं। यदि चार मन्वन्तर बीता होगा तो पांचवीं सन्धि उसके साथ जुड़ेगी। यदि छः मन्वन्तर आज तक बीते हैं तो सातवीं सन्धि भी बीती है। इस प्रकार आज का काल ६ मन्वउर सात सन्धियों और सातवें मन्वतर के बीते हुए भाग को जोड़कर बनेगा। केवल मन्वन्तर के समय को जोड़कर ही नहीं। अन्यथा हिसाब में गड़बड़ी रहेगी। इस प्रकार यह प्राजापत्य मान ज्योतिषशास्त्र का वह मान है जिससे लघुतम काल तक का हिसाब लगाया जा सके।

सृष्टिसम्वत् और भगवान् दयानन्द

महर्षि दयानन्द ने वर्तमान सृष्टिसम्वत् को एक अरब छानवे करोड़ आदि वर्षों का माना है जबकि ज्योतिष शास्त्र के अनुसार यह एक अरब सत्तानबे करोड़ आदि वर्षों का बनता है। कुछ लोग कहते हैं कि एक अरब सत्तानबे करोड़ वर्ष मानना महर्षि के विरुद्ध है और इसके मानने वाले महर्षि को गलत साबित कर रहे हैं। परन्तु उनका यह फतवा गलत है।

महर्षि ने जो सृष्टिसम्वत् का समय दिया है उसका मन्वन्तरकाल मात्र जोड़ा गया है। वह जोड़ सर्वथा ठीक है। परन्तु उसमें ७ सन्धियों का काल नहीं जुड़ा हुआ है। यदि यह जोड़ दिया जावे तो एक अरब सत्तानवे वाला हिसाब ही ठीक बैठेगा। बस इतना कहना मात्र कि सन्धिकाल नहीं जुड़ा है कुछ लोग अपराध मान रहे हैं। परन्तु वे भी तो उसी प्रकार अपराधी हैं। यदि महर्षि के हिसाब से दिये सृष्टि सम्वत् को ही माना जावे तो फिर १४ मन्वन्तरों की ही सृष्टि होगी। इस प्रकार छः चतुर्युगी कम रह जावेंगी। इन छः चतुर्युगियों को कहाँ जोड़ा जावे। पहले वा अन्त में। यदि पहले तो फिर वह सृष्टि में बीता हुआ समय है वा नहीं? यदि है तो उसे बिना जोड़े सम्वत् कैसे ठीक होगा। यदि जोड़ा जाये तो महर्षि के बताए सृष्टि सम्वत् से मेल नहीं खावेगा। तथा वर्ष संख्या १ अरब छानवे करोड़ के स्थान में एक अरब अट्ठानबे करोड़ आदि बनेगी। यदि इस काल को नहीं जोड़ा जावे तो क्यों? यदि जोड़ना आवश्यक है तो फिर यह महर्षि के सृष्टि सम्वत् में जुड़ा हुआ है वा नहीं। यदि नहीं जुड़ा हो तो आप भी यही मान रहे हैं कि यह रह गया है।

ऐसी स्थिति में दोनों में कोई अन्तर नहीं पड़ता है—एक का कहना है कि

सात सन्धियों का काल नहीं जुड़ा है, रह गया है और दूसरे का कहना है कि छः चतुर्युगियों का समय नहीं जुड़ा है। इसमें एक को महर्षि का विरोधी कहा जावे और दूसरे को समर्थक—यह किस प्रकार ?

महर्षि का दिया हुआ हिसाब केवल मन्वन्तरों मात्र का है। उसमें बीती सन्धियों का काल जोड़ देने पर एक अरब सत्तानवे करोड़ आदि वर्ष जो सृष्टि सम्वत् के आवेंगे वही ठीक होंगे। इस प्रकार सृष्टि सम्वत् एक अरब सत्तानबे करोड़ आदि वर्ष ही है। इसका भी प्रसंग से परिशिष्ट में विस्तार से उल्लेख कर दिया गया है।

ज्यौतिषशास्त्र की दुरूहता

ज्योतिष शास्त्र बड़ा ही दुरूह है। उसकी अपनी परिभाषाएं भी हैं जो प्रचलन में नहीं होने से कठिन हैं। जैसे पृथिवी जिस वृत्त पर सूर्य के चारों तरफ घूमती है उसके ९० अंश पर होने वाले नगरों के लंका, यमकोटि आदि नाम दिये गए हैं। इसी प्रकार इनमे निवास करने वाले के देव असुर आदि नाम दिये गये है। जब भारतस्थ लंकापुर में सूर्य का उदय होता है तब उस समय यमकोटिपुरी अर्थात् योरुपस्थ देशों में जो ९० अंश पर स्थित है दोपहर होता है। निचले भाग पर स्थित सिद्धपुर में सूर्यास्तकाल होता है और रोमकपत्तन में रात्रि का अर्धभाग होता है।

एक और जटिलता की तरफ यहाँ उदाहरण रूप में पाठकों के ध्यान को आकृष्ट किया जाता है। सूर्यसिद्धान्त के भूगोलाध्याय में एक श्लोक निम्न प्रकार पाया जाता है :—

खव्योमखत्रयखसागरषट्कनाग,
व्योमाष्टशून्ययमरूपनगाष्टचन्द्राः।
ब्रह्माण्डसम्पुटपरिभ्रमणं समन्ता
दभ्यन्तरे दिनकरस्य करप्रसारः॥ सूर्य० अ० १२।९१

अर्थात् १८७ १२० ८०८ ६४०००००० योजन ब्रह्मांड की वह कक्षा है कि जिसके भीतर चारों तरफ तक एक सूर्य की किरणों का प्रसार होता है अर्थात् ये ब्रह्माण्ड के गोल की परिधि के योजन हैं। यह ब्रह्माण्ड का सम्पुट है। किसी गोल को यदि दो गोल कटाहों से जोड़ा जावे तो पुट की परिधि जो होती है ये उसके योजन है।

यहां पर यह कितना कठिन विषय है। इसको समझने में कठिनाइयां हुई हैं। बाद के गणकों ने इसका वर्णन किया है। भास्कराचार्य ने इसी विषय का

वर्णन करते हुए सिद्धान्तशिरोमणि में लिखा है कि—१८७ आदि योजन का ज्योतिषशास्त्र के जानने वाले ब्रह्माण्ड का एक भाग कहते हैं। कई लोग ब्रह्माण्ड के कटाह के इस सम्पुट की इसे परिधि कहते है और कुछ पौराणिक विद्वान् इसे 'लोकालोक' पर्वत का विस्तार मानते हैं।

यहां पर भास्कराचार्य ने सूर्यसिद्धान्त की एक बात को अर्थात् कटाह सम्पुट की परिधि वाले प्रश्न को माना और किसी हद तक आकाशकक्षा कह-कर प्रथम विचार को माना है। यह वस्तुतः सूर्यसिद्धान्त का सिद्धान्त भाग है जिसे भास्कर भी स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु पौराणिकों का मत जोड़कर पौराणिक लोगों ने क्या समझा—इसका भी वर्णन कर दिया। सूर्यसिद्धांत में यह नहीं है। क्योंकि पौराणिक मत का उस समय होना हीं सम्भव नहीं। यह तो अति नवीन है।

जिनको न अपने ज्योतिषशास्त्र का परिज्ञान है और न पाश्चात्य ज्योति-विज्ञान का वे व्यर्थ में कुछ थोड़ी सी भिन्नता को देखकर इधर-उधर की कल्पनायें कर अपने शास्त्र का ही दोष निकालने बैठ जाते हैं। कहते हैं कि भारतीय ज्योतिष में और संस्कृत भाषा में केन्द्र, वार आदि शब्दों का न व्य-वहार था और न प्रयोग होता था। कई पदों को तो अपनी अनभिज्ञतावश ये ग्रीक भाषा का मान बैठे हैं। पूछा जावे कि (डेट) तारीख के एक दिन में हिसाब के लिए २४ घण्टे माने जाते हैं। क्या इसमें दिन और रात्रि दोनों सम्मिलित नहीं हैं ? यदि हैं तो इसी प्रकार तिथि में रात्रि और दिन क्यों नहीं सम्मिलित हो सकते हैं।

पृथिवी की परिधि सिद्धांत शिरोमणि आदि में ४९६७ और व्यास १५८१ योजन माना गया है। योजन को पाँच मील मानकर हिसाब लगाने पर परिधि २४८३५ मील ओर व्यास ७९०५ मील बनता है। वर्तमान विज्ञान के अनुसार यह परिधि २४८५६ मील और व्यास ७९१२ मील है। लोग कहते हैं यह बड़ा भारी अन्तर है। परन्तु यह समझने का प्रयत्न नहीं करते कि योजन का वास्तविक पैमाना क्या है ? यदि योजन को ५$\frac{३}{१०}$मील का माना जावे तो परिधि २४८५६ मील और व्यास ७९१२ मील बनेगा।

फलित ज्यौतिष मिथ्या है

पहले कहा जा चुका है कि गणित ज्योतिष वैदिक है और फलित ज्योतिष कपोल कल्पित पाखण्ड है। सूर्यसिद्धान्त जैसे ग्रंथ में ढोंगी लोगों ने प्रक्षेप करके इस फलित को सत्य बनाने का प्रयत्न किया है। परन्तु इस पाखण्ड का

मिथ्यापन वहां पूर्वापर का अध्ययन करने से प्रकट हो जाता है। मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि में अनेक प्रक्षेप किए गए हैं। इसी प्रकार सूर्यसिद्धान्त जैसे गणित ज्योतिष के आर्ष ग्रंथ में भी इन फलित ज्योतिषियों ने अनेक अनर्गल बातों के मिलाने का कार्य किया है। सूर्यसिद्धांत के आदि के प्रकरणों अर्थात् मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार आदि को पढ़ने पर उनमें कहीं फलित का लेश भी नहीं देखा जाता। बाद में मिलाने का जहां यत्न किया गया है वहीं पर वह मिलावट अलग पड़ती मालूम होने लगती है।

फलित ज्योतिष के ग्रंथ मुहूर्त चिन्तामणि, शीघ्रबोध, जातकाभरण, जातकालकार, मानसागरी और ताजकनीलकण्ठी हैं। इनकी रचना १६५० विक्रमी सम्बत् के आस पास की है। इन ग्रन्थों से ही इन की रचना का पता चल जाता है। ताजकनीलकण्ठी को श्री नीलकण्ठ ने १५०९ शालिवाहन अर्थात् १५८७ ईस्वी में बनाया।

मुहूर्त चिन्तामणि की रचना चिन्तामणि पण्डित ने की। यह ग्रंथ १५२१ शाके अर्थात् १६०० ईस्वी में बना। इसमें ग्रन्थ कर्त्ता ने अपने को 'महाभूभुजाम् मान्यः' अर्थात् महाराजाओं के मान्य लिखा है। 'महाभूभुजाम्' पद का अर्थ करते हुए 'पीयूषधारा' टीकाकार ने 'पादशाहादीनाम्' अर्थात् पादशाहों का किया है। इससे स्पष्ट है कि मुगल सम्राटों के काल में यह ग्रंथ बना। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सब ग्रन्थ ३०० वर्ष से इधर के रचे हुए हैं।

जातकाभरण ग्रन्थ के अनुसार समस्त मनुष्यों की मृत्यु ११ दिन में ही होनी चाहिए। बाकी वर्ष के ३४९ दिनों में कोई मृत्यु नहीं होनी चाहिए। सब मनुष्य १२ हो राशियों के होते हैं, वृष और कर्क राशि वालों के लिए माघसुदी ९ नियत है अतः सब ११ दिन मृत्यु के लिए हैं। संसार की बात तो दूर रहे एक नगर में ही देखा जाता है कि रोज कोई न कोई मरता है। एक ही नियत दिन में मृत्यु नहीं है।

मानसागरी में कुण्डली के सातवें घर में कोई भी राशि पड़े सबका फल उस मनुष्य की स्त्री पर ही घटाया गया है। परन्तु देखना यह है कि जिसका मरण पर्यन्त विवाह ही नहीं हुआ उनको यह किस प्रकार ठीक उतरेगा। बहुत से बालक विवाह से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। उन्हें यह फल कैसे मिलेगा। स्त्रियों के सातवें घर में भी तो कोई राशि पड़ेगी ही फिर स्त्रियों की पत्नी कौन सी होगी? फिर उनके लिए इस राशि का फल क्या मिला? यह सब ढोंग है।

जातकाभरण में लिखा है कि तुला राशि वाले मनुष्य की मृत्यु ८५ वर्ष की आयु में वैशाख वदी अष्टमी शुक्रवार को श्लेषा नक्षत्र में होगी।

ज्योतिषी जी को हिसाब तो ज्ञात नहीं। वैशाख की पूर्णिमा को विशाखा नक्षत्र होना अनिवार्य है। उसी पर उसका नाम है। कभी एक दो दिन का अन्तर हो जाता है। परन्तु इससे अधिक अन्तर नहीं पड़ सकता। वदी अष्टमी को अर्थात् पूर्णिमा के आठ दिन बाद श्लेषा नक्षत्र किस प्रकार आ जावेगा? क्या ज्योतिषी जी वहां भी कोई कारीगरी करेंगे? इस प्रकार यह फलित ज्योतिष गप्प है, अन्य कुछ नहीं। आजकल कुछ राजनैतिक लोग इसे बढ़ावा देते हैं और कहते हैं यह तो एक विज्ञान है। पता नहीं इनके कोष में विज्ञान भी उसी तरह का है जैसा इनकी राजनीतिक नीतिमत्ता है।

मुहूर्त गण में लिखा है कि विशाखा, कृत्तिका, पूर्वाषाढा आदि नक्षत्रों में शनैश्चर वा मंगल का बल हो तथा जब लग्न और दशवें स्थान में मंगल हो—ऐसे मुहूर्त में चोरी करने से धन लाभ होगा!

इस प्रकार ये फलित ज्योतिषी चोरी, मद्य-गोष्ठी, और कुकृत्य के लिए भी मुहूर्त बताते हैं। यह है इनके फलित ज्योतिष का हाल।

विषयानुक्रमणिका

सूचना—इस ग्रन्थ को पढ़ने से पूर्व इसका विषयानुप्रवेश अवश्य पढ़ें।

'विषयानुप्रवेश' में क्रमश: निम्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है—

षोडश प्रकरण—

सप्तदश प्रकरण—

अष्टादश प्रकरण—

एकोनविंश प्रकरण—

विंशप्रकरण—

एकविंश प्रकरण—

परिशिष्ट १—

प्रथम प्रकरण

यज्ञ शब्द का अर्थ

"यज्ञ विषय का वेदादि सत्यशास्त्रों में बहुत ही विस्तृत वर्णन पाया जाता है। यज्ञ का विस्तार और संसार यदि वर्णित किया जावे तो बहुत बड़े-बड़े दीर्घकाय ग्रन्थों की रचना हो सकती है। यह एक ऐसा विषय है कि जिस पर लेखनी उठाने से पूर्व विस्तृत अध्ययन और अन्वेषण नितान्त आवश्यक है। यज्ञ शब्द से वेद में अनेक ज्ञान-विज्ञान और सृष्टि-प्रक्रिया आदि विषय अभिप्रेत हैं। जिनका वर्णन प्रसंग से उनसे सम्बद्ध प्रकरणों में किया जावेगा। यहां पर केवल प्रस्तुत वर्णनीय का ही वर्णन किया जाता है। वह है यज्ञ पद का अर्थ, उसके कुछ पर्यायों का अर्थ, उसकी प्रवृत्ति और व्युत्पत्ति आदि।

यज्ञ शब्द वा पद व्याकरण के नियम से 'यज्' धातु से बना है। 'यज्' के देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थ हैं। देवपूजा और संगतिकरण आदि से साधारणतया लोग यह अर्थ लेते हैं कि जिस कर्म में बड़े की पूजा, समान के साथ मेल और छोटे को कुछ देना पाया जाता है, वह यज्ञ है। इससे विविध उत्तम व्यवहार यज्ञ शब्द के अन्दर गृहीत हो जाते हैं। इस आधार पर ज्ञान-विज्ञान की क्रियाओं और प्रयोगों के यज्ञ होने में भी कोई आपत्ति नहीं रहती है। यज्ञ से वेद आदि सच्छास्त्रों में जो अर्थ लिए गए हैं उनका इस पद से ग्रहण हो जाता है। उसी व्यापक दृष्टि को रखते हुए शतपथ-ब्राह्मण १।७।१।५ में' श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ कहा गया है। यज्ञ शब्द के विविधार्थों को देखते हुए भी यहाँ पर कर्मकाण्ड सम्बन्धी कार्यों में भी इसके अर्थ की संगति आवश्यक है। यह तो ठीक है कि देवपूजा, संगतिकरण और दान यज्ञ पद से अभिप्रेत हैं परन्तु जो यज्ञ किये जाते हैं उनमें इनका किस प्रकार संगमन है। यह भी विचारणीय है।

यज्ञ में मुख्य तो परमात्मा ही उसका देवता है परन्तु मंत्र और दूसरे अन्य देवता भी यज्ञ के देव के रूप में गृहीत होते हैं। उनमें पूज्यों की पूजा, अन्यों का संगतिकरण और तदर्थ दान अथवा त्याग आदि का समन्वय किया जाता है। इसी दृष्टि से वह यज्ञ है। यज्ञ के प्रसंग में दो प्रकार के देवों का शतपथ ब्राह्मण २।२।२।६;[१] २।२।२।६; ४।३।४।४ में वर्णन पाया जाता है, देवदेव और मनुष्य देव। यज्ञ में जिन देवों को, अग्नि, सूर्य, इन्द्र आदि को आहुति दी जाती है, वे यज्ञदेव ही देवदेव हैं और जिन विद्वानों आदि को दक्षिणा दी जाती है वे मनुष्यदेव हैं। यज्ञ के देव आहुति प्रदान से तृप्त होते हैं और मनुष्यदेव दक्षिणा आदि से सन्तुष्ट होते हैं। यही एक प्रकार से देवपूजा है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि परमेश्वर और मनुष्य देवों के अतिरिक्त यज्ञदेव तो भौतिक और प्राकृतिक पदार्थ हैं। उनकी पूजा वा तृप्ति क्या हो सकती है। इसका उत्तर है कि भगवान् की पूजा स्तुति, प्रार्थना, उपासना और उसके नियमों के पालन से होती है। मनुष्य देवों की तृप्ति दक्षिणा, दान आदि से और भौतिक देवों की समृद्धि, संगतिकरण उनके निमित्त दी गई आहुतियों से होती है जो रासायनिक प्रभाव है। इसीप्रकार वेदमन्त्रों से देवता, तन्निमित्तक त्याग और आहुति के द्रव्यों का भी संगतिकरण होता है। यह यज्ञ पद का व्युत्पत्ति से होने वाला अर्थ है। निरुक्ति से भी इसका अर्थ-विचार होता है।

निरुक्ति से जो अर्थ किया जाता है उसका दिग्दर्शन निरुक्त शास्त्र आदि में पाया जाता है। आचार्य यास्क निरुक्त ३।४।१६[१] पर इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि 'यज्ञ वह है जिसमें 'यज्' धात्वर्थक यज्ञ कर्म, जो अति प्रसिद्ध हैं, पाये जावें, (अर्थात् संगतिकरण, देवपूजा और दान)। अथवा जिसमें याचना, उपासना की जाती हो, अथवा जो यजुः मंत्रों से संकेतित होता हो, अथवा यजुः जिसका उपक्रम करते हों। यह है निरुक्ति से जाना जाने वाला यज्ञ पद का अर्थ। निरुक्ति निश्चित बचन का नाम है। इस विज्ञान के आकर ग्रन्थ निरुक्त शास्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थ हैं।

यज्ञ के कुछ और भी पर्यायवाची शब्द हैं जिनसे यज्ञ की प्रक्रिया और विशेषता पर अधिक प्रकाश पड़ता है। इनमें से प्रथम 'अध्वर' पद को ही लिया जाता है। निरुक्त शास्त्र के अनुसार 'ध्वर' हिंसा-

र्थक है। 'अध्वर' का अर्थ हिंसारहित है। चूंकि वेदों में जिन भी यज्ञों का विधान है वे हिंसारहित हैं, उनमें किसी प्रकार की हिंसा नहीं है, अतः वे 'अध्वर' हैं। इस प्रकार हिंसा रहित कर्म होने से यज्ञ अध्वर है। शतपथ ब्राह्मण[१] इसके रहस्य को खोलते हुए कहता है "यज्ञकर्ता देवों का घात करने की इच्छा करते हुए देवशत्रु असुरों ने यज्ञ से इस कार्य को पूरा करना चाहा परन्तु यज्ञ में हिंसा वर्जित होने से वे इसके द्वारा अपने कार्य में समर्थ नहीं हो सके अतः 'अध्वर' शब्द से यज्ञ अभिप्रेत है। इससे यह सुतराम् स्पष्ट है कि यज्ञ एक अतिपवित्र कर्म है और इसमें हिंसा का कोई भी स्थान नहीं है।

'होम' पद का प्रयोग भी यज्ञ के लिए होता है। यह पद 'हु' दानार्थक और अदनार्थक धातु से निष्पन्न होता है। चूंकि इस कार्य में अग्नि में दी गई आहुतियाँ अग्नि के द्वारा खाई जाती हैं और यह बिना आहुति दिये संपन्न और समृद्ध नहीं होता है एतदर्थ आहुतियों का प्रदान होता है—इसलिए यह 'होम' है।

यज्ञ को क्रतु भी कहा जाता है। क्रिया और वह भी ज्ञानपूर्विका क्रिया का कार्य होने से यज्ञ क्रतु है। क्रतु पद यज्ञ और कर्म के अर्थ में बहुत प्रसिद्ध हैं। शत क्रतुवों का करने वाला शतक्रतु कहलाता है। शतक्रतु को इन्द्र का पर्यायवाची माना जाता है।

यज्ञ के लिए 'मख' पद का भी प्रयोग पाया जाता है। यह अत्यन्त सार्थक पद है। मख यज्ञ का विशिष्ट नाम है। गोपथ ब्राह्मण[१] २।५ में इसकी निरुक्ति करते हुए विशेष कथन किया गया है। 'म' प्रतिषेध वा निषेध का वाचक हैं। 'ख' का अर्थ छिद्र है। जिसमें छिद्र का निषेध हो और जो करने पर किसी प्रकार छिद्र वा हानि न करता हो वह मख है। चूंकि यज्ञ इसी प्रकार का कर्म है कि जिसमें न कोई छिद्र रहना चाहिए और न यह किसी प्रकार की हानि करता है अतः यह मख है।

यज्ञ के सम्पादन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहनी चाहिए, इस पर शतपथ ३।६।३।२८ पर एक सारगर्भित आख्यान है जो यज्ञ के मख होने की बात को सिद्ध करने में विशेष सहायक है। 'यज्ञ ने कहा कि मैं नग्नता से डरता हूं। फिर तेरी अनग्नता क्या है—अर्थात् मुझे चारों तरफ से घेरना चाहिए। इस लिए चारों तरफ से इसे अग्नि से घेरा जाता है। यज्ञ ने कहा कि मैं तृष्णा से

करता हूं। फिर किस प्रकार से तृप्ति तुम्हारी होगी—अर्थात् विद्वानों की तृप्ति से मेरी तृप्ति होगी। अतः यज्ञ में विद्वान् की तृप्ति होने से यज्ञ की तृप्ति होती है। यह एक उपलक्षण मात्र है। वस्तुतः यज्ञ के सभी अंगों के पूर्ण होने में यज्ञ की पूर्णता है। इसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहनी चाहिए। इसलिए यज्ञ मख है। यज्ञ पद की व्युत्पत्ति को स्वयं यजुर्वेद ३१।१५[६] अध्याय का मंत्र पुष्ट करता है। मंत्र में कहा गया है कि यज्ञ अर्थात् अग्नि और यज्ञ के साधन से विद्वान् जन यज्ञ को सम्पन्न करते है। यहाँ पर यज्ञेन, यज्ञम् और अयजन्त पद पड़े हुए हैं। इस प्रकार यह व्युत्पत्ति और निरुक्ति के आधार पर यज्ञ पद का अर्थ किया गया।

यज्ञ पद का अर्थ किया गया परन्तु इतने से ही कार्य पूर्ण नहीं होता है। यज्ञ की परिभाषा भी शास्त्रों में की गई है। यह एक पारिभाषिक पद भी है। यज्ञ के जहाँ अनेक ज्ञान-विज्ञान आदि अर्थ हो सकते हैं वहाँ कर्मकाण्ड की दृष्टि से इसका क्या तात्पर्य है—यह भी तो ज्ञात होना चाहिए। इसलिए शास्त्रकारों ने यज्ञ की परिभाषा वा लक्षण भी किये हैं। लक्षण वास्तविकता और विशेषता पर आधारित होता है। यज्ञ की परिभाषा करते हुए कात्यायन श्रौतसूत्र के परिभाषा[७] प्रकरण में लिखा गया है कि जिसमें मंत्रपूर्वक मंत्र-सिद्धान्तानुसार दधि, व्रीहि, यव आदि द्रव्य मंत्रों के देवताओं के अनुसार प्रयोग किये जावें और देवता-निमित्तक त्याग हो ऐसे कर्म का नाम यज्ञ है। जैमिनि ने मीमांसा[८] ४।२।२८-२९ में कात्यायन के इसी भाव को स्वीकार किया है। इस प्रकार घृत, सामग्री अन्न आदि द्रव्य, यज्ञदेवता और 'इदन्न मम' रूपी त्याग आदि जिस कर्म में पाये जावें वह यज्ञ है। जैमिनि के अनुसार जिस उत्तम कर्म में यज्ञ-कर्म की प्रेरणापूर्वक द्रव्य, देवता, त्याग आदि पाया जावे वह यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ वह विशिष्ट कर्म है जिसमें ऋत्विज्, यजमान, द्वारा घृत, सामग्री आदि का प्रयोग, यज्ञ देवता के लिए अग्नि में किया जाता है और 'इदन्न मम' आदि से त्याग किया जाता है। लक्षण पर यहाँ थोड़ा विचार अपेक्षित है। एक भड़भूजा यदि सामग्री वा घृत आदि को भाड़ में झोंकता है वा एक गृहस्थ स्त्री घी से दाल आदि छौंकती है तो यज्ञ नहीं कहलावेगा क्योंकि उसमें देवता और मंत्र आदि का प्रयोग और विधानपूर्वक क्रिया नहीं है। एक व्यक्ति केवल मन्त्र पढ़ता जावे और घृत आदि न डालें तो भी वह यज्ञ नहीं

होता क्योंकि उसमें देवता आदि का अभाव है। इसी प्रकार यज्ञ का जो लक्षण शास्त्रकारों ने किया है उसके अनुसार ही यज्ञ करना ठीक है। यज्ञ की इस परिभाषा की पार्श्वभूमि में ऋग्वेद[९] ८।१९।५ मंत्र की भावना कार्य कर रही है। मंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "जो उत्तमकर्मा मनुष्य समिधा से, आहुति से, वेद (मंत्रविधि) से अन्न वा त्यागक्रिया से अग्नि आदि देवता के लिए अग्नि में यज्ञ आदि को करता है वह इसके योग्य फलों को प्राप्त करता है।

यहाँ पर एक प्रश्न सहज में आता है कि यज्ञ क्या केवल वायु-शुद्धि और वर्षा के लिए ही किया जाता है अथवा उसका कोई फल अन्य भी है। इसका समाधान यह है कि यज्ञ करने पर वायु की शुद्धि होती और वर्षा भी होती है। परन्तु वह एक नैतिक कर्त्तव्य होने से उत्तम कर्म है। उसके करने से सुख आदि की प्राप्ति इस जीवन में होती है और वह इच्छापूर्ण नैतिक कर्त्तव्य होने से मन पर संस्कार वा अदृष्ट भी उत्पन्न करता है जो अगले जीवन में भी पुण्य रूप होने से फल का दाता है। स्वर्ग आदि के प्राप्ति में भी वह साधक है। यदि वह केवल वायु की शुद्धि, वृष्टि के संपादन और रोगनिवृत्ति मात्र के लिए ही होता तो फिर मंत्र बोलने, ऋत्विग्-वरण, देवता का निमित्त करके और 'इदन्न मम' बोलकर त्याग करने की कोई आवश्यकता ही क्या होती? साथ ही यह भी प्रश्न खड़ा होता कि फिर मौन बोलें या वाणी से बोलें आदि का क्या लाभ? स्विष्टकृत् और प्रायश्चित्त आदि का भी कोई महत्व नहीं रह जाता। कोई भी उसे कर सकता और किसी भी तरह कर सकता। फिर 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करे और यजमान आदि का कोई दूसरा प्रतिनिधि नहीं बन सकता तथा 'फलयुक्तानि कर्माणि' अर्थात् कर्म फलयुक्त होते हैं– आदि का विचार इस प्रसंग में व्यर्थ ही था।

नियम कर्म के सिद्धान्त में यह है कि इच्छापूर्वक जो कर्म किये जाते हैं वे मन पर संस्कार वा वासना अवश्य उत्पन्न करते हैं। वे कर्म या तो सकाम हों या निष्काम हों, या पाप हों या पुण्य हों। पापरूप वा पुण्यरूप कर्मों की वासनाओं का तदनुसार ही जाति, आयु और भोग रूप फल होता है। क्या यज्ञकर्म इन भावनाओं से

रहित केवल वायुशुद्धि के लिए ही हैं। नहीं, नहीं। वे वायुशुद्धि भी करते है और पुण्यरूप फलों वाले भी हैं।

पाश्चात्यों की त्रुटिमय धारणायें

वेद मंत्रों के अर्थ प्राचीन समय से या इस प्रकार कहना चाहिए कि वेद के मूल आशय प्रकरण को समझने की धारणा के साथ-साथ वेद मंत्रों से ही अब तक तीन प्रक्रियाओं में लगाये जाते हैं। ये तीन प्रक्रियायें हैं—आधियाज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। स्वयं ऋग्वेद में ही १०।७१।५।" पर इस तथ्य का उद्घाटन कर दिया गया है कि वेदमंत्र त्रिविध प्रक्रिया को अपने अन्तराल में लिए हुये हैं। इस स्थल पर मंत्र में पुष्प और फल पद पड़े हुए हैं। इस पुष्प और फल का अर्थ अधियज्ञ, अधिदेव और अध्यात्म है। यही वस्तुतः तीनों प्रक्रियाओं का उन्नायक है। इस वाक्य का अर्थ करते हुए महाभारत-कालिक यास्क अपने निरुक्त शास्त्र में कहते हैं कि" अर्थ को ही वाणी का पुष्प और फल कहा गया है और वह है यज्ञ, देवता एवं अध्यात्म। ये ही वेद वाणी के अर्थ हैं। यास्क के इसी स्थल का भाष्य करते हुए निरुक्त भाष्यकार स्कन्द स्वामी भी लिखते" हैं कि तीन प्रक्रियाओं की दृष्टि से सारे वेद मंत्रों का अर्थ किया जाना चहिए। क्योंकि स्वयं ही भाष्यकार (यास्क) ने सभी मंत्रों के तीन प्रकार के अथ दिखलाने के लिए अर्थ को वाणी का पुष्प और फल कहा है। तथा यज्ञ, देव और अध्यात्म का पुष्प और फल से ग्रहण किया है। इस प्रकार तीनों प्रक्रियाओं में वेदमंत्रों के अर्थ होते हैं। परन्तु मध्य के काल में कुछ पंडिताभिमानी वेदानभिज्ञ से इन प्रक्रियाओं का निर्वाह नहीं हुआ। इस दोष का सारा उत्तरदायित्व महीधर और सायण का है। इन्होंने वेदमंत्रों के अर्थ बहुत ही अनर्गल किये। यज्ञ की प्रक्रिया में ही बहुधा मंत्रों का अर्थ किया। महीधर तो वाममार्गी था। अतः उसने वेदमंत्रों के अर्थों को बहुत ही खराब तरीके पर लोगों के समक्ष उपस्थित किया। अस्तु जो कुछ भी हो सायण, उवट, महीधर आदि ने वेदों की प्रतिष्ठा को घटाया ही है—बढ़ाया नहीं।

वेद की इस यज्ञप्रक्रिया का पल्लवन करते हुए ब्राह्मण ग्रंथ, श्रौत सूत्र तथा गृह्य सूत्र आदिकों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है। ये यज्ञ वैदिक हैं और सदा वैदिक ढंग पर ही किए जाते रहे

हैं। मध्यकाल में श्रौतसूत्रों में भी कुछ मिलावट का प्रयत्न किया गया और इससे यज्ञ के स्वरूप में कुछ विकार भी आया। वाममार्ग के प्रचलन के समय में तो इस विकार का रूप बड़ा भयंकर हो गया था। परन्तु यहाँ यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि यह विकार न तो वैदिक यज्ञों के स्वरूप का है और न किसी हालत में वैदिक हो ही सकता है। यह तो हर हालत में अवैदिक ही रहा और अवैदिक रहेगा भी। वेदो में ऐसे विकृत यज्ञों के विषय में ऐसे विकृत यज्ञों का वर्णन नहीं। यज्ञका एक छोटासा इत्तिहास भी उपलब्ध होता है। यह वर्णन संपूर्ण यज्ञ की प्रक्रिया के प्रारंभ पर तो नहीं बल्कि आंशिक प्रारंभ और विस्तार पर प्रकाश डालता है। यह इतिहास भी इतना पुराना है कि अन्य धर्मों के जन्म का बीज भी उस समय उपलब्ध नही था। "मुण्कोपनिषद" १।२।१। में कहा गया है कि मंत्रों में जिन कर्मों को क्रान्तदर्शी ऋषियों ने देखा उनका त्रेता में बहुत विस्तार किया गया। त्रेता के दो महान् यज्ञों का वर्णन हमें मिलता है। महाराज दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था और दूसरा यज्ञ वर्षा के निमित्त विदेहराज जनक ने कराया था। जनक का यज्ञ उस समय हुआ था जब राज्य में दुष्काल पड़ा था। इतने लम्बे काल से ही नहीं अपितु उससे भी बहुत पूर्व अर्थात् वेदज्ञान के मानव में प्रकाशित होने के समय से यज्ञ का करना कराना वैदिक प्रक्रिया के आधार से बराबर चलता आ रहा है। श्रौतसूत्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत बड़े बड़े यज्ञों का वर्णन है। कल्पविद्या का विस्तार ही यह बतलाता है कि यज्ञ की प्रक्रिया बहुत विस्तार पा चुकी थी। मंत्र, ब्राह्मण और कल्प के वर्णन से शास्त्रकार यज्ञ की महत्ता का भान स्वयं करा देते हैं। कल्प को जो यज्ञ को बतलाने वाला विज्ञान है, छः वेदाङ्गों में एक वेदाङ्ग माना गया है।

यज्ञ शब्द का अर्थ और पाश्चात्य विद्वान्

वेदों और ब्राह्मणों में आये हुए यज्ञ का अर्थ पाश्चात्य विद्वान् अंग्रेजी में 'सैक्रीफाइस' करते हैं। लगभग सभी पाश्चात्य विद्वानों ने यज्ञ पद का यही अनुवाद किया है। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

ऋग्वेद १।१६।४ में मैक्समुलर ने "यज्ञं देवेभ्यः" पद का अनुवाद The Sacrificial horse which goes to the gods—किया है। पुनः

वहीं पर मंत्र में 'यज्ञेन' पद आया है और उसका अर्थ उसने Sacrifice ही किया है। मंत्र छठे में आये 'यूप' का अर्थ वह Sacrificial post करता है। १७ वे मंत्र में आये 'अध्वरेषु' का अर्थ At the Sacrifice ही करता है। ये प्रमाण मैक्समुलरकृत History of Anciant Sanskrit Literature, p 553 से आगे के कई पृष्ठों से लिये गए हैं। ऋग्वेद १।१४ पर यज्ञमध्वरम् वाक्य पर हर्मन ओल्डनवर्ग S.B.E. Vol XLVI Hymn to Agni पृष्ठ १ पर Sacrifice and Worship अर्थ करता ग्रिफिथ इसी पर अपने वेदानुवाद में लिखता है—Agni the perfect sacrifice। मेकडानल ने अपनी वैदिक रीडर पृष्ठ ६ पर इसी का अर्थ Worship and sacrifice किया है। ऋग्वेद १।१२।७ मंत्र में आये 'सत्यधर्माणमध्वरे' पर ओल्डन वर्ग लिखता है—Whose ordinances for the sacrifice are true.। अग्निर्यज्ञस्याध्वरस्य चेतति— ऋग्वेद १।१२८।४ पर पुन: Agni watches sacrifice service अर्थ करता है। ओल्डनवर्ग ने ऋग्वेद १।४४।३ में यज्ञानाम् का अर्थ 'of sacrifices' ही किया है। मैकडानल ने ऋग्वेद १।२।१,२।३५।१२,८। ३८।१ में आये 'यज्ञ' पद का अर्थ sacrifice ही किया है। यह वचन प्रमाण के रूप में मेकडानल के ऋग्वेद १।१।१ की टिप्पणी में (वैदिक रीडर में) देखे जा सकते हैं। आयुर्यज्ञेन कल्पताम् यजु: २२।३३ में यज्ञ पद कई बार आया है। उसका अर्थ करते हुये विण्टरनिट्ज ने जिस्वेस्टे डर इण्डियन लिटरेचर-भाग प्रथम पृष्ठ १५५ पर sacrifice ही लिखा है। म०ब्लूम फील्ड को भी यही स्वीकार है। वह भी अपनी पुस्तक The Religion of the Veda के पृष्ठ ३५ पर इसी का उद्धरण देता है। फ्रान्सिस ग्राण्ट ने अपनी पुस्तक Oriental Philosophy 1936 पृष्ठ ११ पर ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का उद्धरण दिया है। उसने भी प्रथम और चतुर्थ मंत्र का अर्थ करते हुये उनमें 'यज्ञ' पद का अर्थ Sacrifice ही किया है। पुन: वह अपनी इसी पुस्तक में पृष्ठ २१७ पर यजुर्वेद २३।६१-६२ मंत्रों के 'यज्ञ' पद का अर्थ Sacrifice करता है। ऋग्वेद १।६२।५ में आये 'विदथेषु' और ऋग्वेद ४।५१।२ में आये 'अध्वरे' पदों का अनुवाद ब्लूमफील्ड Sacrifice करता है। इस प्रकार यहाँ पर यह ज्ञान हो गया कि लगभग सभी नामी पाश्चात्य विद्वान् यज्ञ और उसके पर्यायवाची शब्दों का अर्थ Sacrifice करते हैं।

यदि इस पर गंभीरता से विचार किया जावे तो यह पता सहज मे ही लग जावेगा कि 'यज्ञ' पद का यह अर्थ ठीक नहीं हैं। इसके सम्बन्ध में यही कहना पडेगा कि या तो अंग्रेजी भाषा में यज्ञ-पद के पर्यायवाची शब्द देने की क्षमता ही नहीं है, या यह सब ईसाइयत के छाप से रिक्त नहीं हैं। वैदिक साहित्य का 'यज्ञ' शब्द इस अनुवाद की भावना से परे है। यज्ञ के लिए मुख्यत: यज्ञ, अध्वर और मख शब्दों का प्रयोग किया जाता है जैसा कि पूर्व दिखलाया जा चुका है। तीनों पदों में से किसी का भाव Sacrifice मे नहीं मिलता है। वेदों मे ये पद अनेकों बार प्रयुक्त है जिनका अर्थ भिन्न भिन्न है। यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति, प्रकार अर्थान्तिर को दिखाने की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों लगभग दो सौ तीन बार इसका प्रयोग हुआ है। इन में यज्ञ के विविध अर्थ पाये जाते हैं और Sacrifice शब्द में इन अर्थों की गन्ध भी नहीं पाई जाती है। यज्ञ पद का व्युत्पत्तिनिमित्तक और प्रवृत्ति निमित्तक अर्थ पूर्व पंक्तियों में दिखाया जा चुका है। अंग्रेजी का सैक्रीफाइस पद इसके किसी भी अंश को पूरा करनेमें असमर्थ है। अत: स्वीकार करना पडेगा कि अंग्रेजी के सैक्रीफाइस पद में वैदिक यज्ञ पद के अर्थ को बताने की असमर्थता है। इतना ही नहीं अंग्रेजी भाषा मे कोई भी एक पद इस प्रकार का उपलब्ध नहीं हो सकता है कि जो यज्ञ पद के अर्थ को बतला सके।

इस सैक्रीफाइस पद के प्रयोग में ईसाइयत का पुट

यज्ञ के लिए सैक्रीफाइस पद के प्रयोग में ईसाइयत का पुट भी है। यज्ञों की विकृति के इतिहास पर दृष्टि डालने और बलिदान कैसे प्रारम्भ हुए, इन पर विचार करने से इस बात का परिचय भली प्रकार मिल जाता है। आर्य लोग वैदिक यज्ञ और अग्निहोत्र आदि का संपादन सदा से करते रहे हैं। वैदिक साहित्य में इस यज्ञ एवं अग्निहोत्र आदि का स्थान बहुत ऊँचा है। आर्यजन प्रतिदिन प्रात: सायं अग्निहोत्र करते हैं। पारसियों ने जिस प्रकार बहुत से वैदिक सिद्धान्तों को अपने में लिया, उसी प्रकार इस कृत्य की शिक्षा भी उन्होंने अपने मत में वैदिक सिद्धान्तों से ली। इसे वे भी बहुत आवश्यक समझते थे। इस कृत्य का ठीक ठीक अर्थ पारसियों ने समझा हो, इसमें कुछ सन्देह है। इस यज्ञक्रिया का रूप पारसियों में भी उसी प्रकार बिगड़

गया, जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के समय में इसका रूप भारत में बिगड़ गया था। पारसियों के अग्निपूजक कहे जाने का भी स्यात् यही कारण है। पारसियों से यह यज्ञक्रिया यहूदियों ने सीखी और इनके हाथों में इसका रूप और भी दूषित हो गया। मांसभक्षी होने के कारण यहूदियों ने मांस की आहुतियां देनी प्रारंभ कीं। परन्तु यह बलिदान वे करते अग्नि में ही थे। बाइबिल में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। यात्रा की पुस्तक १५-२२ में ऐसा लिखा है कि ईश्वर ने मूसा से कहा—**मेरे लिए तू मृत्तिका की एक बेदी बनावेगा और उस पर जलती हुई शान्ति की आहुतियां देगा। अपनी भेड़ों और बैलों को चढ़ावेगा।** सब स्थलों पर जहाँ पर मैं अपना नाम लिखूं तेरे पास आऊँगा और तुझे आशीर्वाद दूंगा। पुनः पैदाइश की पुस्तक ८-२० में लिखा है कि '**और नूह ने ईश्वर के लिए एक वेदी बनाई और उसने प्रत्येक पवित्र पशु-पक्षी को लेकर प्रज्वलित अग्नि में बेदी पर आहुतियाँ दीं**"। मुसलमानों ने यह यज्ञकृत्य का विकृत रूप यहूदियों से ग्रहण किया, और अग्नि का उपयोग न समझ सके, अतः उन्होंने अपने बलिदानों से अग्नि को दूर कर दिया। केवल पशुओं का वध रह गया। बाइबिल में चूंकि पूर्वोक्त दिए गए प्रमाणों में यज्ञ का विकृत रूप स्पष्ट पाया जाता है, अतः उसी के आधार पर इस सैक्रीफाइस की कल्पना बलिदान के भाव को लेकर की गई होगी। यह है सैक्रीफाइस पद के प्रयोग में निहित ईसाइयत का पुट।

पाश्चात्य विद्वानों की कुछ यज्ञसम्बन्धी विकृत धारणायें

पाश्चात्य विद्वान सदा अश्वमेध, गोमेध और पुरुषमेध शब्दों के अर्थ उल्टे ही लेते रहे हैं। इनकी समझ में शायद यह नहीं आया कि 'मेधा' पद का अर्थ ज्ञान का विचार है। अश्व पद का भी घोड़ा ही अर्थ नहीं है, अग्नि अर्थ भी है। साथ ही 'गो' शब्द के भूमि आदि भी अर्थ हैं। जिनमें इन पदार्थों का ज्ञान हो वे इन सम्बन्धी यज्ञ हैं। इन्होंने किस प्रकार उल्टे अर्थ लिए—इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन यहाँ पर कराया जाता है। मैक्समुलर अपनी पुस्तक History of Ancient Sanskrit Literature. p 553 में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६२ वें सूक्त का अनुवाद इसी धारणा से करता है। प्रथम मन्त्र निम्न प्रकार है।—

मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र
ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः
प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि॥

इसका अर्थ मैक्समुलर निम्न प्रकार करता है—

May Mitra, Varuna, Aryaman, Ayu, Indra, the Lord of the Ribhus and the Maruts, not rebuke us because we shall proclaim at the sacrifice the Virtues of the horse sprung from the gods.

इसके आगे के मन्त्रों का अर्थ करते हुए मैक्समुलर ने अपने माने हुए अश्वमेध का पूरा चित्रण किया है। इसी प्रकार ब्लूमफील्ड ने Religion of the Vedas में पृष्ठ १२६ पर यजुर्वेद के २३वें अध्याय के ९, १०, ४७, ४८ मंत्रों का ट्रान्सलेशन करते हुए भी इसी धारणा का परिचय दिया है। वह संगति लगाते हुए कहता है—At the horse-sacrifice two priests ask and answer. यद्यपि मन्त्रों में इस प्रकार वा विषय का विचार नहीं है, फिर भी इन वाक्यों से वह इस बात को झलका देता है। वह कहता है कि अश्वमेध में ये ऋत्विजों के प्रश्नोत्तर हैं। वह 'गोस्तु मात्रा न विद्यते' का अर्थ करता है—The measure of cow is (quite) unkhown. वस्तुतः यहाँ पर 'गौ' का अर्थ वाणी है। परन्तु वह cow ही अर्थ करता है। 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' का अर्थ वह—This sacrifice is the navel of the univere करता है। पुनः 'अयं सोमो अश्वस्य रेतः' का अर्थ वह—This Soma (the intoxicating sacrificial drink) is the seed of the lusty stead (God Indra) इन अर्थों की यहाँ पर यद्यपि कोई समुचित संगति नहीं लगती, फिर भी उसने ऐसा अर्थ किया है। मोनियर विलियम्स "तस्माद्यज्ञात्" में Mystical Victim Purusha अर्थ समझता है। पाश्चात्य विद्वानों के ही चरण चिह्नों पर चलने वाले 'The Vadic Age' के कर्त्ता महोदय भी पृष्ठ २७८ पर लिखते हैं—Animal sacrifice are indicated by the Apri-sukta, and the horse-sacrifice was undoubtedly performed. The Purusha sukta does not describe an actual human sacrifice but merely preserves in all probability, the memory of it, as it was per-

formed in pre-historic times, because the Sunahshepa hymns of the Rigveda (1-24.30 and IX 3) are not exactly related to Sunahshepa of the Aitreya Brahman which is probably reminiscent of human sacrifice in prehistoric times. यहां इनके मत में भी अश्वमेध और पुरुषमेध उसी रूप में सिद्ध हैं जैसा कि ये पाश्चात्यों के मत में सिद्ध हैं। वैदिक एज के इन विचारों का निराकरण मैंने अपनी पुस्तक "वैदिक युग और आदि मानव" में कर दिया है।

वास्तविकता क्या है ?

अश्वमेध आदि के सम्बन्ध में पाश्चात्यों की भ्रान्तियों का निदर्शन कराया गया। अब वास्तविकता क्या है ? इसका कुछ निर्देश किया जाता है। पाश्चात्यों की ये भ्रान्तियाँ महीधर आदि भाष्यकारों के भाष्यों पर आधारित हैं। यह पूर्व लिखा जा चुका है कि महीधर वाममार्गी था। इसके भाष्य की कोई प्रामाणिकता नहीं। पाश्चात्य विद्वान् इतनी संस्कृत भी नहीं जानते कि वे मूल वेद और उसके साहित्य का अध्ययन कर सकें। अतः वे इन भाष्यकारों पर निर्भर करते हैं। साथ ही थोड़ा बहुत ईसाइयत का मोह भी है जो अन्दर विराजमान है। इसके अतिरिक्त ये मुख्य बात, जो वेदों के अर्थ करने में विविध प्रकिया और वेदों के शब्दों के यौगिकता की है उसको भूल जाते हैं। वेदों के सभी शब्द यौगिक हैं—यदि ऐसा समझकर अर्थ किया जावे तो गड़बड़ी की सम्भावना नष्ट हो जाती है। ये पाश्चात्य विद्वान् इस बात को जानते ही नही, या मानते ही नहीं। मैक्समुलर के पूर्व दिखलाये गये मंत्र के अर्थ को ही ले लिया जावे तो पता चलेगा कि ये महाशय कितनी गलती पर हैं। जिस सूक्त का यह प्रथम मंत्र है, उसका प्रतिपाद्य विषय अश्व है, अश्व सम्बन्धी उनका माना हुआ अश्वमेध नहीं। इसके अतिरिक्त यह भी सोचना चाहिए कि अश्व का अर्थ केवल घोड़ा ही नहीं है। वैदिक-साहित्य में अश्व पद के अनेक अर्थ हैं। ऋग्वेद १।२७।१और ३।२७।१४ को देखने से पता चलता है कि अश्व का अर्थ अग्नि अथवा विद्युत् है। शतपथ ब्राह्मण ३।६।२।५,६।३।३।२२,१।४।१।३० में अश्व अग्नि को कहा गया है। इस १।४।१।३० पर तो ऋग्वेद ३।२७।४१ मंत्र का हवाला देकर अश्व को अग्नि कहा गया है। तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में

अन्य अनेक स्थलों पर सूर्य और यजमान आदि अर्थ भी अश्व के दिखलाये गये हैं। फिर ऐसी स्थिति में यहां पर घोड़ा अर्थ ही लगाना कैसे संगत हो सकता है। आचार्य दयानन्द इस सूक्त का अर्थ करते हुये वेद और ब्राह्मणादि सम्मत अर्थ दिखलाते हैं। वे सूक्तगत मंत्रों का अर्थ करने से पूर्व अवतरणिका प्रस्तुत करते हैं—"अर्थात्" इस सूक्त में अश्व को शिक्षित करने की विद्या (Science of traning horses =horse-breaking) का वर्णन किया गया है, अथवा विद्युद्रूप में सर्वत्र व्याप्त अग्नि एवं ताप की विद्या (Science of heat which pervades everywhere in form of electricity) का वर्णन है। इससे सारा रहस्य खुल गया। अब इसी बिन्दु पर अर्थ भी सारे मंत्र का करना चाहिए। ऋषि दयानन्द के अनुसार अंग्रेजी में अर्थ इस प्रकार होगा।

We will describe the power-generating virtues of the energetic horses endowed with brilliant properties or the virtues of the vigorous force of heat, whieh learned or scientisfic men can evoke to work for purpose of appliances (not sacrifice). Let not philanthropists, noble men, judges, learned men and practical mechnies ever disregard these properties. (G.D.V.) एक ओर इस अर्थ को रख दिया जावे और एक तरफ मैक्समुलर का तो पता चलेगा कि मैक्समुलर को वेदमन्त्र के रहस्य का पता तक भी नहीं था। वह सायण आदि के पीछे चलने वाला है।

अश्वमेध शब्द का भी अर्थ वही नहीं है जो पाश्चात्य विद्वान् लेते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके भी भिन्न-भिन्न अर्थ दिए गए हैं। शतपथ १।४।२।१८, १३।५।१।५ में अश्वमेध का अर्थ सूर्य है। तथा ११।२।५।१ में चन्द्रमा को अश्वमेध कहा गया है। पुनः १३।२।२।१६ में राष्ट्र को अश्वमेध कहा गया है। १३।२।२।१ में यजमान और राजा को अश्वमेध कहा गया है। इसी प्रकार 'गो' शब्द के भी अनेक अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। शतपथ ७।५।२।१६ में अन्न का नाम गौ है। ऐतरेय ४।१५ में अन्तरिक्ष का नाम गौ है। शतपथ ५।४।३।१० में इन्द्रियों को गौ कहा गया है। इसी प्रकार वाणी और पृथ्वी को भी गौ कहा जाता है। सूर्य का भी नाम गौ है। निरुक्त २।२।१ को यहाँ पर प्रमाण रूप में देखना चाहिए। गोमेध वह यज्ञ है जिसमें गोवंश की वृद्धि और कृषि से अन्न आदि की उत्पत्ति का

विचार एवं कर्म है। पुरुष पद का अर्थ वैदिक-साहित्य में आत्मा और परमात्मा दोनों है। गोपथ ब्राह्मण कहता कि प्रजापति=परमेश्वर ने पुरुषमेध करके विराट् नाम को धारण किया। वाक्य इस प्रकार है—सः (प्रजापतिः) पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराडिति नामाधत्त। गो० पू० ५।८ शतपथ १३।३।१।१ से भी इसी बात की पुष्टि होती है। पुरुषमेध का अर्थ इसलिए आत्मा, परमात्मा और ब्रह्माण्ड सम्बन्धी विज्ञान है। इसीलिये यजुर्वेद ३१ अध्याय जिसको नरमेध कहते हैं, वह विराट् का ही वर्णन करता है। वहाँ पर किसी पुरुष को मारकर यज्ञ करने की कोई बात भी नहीं है। आप्रीसूक्त (ऋग्वेद १०।११० सूक्त तथा अन्य) पशुओं की बलि का प्रतिपादन करते हैं—यह गलत है। यह इस लिए कि आप्री शब्द का अर्थ ऐसा कहने वाले को ज्ञात नहीं है। यास्क ने ८।२।६ पर ऋग्वेद १०।११० सूक्त का हवाला देते हुए जो लिखा है, वह वहाँ पर देखना चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थ भी 'आप्री' का अर्थ ऐसा नहीं करते हैं जैसा कि ये लोग कर लेते हैं। ऋग्वेद १०।११० सूक्त में इध्म, अग्नि, तनूनपात्, इला, बर्हि, देवीद्वार, उषासानक्ता, दैव्याहोतारौ, प्रचेतसौ, तिस्रोदेव्यः, त्वष्टा, वनस्पतिः और स्वाहाकृतयः आदि देवता हैं। इनमें किसी से भी पशु-बलि का भाव नहीं निकलता। ऋग्वेद १।२४।३ से भी पुरुषमेध की सिद्धि नहीं होती। उस मंत्र का देवता सविता है। पुरुषमेध का भ्रम इसलिए हो रहा है कि वैदिक एज के लेखक के मस्तिष्क में शुनःशेप का इतिहास गूंज रहा है। ऋग्वेद के ९वें मण्डल का देवता पवमान सोम है। वहाँ भी शुनःशेप सम्बन्धी कोई घटना नही दीखती। वस्तुतः ये सब बातें पाश्चात्यों की कल्पना मात्र हैं, जो वेदों के वास्तविक अर्थ की उनकी अनभिज्ञता के कारण उठी हैं। वैदिक-साहित्य में प्रत्येक उत्तम श्रेष्ठ कर्म का नाम यज्ञ है। शतपथब्राह्मण १।७।१।५ में लिखा है कि यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। यही वास्तव में यज्ञ का रहस्य है। यजुर्वेद का १८वां अध्याय ही "यज्ञेन कल्पन्ताम्" से भरा है। यदि वहां यही सैक्रीफाइस अर्थ किया जावे, तो एक मंत्र की भी संगति नहीं लगेगी। यह अध्याय ही प्रकट कर रहा है कि वेद में यज्ञ शब्द से सभी श्रेष्ठतम कर्म विज्ञानादि अभिप्रेत है। इसीलिए यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि जितने मंत्रों में पाश्चात्य विद्वानों ने यज्ञ, अध्वर, मख, विदथ आदि शब्दों के अर्थ sacrifice किए हैं—वें सभी अर्थ अप्रामाणिक और अनर्गल है।

प्रमाण सन्दर्भ

१. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। १।७।१।५

२. आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणांछुश्रूवुषोऽनूचानान्। श० २।२।२।६; द्वया वै देवाः। अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवान्सोऽनूचानासो मनुष्यदेवाः। श० २।२।२।६ ; ४।३।४।४

३. यज्ञः कस्मात्! प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ता याञ्चो भवति इति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहु कृष्णाजिन इत्यौपमन्यवौ यजूंष्येनं नयन्तीति वा। नि० ३।४।१९

४. देवान् हवै यजमानान् सपत्ना असुरा दुधूर्षाञ्चक्रुः……ते न शेकुर्धूवितुं……अध्वरो नाम। श० १।४।१।४०

५. मख इत्येतद्यज्ञनामधेयं छिद्र प्रतिषेध सामर्थ्यात् छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः। गोपथ २।५

६. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। यजु० ३१।१५

७. द्रव्यं देवता त्यागः

८. यजति चोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदायं कृतार्थत्वात्। मीमांसा ४।२।२८-२९

९. यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्त्तो अग्नये। यो नमसा स्वध्वरः………ऋग्वेद ८।१९।५

१०. वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्। ऋ० १०।७१।५

११. अर्थं वाचः पुष्पफलमाह–याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। निरुक्त १।२०

१२. सर्वदर्शनेषु च सर्वे मंत्रा योजनीयाः। कुतः स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमंत्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय—अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।

१३. मन्त्रेषु यानि कर्माणि कवयोऽपश्यन् तानि त्रेतायां बहुधा सततानि। मु० १।२।१

१४. अथाश्वस्य विद्युद्रूपेण व्याप्तस्याग्नेश्च विद्यामाह।

द्वितीय प्रकरण

यज्ञों का उद्भव

वेद समस्त सत्य ज्ञान-विज्ञान के भण्डार हैं। वेदों में ही विविध यज्ञों का भी वर्णन पाया जाता है। वेदों से ही यज्ञ का उद्भव हुआ। यह कहना कि यज्ञ की प्रक्रिया बाद में कल्पित की गई होगी, ठीक नहीं। वेदमंत्रों के अर्थ जैसा पूर्व प्रकरण में बताया जा चुका है त्रिविध प्रक्रिया में होते हैं। इन त्रिविध प्रक्रियाओं में यज्ञ का भी प्रकरण है। यज्ञ का वेद से उसी प्रकार सम्बन्ध है जिस प्रकार देवता और अध्यात्म प्रकरणों का है। प्रथम तो जो लोग वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का इतिहास लिखते हैं स्वयं एक गलत मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं परन्तु यह कहना उनका सुतराम् और अत्यधिक आपत्तिजनक है कि यज्ञार्थ की प्रक्रिया नवीन है। पहले अध्यात्म और अधिदैव और बाद में यज्ञार्थ की कल्पना की गई—यह ठीक नहीं। वेद मंत्रो में तीनों विषय तब से ही हैं जब से वेद मंत्र हैं। आगे पीछे कहना अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है ऋग्वेद १०।७१।५ में आये वाचं शुश्रवान् अफलामपुष्पाम् और उस पर किए गए यास्क के अर्थ से ही सिद्ध है कि यज्ञप्रक्रिया भी वेदवाणी का पुष्पफल, उसी प्रकार है जिस प्रकार अन्य प्रक्रियायें हैं। यदि यज्ञों की कल्पना इन इतिहास लिखने वालों के अनुसार बाद की है तो फिर वेदों में विशेष यज्ञों के नाम किस प्रकार आये। क्या वे बाद में इनमें मिला दिए गए हैं। ये लोग वस्तुतः वेद का पोषण नहीं कर रहे हैं बल्कि वेद की मर्यादा को नष्ट कर रहे हैं। एक पुस्तिका छोटी सी छापी गई, जिसका नाम है "वेदार्थ की विविध प्रक्रियावों का ऐतिहासिक अनुशीलन"। इस पुस्तक में दिखाये गये कतिपय विचार वैदिक धारणा के प्रतिकूल है और भ्रांन्ति उत्पन्न करने वाले हैं। यज्ञ प्रयोगात्मक विज्ञान है। इसमें लगभग सभी विज्ञानों का समावेश हो जाता है। कोई भी ज्ञान प्रयोग को लेकर चमकता है। जहाँ अध्यात्म और दैवत विज्ञानों की

आवश्यकता है वहां यज्ञ-विज्ञान भी परमावश्यक है। आचार्यों ने मंत्रार्थ संगति के लिए जो प्रकरण माने हैं उनमें यज्ञ भी एक है। यज्ञ का उद्भव वेद मंत्रों से हुआ है। इसके अतिरिक्त विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वैदिक सृष्टिविज्ञान और सृष्टि की प्रक्रिया यज्ञ पर आधारित है। प्रकृति से यह तत्व और उसके पीछे तन्मात्रों तक के कार्य पदार्थ जब उत्पन्न हो जाते हैं तो पीछे देवों के यज्ञ द्वारा सृष्टि का विकास चलता है। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः का एक बहुत उत्तम भाव है कि दैवी शक्तियाँ अग्नि से यज्ञ का प्रकार बनाती हैं। दूसरा भाव यह है कि दिव्य शक्तियाँ अग्नि और यज्ञमयी क्रिया से यज्ञ अर्थात् संसार के पदार्थों का संगतिकरण आदि करती हैं। यजुर्वेद[1] ३१।१५ में यह भावना पुष्ट की गई है और लिखा गया है दैवी शक्तियों ने संसाररूपी यज्ञ का विस्तार करते हुए पुरुष को उसमें पशुरूप से बांधा। अर्थात् संसार के भोक्ता रूप में बांधा। वेदों में विराट्रूप से जो संसार की उत्पत्ति का वर्णन पाया जाता है वह यज्ञ की प्रक्रिया का रहस्य बतलाता है। दैवी शक्तियों का महान् यज्ञ होकर सृष्टि का उत्पादन होता है। यजुर्वेद १७ अध्यायमें विश्वकर्मा भौवन का यज्ञ वर्णित[2] है। यहां पर वस्तुतः यज्ञ रूप में संसार की रचना आदि का वर्णन है। यास्काचार्य ने भी विश्वकर्मा भौवन के यज्ञ का वर्णन निरुक्त में किया है। वस्तुतः यह यज्ञ क्या है? विश्वकर्मा अर्थात् विश्व है कर्म जिसका अथवा समस्त विश्व सम्बन्धी कर्मों वाला अथवा विश्व का कर्त्ता भगवान् ही विश्वकर्मा है। वह भौवन इसलिए है कि भुवन का कर्त्ता, उसमें व्यापक और उसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि का करने वाला है। वह विश्वकर्मा भगवान् जगत् के समस्त पदार्थों की संगति लगाता है। वही विश्व का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता है। यह विश्व उसका यज्ञ है।

एक प्रश्न यह उठता है कि विश्व को रचना को यज्ञ क्यों कहा गया? इसका कारण क्या है? समाधान इसका यह है कि वेदों में पुरुषसूक्त से सृष्टि रचना पर प्रकाश डाला गया है। पुरुषसूक्त में वर्णन जो कुछ भी किया गया है विराट् और यज्ञ के रूप में किया गया है। यज्ञ में देव-पूजा की भावना है। जहाँ संगतिकरण है वहाँ देवपूजा भी है। इसी प्रकार पुरुष=जीवात्मा और पुरुष=परमात्मा के बिना विराट् वा सृष्टियज्ञ का कार्य चल नहीं सकता है। इस

प्रकार सृष्टि में जहाँ क्रिया (Thesis) हो वहाँ प्रतिक्रिया (Antethesis) भी है। परन्तु कोई रचना वा संगतिकरण बिना समन्वित क्रिया के हो नहीं सकता है। अतः सृष्टि-रचना क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वित क्रिया से होती है। यज्ञ में भी यह समन्वय पाया जाता है। संगतिकरण जहाँ संयोग (Integration) और विभाग (Disintegration) से सम्बद्ध है वहाँ उसमें समन्वय (Unity and uniformity with order and purpose) भी है। इस प्रकार जगत् केवल भौतिक नहीं है। वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों से समन्वित है। उसका इतिहास केवल भौतिक नहीं अपितु आध्यात्मिक भौतिक है। जगत् केवल क्रिया प्रतिक्रिया का फल नहीं है बल्कि उसमें समन्वित क्रिया का भी खेल है। उसका इतिहास भौतिक मात्र (Only materialistic) नहीं आपितु प्रकृतिपुरुषात्मक (Spirituo-materialistic) है। इसी लिये इसे यज्ञ कहा गया है और इसे पुरुष के द्वारा किया गया बतलाया गया है।

एक प्रश्न का यहाँ पर और भी समाधान करना आवश्यक है। वह यह है कि पूर्व प्रकरण में मुण्डकोपनिषद् का उद्धरण देकर त्रेता में यज्ञकर्मों का अधिक विस्तार बताया गया है। उससे यह नहीं समझना चाहिए कि यज्ञ की प्रक्रिया का उद्भव त्रेता युग में हुआ। प्रथम तो इससे कोई इतिहास का तारतम्य खड़ा नहीं होता है क्योंकि इसमें यह नहीं बताया गया किस त्रेता में यह विस्तार हुआ। सृष्टि के दो अरब वर्षों के लम्बे काल में त्रेता कई बार बीत चुके हैं। केवल एक ही त्रेता का कोई प्रश्न नहीं। इसके अतिरिक्त उस प्रकरण में साफ लिखा है कि मंत्रों अर्थात् वेद मंत्रों ' में जिन कर्मों को क्रान्तदर्शी ऋषियों ने देखा उनका त्रेता में बड़ा विस्तार था। इस प्रकार इन कर्मों का उद्गम तो मंत्रों से ही सिद्ध होता है।

पुरुष सूक्त जो चारों वेदों में पाया जाता है, के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी वेदों में यज्ञों का वर्णन है। ऋग्वेद १० मंडल के १३०वें सूक्त का देवता भाववृत्त अर्थात् सत्ता है। इस में सृष्टि का वर्णन यज्ञात्मक रूप में किया गया है। सूक्त में यज्ञ रूपी वस्त्र का विस्तार बड़े मनोज्ञ ढंग पर किया गया है। इसमें यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले वैदिक छन्दों, देवताओं आदि का वर्णन किया गया है। पहले मंत्र में बतलाया गया है कि सृष्टि की देव शक्तियाँ जिस यज्ञ को बुनती हैं

वह शत कर्मों क्रियाओं से विस्तृत है। यजुर्वेद ८/६१ में बताया गया है कि ३४ देवता इस सृष्टि यज्ञ का विस्तार कर रहे हैं। ६२ वें मन्त्र में कहा गया है कि यज्ञ का प्रभाव सर्वत्र विश्व में व्याप्त हो रहा है और आठ दिशाओं को व्याप्त कर रहा है।

यज्ञ का हम प्रारम्भ नहीं विस्तार करते हैं

हम यज्ञ का प्रारंभ नहीं करते हैं विस्तार करते हैं। विश्व में भगवान् का यज्ञ चल रहा है और निरन्तर चल रहा है। हम उससे मिलान और संगतिकरण कर अपने जीवन को बनाने के लिए भगवान् द्वारा बताये यज्ञों का विस्तार करते हैं। यज्ञ करना तो परमेश्वर का काम है। हमारा कार्य प्रारंभ करना वा करना नहीं अपितु विस्तार करना है। यही कारण है कि यज्ञ के साथ कहीं पर 'कृञ्' का प्रयोग नहीं मिलता है। हम अपने कर्मों को तो करते हैं परन्तु यज्ञ का विस्तार ही करते हैं, उसे करते नहीं। यज्ञ के साथ सर्वत्र 'तनु' विस्तार धातु का प्रयोग पाया जाता है। यजुर्वेद ३४/४ में कहा गया है कि येन यज्ञस्तायते; पुनः ३१/१५ में लिखा है देना यद्यज्ञस्तन्वाना; शतपथ ५/२/२/१८ य एष यज्ञस्तायते; शतपथ १/१/१/१२ यज्ञमेवैतद् वितनोति शतपथ १/१/१/३ देवा वै यज्ञं तन्वानाः; ऐतरेय १/१।४ तस्मै त्वया यजं वितन्वेत; ऐतरेय ६/२/७ देवा वै यज्ञमतन्वत; में भी यज्ञों का विस्तार करना ही लिखा है। इस विस्तार की भावना के अनुसार ही यज्ञ का नाम आतान और वितान है। आतान इसलिये इसे कहा जाता है क्योंकि इसका सर्वप्रकार से विस्तार होता है। वितान इसका नाम इसलिए है कि यह विशेष प्रकार से विस्तार में लाया जाता है।

प्रश्न यहाँ पर यह उठता है कि फिर वह विस्तार क्या है। इस का उत्तर यह है कि देवता आदि सभी यज्ञ के उपकरणों के साथ संगतिकरण, देवपूजा और दान का समन्वय करना। यह विस्तार किस प्रकार किया जाता है वेद स्वयं इस पर प्रकाश डालता है। ऋग्वेद १०।८३।२ में कहा गया है ' कि जो मनुष्य ज्ञान से श्रोत्रिय हो जाता है वह यज्ञों में इन देवों का संगतिकरण करता है अथवा इन्हें तुष्ट करता है। इस मंत्र से देवों को यज्ञ देवता बनाकर प्रयोग करने और यज्ञ को करने की भावना मिलती है। विष्णु यज्ञ का महान् देव है और महती शक्तियों की प्राप्ति के लिए उसके निमित्त यज्ञ का विस्तार किया जाता है। इस भाव को अथर्ववेद १७।१।१८ में इस

प्रकार व्यक्त किया गया ' है। मंत्र में कहा गया है कि 'हे विष्णु ! तू
ही इन्द्र आदि है। तेरे लिए ही यज्ञों का विस्तार होता है। तुम्हारे
लिए यज्ञ करने वाले विविध शक्तियों को प्राप्त करते हैं। इस मंत्र
से यह प्रेरणा मिलती है कि विष्णु देवता के निमित्त कही हुई सफ-
लताओं की प्राप्ति के लिए यज्ञ करना चाहिये। यज्ञ में देवताओं को
निश्चित करके यज्ञ करना चाहिये। बिना देवता के यज्ञ नहीं हो
सकता है, यह धारणा अथर्ववेद १६।५७।६ में मिलती है। मन्त्र का
भाव स्पष्ट यह है कि यज्ञों में देवों का भाग निश्चित करके यज्ञ
किया जाता है। पुनः अथर्ववेद १६।१।१२ में यह दिखाया ' गया है
कि यज्ञ की वाणी को बढ़ाते हुए अर्थात् मंत्रोच्चार के साथ हम
हवि से पूर्ण करें। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मंत्र बोलकर
हवि से यज्ञ करना चाहिये। अथर्ववेद १५।६।१४-१५ में आहवनीय,
गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान आदि का वर्णन मिलता है। वहीं
पर नवें मंत्र में ऋचायें, यजुः, साम और ब्रह्म अर्थात् अथर्व मंत्रों का
भी वर्णन है। पुनः अथर्व के उच्छिष्ट सूक्त ११।७।५-१२ मंत्रों में
यज्ञाङ्ग, राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्क, अश्वमेध, अग्न्याधेय,
दीक्षा, उत्सन्न यज्ञ, सत्र, अग्निहोत्र, दक्षिणा, इष्ट, पूर्त्त, एकसत्र,
द्विरात्र, चतूरात्र, पञ्च रात्र, षड्रात्र, षोडशी, विश्वजित्, सह्नाति-
रात्र, प्रतीहार, अभिजित् तथा द्वादशाह आदि यज्ञों और यज्ञाङ्गों का
वर्णन मिलता है। इसके बाद पुनः अथर्व ७।४५।१ में ऋक् ' और साम
से कर्मों के करने का वर्णन मिलता है। यह वर्णन स्पष्ट कर देता है
कि मंत्रों से ही यज्ञों को करना चाहिये।

अथर्ववेद २०।१५।४ में कहा गया है कि हम सभी अपने शुभ
कर्मों को परमेश्वर के नाम के साथ प्रारम्भ करें। यह ही मंत्र संस्कार
आदि शुभ कर्मों में ईश्वर स्तुति आदि करने का ज्ञापक मालूम
पड़ता है। ऋग्वेद ८।१६।५ में यह प्रेरणा मिलती है कि जो मनुष्य
समिधा से, आहुति से, और वेद मंत्रों से अग्नि में यज्ञ करता है वह
अश्व, यश आदि को प्राप्त करता है और उसे इन्द्रियजन्य तथा शरीर
जन्य अयश और बुराइयां नहीं सतातीं। समिधा अग्नि दुवस्यत०
आदि यजुर्वेदीय मंत्र स्वयं बतलाता है कि समिधा से अग्नि को
प्रज्ज्वलित करो, घी से प्रदीप्त करो और इसमें हवि डालो। ऋग्वेद
१०।१२८।७ में ऐसा वर्णन मिलता है कि इस यज्ञ की अश्विनी, बृह-

स्पति आदि देवगण रक्षा करें और यजमान को अनर्थ से बचावें।
इसी प्रकार ऋग्वेद २।११।२१ में आया है कि हे इन्द्र ! यज्ञ में
उत्तम सन्तान वाले हम तेरा गुण गान करें।

वेद और यज्ञ की सामग्री आदि

यज्ञों का जहां वेद मंत्रों में वर्णन है वहाँ समिधा आदि सामग्री
का भी वर्णन मिलता है। यजुर्वेद ३।१ में समिधावों से अग्नि का
जलाना, घृत की आहुति से प्रदीप्त करना और हवि डालने का
विधान किया गया है। यजुर्वेद ' १७।७६ मंत्र में यज्ञ की अग्नि के
लिये सात समिधायें बतलाई गई हैं वे सात समिधायें—आम्र,
बिल्व, पीपल, बड़, उदुम्बर, पलाश और खदिर हैं। सात प्रकार
की अग्नि ज्वाला में यज्ञ करने का विधान है। वे सात ज्वालायें है—
काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, विस्फुलिङ्गिनी,
रूपवती। सात ऋषि अर्थात् सात द्रष्टावों की एकाग्रता से यह
सम्पन्न होता। वे हैं—आंख दो, कान दो, मुख एक, नासिका दो।
इसके सात प्रिय धाम अर्थात् छन्द हैं। इन्हीं सात का प्रयोग यज्ञ
में होता है वे हैं—गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप, विराट्, बृहती, जगती
और शक्वरी। सात प्रकार के ऋत्विज् यज्ञ में कार्य करते हैं। वे हैं—
ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, आग्नीध्र, पोता और ब्राह्मणाच्छंसी।
सात प्रकार की यज्ञ संस्थायें हैं। इन्हीं को सात प्रकार का यज्ञ भी
कहा जाता है। ये हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी,
अतिरात्र, आप्तोर्याम और वाजपेय। यह सात चितियों वाला है।
इसी लिये इसे सप्तयोनी कहा जाता है।

यजुर्वेद ' १६।२१ में कुछ यज्ञ की सामग्रियों का वर्णन मिलता है
जो इस प्रकार हैं—धान, करम्भ, सक्तु, परीवाप, पय, दधि,
आमिक्षा, अन्न और मधु। ये सौत्रामणि याग की सामग्री हैं। सौत्रा-
मणि याग का वर्णन शतपथ १२।७ में और कात्यायन श्रौतसूत्र की
१६ वीं कण्डिका में किया गया है। इसी सौत्रामणि के प्रकरण में
'मासर' और 'नग्नहु' का वर्णन भी यजुर्वेद में पाया जाता है।
कर्कन्धुचूर्ण का भी वर्णन मिलता है। विरूढ व्रीहि धान शष्प हैं।
विरूढ यवों को तोक्म कहा जाता है। भुने हुए धान को लाजा कहते
हैं। सर्ज की छाल, त्रिफला, शुण्ठी, पुनर्नवा, चतुर्जातक, पिप्पली,

राजपिप्पली, वंशावका, वृहच्छत्रा, चित्रका, इन्द्रवारुणी, अश्वगन्धा, धात्यक, यवानी, दोनों जीरा, दोनों हरिद्रा, विरूढ यव, और व्रीहि एक कर देने पर 'नग्नहु' कहलाते हैं। धान और श्यामक के चावल को बहुत अधिक जल में पका कर चरू बना लेने पर इन दोनों भातों का जो बहुत पतला उष्ण जल है उसमें 'नग्नहु' शष्प, तोक्म, लाजा के चूर्णों के मिलाने पर मासर कहलाता है। इसी प्रकार धान शब्द से भुना धान अभिप्रेत है। उसे ही लाजा भी कहा जाता है। उदक मन्थ को करम्भ कहा जाता है। सक्तु प्रसिद्ध है। यह यव को भून कर बनाया जाता है। परीवाप हविष्पंक्ति है और पय दुग्ध का नाम है। दधि प्रसिद्ध वस्तु है। दही, दूध और मीठे के मिलाने से आमिक्षा बनती है। मधु लोक में प्रसिद्ध है। ये सब द्रव्य सौत्रामणि याग में प्रयुक्त होते हैं। पुरोडाश का वर्णन और उसके निर्माण का प्रकार भी वैदिक साहित्य में पाया जाता है। इस प्रकार यह ज्ञात हुआ कि यज्ञ का उद्भव वेद से ही है। वेद ही वह स्रोत हैं जिनसे विविध यज्ञों का प्रकार और रूप निश्चित किया गया।

प्रमाण सन्दर्भ

१. देवा यद्यज्ञस्तन्वाना अवध्नन् पुरुपं पशुम्। यजु० ३१।१५।३१
२. विश्वकर्मन्.............................. यजु० १७।१७,२२
३. मंत्रेषु यानि कर्माणि कवयोऽपश्यन् तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। मु० १।२।१
४. यज्ञे यज्ञे स मर्त्यो देवान्त्सपर्यति। यः सुम्नंर्दीर्घश्रुत्तम आविवासत्येनान्। ऋ० १०।८३।२
५. त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः। तुभ्यं यज्ञो वितायते........... अथर्व० १७।१।१८
६. यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संश्राव्येण हविषा जुहोमि। अथर्व...... १६।१।१२
७. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः॥ अथर्व ७।५४।१
८. सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्तयोनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा। यजु० १७।७९
९. धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि।
सोमस्य रूपम् हविष आमिक्षा वाजिनम्मधु॥ यजु० १९।२१

तृतीय प्रकरण

विनियोग-विज्ञान

विनियोग-विज्ञान एक जटिल विज्ञान है। विनियोग का अर्थ ताल मेल बैठाना वा निश्चितीकरण है। किस मंत्र के साथ क्या क्रिया वा कर्म किया जावे इसका ताल मेल बैठाना विनियोग है। इस विज्ञान में मन्त्र के अर्थ और यज्ञ कर्मों की संगति देखकर निश्चय किया जाता है। यह विज्ञान वस्तुतः वेद के छः अङ्गों में एक अङ्ग है। इसी का नाम कल्प है। वेदज्ञ ऋषियों ने जो क्रान्तदर्शी और साक्षात्कृद्धर्मा थे मन्त्रों का सम्बन्ध उनकी भिन्न भिन्न क्रियाओं के साथ जोड़ा। कल्प का अर्थ साधारणतया लोग कल्पना करते है। परन्तु यह कल्पना इतनी सरल नहीं यह समर्थ कल्पना होती है और यज्ञ एवं कर्मकाण्ड की समृद्धि के लिए और रूप-समृद्धि के लिए होती है। जिस क्रिया के बताने में मन्त्र समर्थ है और उसका अर्थ मेल खाता है उसी के साथ यह कल्पना होती है। इस प्रकार का विनियोग विज्ञान जो निकाला गया उसी का नाम कल्प है। ऋषियों ने वेद मन्त्रों का अनुसंधान करके ही इस शास्त्र को जन्म दिया। इस अनुसंधान का सुसंगत प्रकार है। वह यह है कि यज्ञ प्रक्रिया के अनुसार वेद मन्त्रों का अर्थ कर उसे कर्म से सम्बन्ध जोड़ने में वेद वाणी का अर्थ भी उसी ढंग पर किया जाता है। वेद की वाणी को याज्ञिक लोग तीन प्रकार से विश्लेषित करते हैं। वे हैं मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प। मन्त्र का अर्थ है वेद की संहितावों के मन्त्र। इन मन्त्रों में विविध प्रकार के सत्य ज्ञान-विज्ञान भरे पड़े हैं। वेद मन्त्र परम कारुणिक भगवान् के दिए हुए हैं। ये किसी मनुष्य की रचना नहीं हैं। इन्ही के आधार पर समस्त ज्ञानों और कर्मों की सिद्धि होती है। ये मन्त्र याज्ञिक प्रक्रिया के ऋक्, यजुः और साम नाम से परिभाषित हैं। ये त्रयी विद्या इसी लिए कहे जाते हैं। वेद चार हैं ऋक्, यजुः,

साम और अथर्व। परन्तु इनमें मंत्र तीन प्रकार के हो हैं। मीमांसा में इसीलिए याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरोध से चारों वेदों के मन्त्रों की तीन प्रकार की संज्ञा बांध दी है। ऋक्, यजुः और साम। ऋक् वह है जिसमे पाद व्यवस्था है। साम वह है जो गान का आकर है। शेष जो रह जाता है वह यजुः है।

ब्राह्मणपद का प्रयोग ब्रह्मा आदि के द्वारा किये गए वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों के लिए किया जाता है। शतपथ, गोपथ ऐतरेय आदि ब्राह्मण कहे जाते हैं। परन्तु यदि ये ब्रह्मा आदि ऋषियों द्वारा किये गए वेदों के व्याख्यान ही हैं और इनका कोई अन्य तात्पर्य नहीं है तो फ़िर इनका वेद में वर्णन तो हो ही नहीं सकता है। क्योंकि ये तो फ़िर वेदों के बाद ही बनेंगे। वेद में इसका वर्णन किस प्रकार हो सकता है। परन्तु अथर्व वेद १५।६।११ में इतिहास, पुराण गाथा और नाराशंसी आदि के वर्णन के साथ इस शब्द का भी वर्णन आता है। इतिहास शब्द से प्रचलित इतिहास का ग्रहण नहीं है। इतिहास का अर्थ वहां पर यह है कि अदिति अर्थात् प्रकृति से देवों अर्थात् सृष्टि गत पदार्थों की उत्पत्ति के प्रकार का ज्ञान। इसी प्रकार पुराण का अर्थ सृष्टि-विद्या है। अथर्व ११।८।७ में यह बात स्वयं वेद ने स्पष्ट कर दी[1] है। अथर्व ११।७।२४[2] में पुराणं यजुषा सह पाठ आया है। पुराण अर्थात् सृष्टिविद्या जो यजुः के ३१ वें ३२ अध्याय में है उसके साथ कर्म का विषय जानना चाहिए। जिस प्रकार का सृष्टिविज्ञान होता है उसी प्रकार कर्मकाण्ड को नींव भी पड़ा करती है।

गाथा से तात्पर्य उन मन्त्रों से है जिनमें संवाद के रूप में ज्ञान का वर्णन मिलता है। नाराशंसी वे मन्त्र हैं जिनमें माता, पिता आदि अथवा यज्ञ का वर्णन मिलता है। यज्ञ में भी नर ही शंसा करते है अतः यज्ञ को नाराशंस कहा जाता है।

इस प्रकार ब्राह्मण का अर्थ वह विज्ञान है जिससे यज्ञ के रूप की समृद्धि, उसके उद्देश्य को सिद्धि और उसकी प्रशस्ति द्वारा लोगों में उसके प्रति श्रद्धा का उत्पादन होता है। अर्थवाद प्रायः इसी उद्देश्य को पूरा करते हैं।

कल्प उस विज्ञान का नाम है जिसमें मन्त्रों का विविध कर्मों में विनियोग किया जाता है। यास्क का निरुक्त की अवतरणिका में यह

कथन है कि मनुष्य की विद्या अनित्य होने से कर्म की सिद्धि करने वाले मन्त्र वेद में हैं अथवा यह भी अर्थ उस वाक्य का हो सकता है कि पुरुष अथवा परमेश्वर की विद्या नित्य होने से कर्म के साधक मन्त्र वेद में हैं। दोनों अवस्थावों में विनियोग वेद मन्त्रों से ही सिद्ध होता है। अपने यजुर्वेदीय भाष्य में उवट ने कहीं का प्रमाण उद्धृत करते हुए लिखा[1] है कि परमेष्ठी प्राजापत्य ने जो यज्ञ देखे वे ही दर्श पौर्णमास हैं। वह पुनः कहता है[2] कि प्रजापति ने प्रथमा चिति का साक्षात् किया। मुण्डकोपनिषद् १।२।१ का वाक्य पूर्व प्रकरण में दिया ही जा चुका है जिससे साफ साफ़ प्रकट है कि ऋषियों ने वेद मन्त्रों में यज्ञ और कर्मकाण्ड की क्रियावों का साक्षात् किया। इससे यह स्पष्ट है कि ऋषियों ने वेद मन्त्रों का कर्मकाण्ड की विविध क्रियाओं में विनयोग किया।

विनियोग-विज्ञान के अनुसार श्रौतकर्म में विनियुक्त मन्त्र चार प्रकार की संज्ञा प्राप्त करते हैं। वे हैं—करणमन्त्र, क्रियमाणानुवादिमन्त्र, अनुमन्त्रण और जप मन्त्र। कल्पकारों द्वारा किए गए इन विनियोगों का अन्य विज्ञानों पर भी प्रभाव है। अष्टाध्यायी, यजुः प्रातिशाख्य के ये क्रमशः कहे गए सूत्र— यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु, तान ऐकस्वर्यम् आदि इसी भाव को प्रकट करते है। इनके द्वारा यज्ञ में वेद मन्त्रों के पाठ के समय एकश्रुतिऔर तान स्वर का विधान है। मीमांसा ने भी इसका प्रतिपादन किया है।

ऋग्वेद १०।१।११ में ब्रह्मा, होता, उद्गाता और अध्वर्यु जो यज्ञ के ऋत्विग् हैं इनकी योग्यता और कार्य का वर्णन किया गया है। विनियोग करने वाले कल्प सूत्रकारों ने कर्मों के भेद से मन्त्रों के विनियोग में भेद किए हैं। एक ही मन्त्र केवल एक कर्म के विनियोग में सदा के लिए विनियुक्त हो ऐसा सिद्धान्त नहीं। श्रौतकर्मों का श्रौत सूत्रों में वर्णन है और गृह्यकर्मों का गृह्य सूत्रों में। गृह्यसूत्रों में जो मन्त्र एक कार्य में विनियुक्त है वही श्रौत सूत्रों में अन्य कार्य में विनियुक्त है। वेद की शाखाओं के भेद से भी इस गृह्य और श्रौत कर्मों के विनियोग में भेद है। इसी प्रकार ऋग्वेदीय और यजुर्वेदीय भेदों से भी इन कल्प ग्रन्थों के विनियोग में भेद है। सभी वेदों के अनुसार उनके कल्प सूत्रों में उन्ही वेदों के मन्त्रों के अनुसार यज्ञों आदि के विनियोग में भेद है। इस प्रकार यहां पर यह समझना

चाहिए कि ऋषियों ने वैदिक यज्ञों को अर्थानुरोधेन देखकर उनके साधक कर्मों में मन्त्रों का विनियोग किया है जो कल्प सूत्रों और ब्राह्मणों में मिलते हैं ।

विनियोग की वैज्ञानिकता

विनियोग एक विज्ञान है। इसकी वैज्ञानिकता का प्रयोग आगे के प्रकरणों में भली प्रकार स्पष्ट हो जावेगा। यहाँ पर तो ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशन् की उक्ति के अनुसार एक साधारण सा दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है। वह श्रौत न ही गृह्य कर्म का है। गृह्य कर्म में सोलह संस्कारों का बहुत बड़ा महत्व है। इन संस्कारों में विवाह संस्कार का बड़ा विस्तार है। विवाह संस्कार की अन्य मुख्य क्रियाओं के साथ विवाह सम्बन्धी जो होम है उसमें अभ्यातान, जया-होम, राष्ट्रभृत् का बहुत बड़ा महत्व है। इसी प्रकार पाणिग्रहण और सप्तपदी आदि विधियों का भी महत्व अपना एक अनोखा ही है। परन्तु सम्पूर्ण कर्म को हम विवाह कहते हैं। यह विवाह की विधि का विनियोग किस प्रकार किया गया। कितना सोच समझ कर इस का कलेवर निर्धारित किया गया। किस प्रकार प्रत्येक क्रिया का समन्वय और संगतिकरण किया गया। यह बहुत गंभीर विचार की अपेक्षा रखता है। विवाह एक प्रकार से दो का मिलन है।[१६] वे दो अर्थात् कन्या और वर परिवार, समाज और राष्ट्र के हित दो देखते हुए इस प्रकार का मिलन स्वीकार करते हैं। यह मिलन कितना घनिष्ठ और अक्षुण्ण मिलन है। इसी पर पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन और ऐहिक पारलौकिक उन्नति का दारो-मदार है। यह एक प्रकार का नया जीवन वा जन्म होता है जो दो पूर्व अपरिचितों का सम्मिलन होकर हुआ करता है। इसमें समन्वय है। सब प्रकार की समतायें हैं। सब गुणों का भी समन्वयन होता है। यह एक संहित अर्थात् सम्मिलित वा संयुक्त प्रतिज्ञा है। अगर पति पत्नी संहत न रहें तो गृहस्थ नरक बन जावे। अतः इसमें सब कलाप संहित हैं। इस समानता को कहाँ से लाया गया। वेदों के घोर अध्ययन और अन्वेषण से ऋषियों ने इस साम्य का प्रतीक 'संहित' विश्वसाम को जाना। विश्व में एक विश्वसाम चल रहा है जो 'सा' और अम का संहित रूप है। उसी प्रकार 'सा'=पत्नी और 'अम' पति का यह संहित रूप विवाह है। अतः इस विश्व साम के आधार

पर विवाह के संकार की प्रक्रिया बनी। आइये ! इस पर थोड़ा विचार करें।

जब विवाह में 'सहित विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयो ऽप्सरसः आदि मन्त्र पढ़े जाते हैं तब इसी विश्वसाम का वर्णन किया जाता है। इस विवाह कर्म वा गृहस्थाश्रम का नाम देवहूति है। यज्ञ लगभग सभी देवहूति कहे जाते हैं। देवहूति इस लिए है कि इसमें देवा विद्वान्सो जुह्वति अथवा देवेभ्यो हूतिर्हवनं यस्याम् अर्थात् इसमें विद्वान् हवन करते हैं वा देवों के निमित्त हवन होता। कौन से देवों को इस विवाह यज्ञ में आहुति दी जाती है इसका वर्णन अभ्यातान होम में कर दिया गया है। उन देवों के नाम और वे किसके अधि-पति हैं, इत्यादि बातों का वर्णन नीचे तालिका के साथ दिया जाता है :—

अग्नि —	भूतों का अधिपति
इन्द्र —	ज्येष्ठों का अधिपति
यम —	पृथ्वी का अधिपति
वायु —	अन्तरिक्ष का ,,
सूर्य —	द्युलोक का ,,
चन्द्रमा —	नक्षत्रों का ,,
बृहस्पति —	ब्रह्म=वेद का ,,
मित्र —	सत्य का ,,
वरुण —	जलों का ,,
समुद्र —	नदियों का ,,
अन्न —	साम्राज्यों का ,,
सोम —	ओषधियों का ,,
सविता —	प्रसवों का ,,
रुद्र —	पशुओं का ,,
त्वष्टा —	रूपों का ,,
वरुण —	पर्वतों का ,,
मरुत् —	गणों का ,,
पितरः पिता………	

यह अभ्यातान अर्थात् विस्तार है। विस्तार में इतनी शक्तियाँ काम करती हैं। इसके बाद 'साम' अर्थात् सा+अम जिसके आधार

पर विश्वसाम का ज्ञान होता है वह संहित रूप में दिखलाया गया है। अथर्ववेद १४।२।७१ में बताया गया है कि 'अम' मैं हूं और 'सा' तू है। अर्थात् विवाह में वर 'अम' है और 'सा' वधू के संहति सम्बन्ध की कल्पना हुई। परन्तु विश्व में 'अम' साम है और ऋक् 'सा' है। द्यु अम है और पृथिवी 'सा' है। अतः 'सा' से वधू, ऋक्, पृथिवी का ग्रहण है और 'अम' से साम, वर और द्यु का बोध होता है। ये सब पदार्थ संहत हैं और सम्बद्ध एवं समन्वित हैं। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम भी सम्बद्ध और समन्वित है।

साम बिना ऋचा के नहीं गाया जा सकता है। इसी लिए कहा गया है कि ऋच्यभ्यूढं साम गीयते—अर्थात् ऋचा पर ऊहित होकर साम गाया जाता है। जैमिनीय ब्राह्मण उ० १।५३।५ में कहा गया है कि यह 'सा' और 'अम' संयुक्त होकर साम बनता है। यही बात गोपथ उत्तरार्ध ३।२०; ऐतरेय २।३२ में भी कही गई है। इस प्रकार 'विश्वसाम' विश्व में सर्वत्र गूँज रहा है और सर्वत्र दृष्टि गोचर हो रहा है।

सांख्यायन आरण्यक में एक वर्णन बहुत ही उपयोगी है। महदुक्थ (साम) के जप पर यह कहा गया है कि यह जप ऐन्द्र है। ये सातों छन्द देव छन्द हैं। इसलिए इनका जप करना चाहिए। इसमें महान् महती, देव देवी और ब्रह्म ब्राह्मणी का निम्न प्रकार संधान वर्णन करता है :—

महान्	महती	देव	देवी	ब्रह्म	ब्राह्मणी
अग्नि	पृथिवी	वायु	अन्तरिक्ष	आदित्य	द्यौ

इस प्रकार से इन लोकों का संधान होता है। कहा जाता है कि विश्वामित्र व्रतचर्या और शस्त्र बल से इन्द्र के यहां पहुंचे। इन्द्र ने कहा तीन वर मांगो। विश्वामित्र ने कहा कि— तीनों वरों में मैं आपको ही जानना चाहता हूं। इन्द्र ने कहा कि मैं महान् हूं और महती हूं। मैं देव हूं देवी हूं, और मै ब्रह्म हूं ब्राह्मणी हूं। विश्वामित्र ने जानना चाहा परन्तु इन्द्र ने कहा कि मैं वही हूं जो कह दिया। पुनः अधिक आग्रह करने पर तीन व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः) को कहा और कहा कि मैं मैं हूं।

इस प्रकार विश्वसाम में स्त्रीलिंग और पुंल्लिग का जोड़ा है। परन्तु यह विश्वसाम वहां और उस शक्ति के पास पहुंचता है जो देव भी है देवी भी है, महान् भी है महती भी है और ब्रह्म भी है

और ब्राह्मणी भी है और है वही जो वह वस्तुतः है। विवाह में स्त्री पुरुष का साम है। दोनों लिंग भेद से भिन्न, भिन्न हैं। परन्तु जब आत्मा और परमात्मा पर जाकर मनुष्य पहुंचता है तो वहां लिंग भेद समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार गोत्र आदि का भेद भी वहां पर समाप्त हो जाता है। लेकिन जब संहत का भाव विचारा जाता है तब दोनों होते हैं।

विवाह में जहां विश्वसाम का व्यापक रूप लेकर क्रिया-कलाप विनियुक्त किये गए हैं वहां इस संस्कार में लाजा होम के अनन्तर होने वाली परिक्रमा में विश्व और उसके विश्वसाम का रहस्य खोला गया है। वर मंत्र को पढ़ते हुएं कहता है—मैं आज इस भूत काल की गाथा को गाऊंगा जो स्त्रीजनों का उत्तम यश है, जिस प्रकृति में प्रलय के पश्चात् यह विश्व उत्पन्न हुआ और जिसमें ही प्रलय में यह प्रलीन हो जाता है, उसकी गाथा को मैं गाऊंगा और वह स्त्री-जाति का उत्तम यश है।

वस्तुतः प्रकृति स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। प्रकृति से ही सब जगत् ब्रह्मके निमित्तत्व से बनता है। गृहस्थाश्रम में वधू उस प्रकृति देवी की प्रतीक है। वही सन्तान के उत्पत्ति की शक्ति है। जिस प्रकार प्रकृति पुरुष से विश्व बना उसी प्रकार वर और वधू से गृहस्थाश्रम का कार्य चलता है। अतः इस सृष्टि की गाथा को स्त्रीजाति की पुरानी गाथा कहा गया है। विवाह में वर उसी का संकेत करता है। अतः विश्वसाम के आधार पर विवाह संस्कार की क्रियाओं का विनियोग निर्धारित है। इस प्रकार यह सुतराम् सिद्ध है कि विनियोग करने में बहुत खोज और विचार की आवश्यकता होती है। यज्ञों के विनियोग वैज्ञानिक आधार पर आधारित हैं।

देवताभेद से भी विनियोग में भेद होता है

कर्मकाण्ड में देवता के भेद से विनियोगों में भेद हो जाता है और विनियोग के भेद से देवता में भी भेद हो जाता है। देवता के जो भी लक्षण उपलब्ध हैं वे निम्न प्रकार हैं :—

१—भगवान् अथवा मन्त्र का अर्थद्रष्टा वा विनियोग करने वाला ऋषि वेद मन्त्र में जिस अर्थ को अर्थपति मानकर देवता के रूप में प्रयुक्त करता है उस देवता वाला वह मन्त्र होता है।

—निरुक्त दैवतकाण्ड

२—मन्त्रार्थद्रष्टा वा विनियोग-कर्ता प्रधान रूप से जिस अर्थ की कामना करता हुआ देवता रूप में उसे प्रयुक्त करता है कि इस का यह देवता हो वही उस मन्त्र का देवता होता है।

—बृहद्देवता १।५

३—जो मन्त्र से अथवा मन्त्रद्रष्टा ऋषि से वर्णित वा कथित किया जाता है वह देवता होता है। —सर्वानुक्रमणी। २।४

४—जिस कामना से मन्त्रद्रष्टा ऋषि जिस देवता को अर्थपति समझता हुआ मन्त्र का प्रयोग करता है वही उस मन्त्र का देवता हुआ करता है। —अथर्ववेदीय सर्वानुक्रमणी।

५—शब्द पूर्वक याज्ञकर्म की प्रधानता से देवता का निश्चय होता है। —मीमांसा ६।१।४

६—यज्ञ में जिस देवता के लिए हवि ग्रहण की जावे वही देवता होता है। जिसके लिए नहीं वह देवता नहीं होता है।

—शतपथ २-४-२-१४

७—जिस देवता को ऋक् वा यजुः वर्णन करते हैं वही देवता होता है। —शावरभाष्य १०।४।३

९—परन्तु कर्मकाण्ड में तो मन्त्र और ईश्वर ही देवता होते हैं

—महर्षि दयानन्द—ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका

इन सभी पर विचार करने पर निम्न परिणाम निकलता है—

१—वेद मन्त्र का प्रतिपाद्य अर्थ देवता है।

२—विनियोज्य विषय देवता है।

३—विधि—शब्द मात्र जिसके साथ हवि का सम्बन्ध है वह देवता है।

४—मन्त्र का अर्थ देवता है और मन्त्र भी देवता है।

५—शब्द मात्र देवता है।

३—कर्मकाण्ड में मन्त्र और ईश्वर ही देवता होते हैं।

इस प्रकार देवता के भेद से विनियोग में भेद स्वाभाविक है।

देवतावाद का विशेष रूप में गम्भीर विचार मेरी प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक ज्योति में किया गया है। वहाँ देवतावाद की सारी प्रक्रिया पर विचार विस्तार से किया गया है: महर्षि दयानन्द की प्रक्रिया से यज्ञ आदि में मन्त्र और ईश्वर ही देवता हैं अतः किसी प्रकार के झंझट की बात नहीं रहती है। यज्ञ में देवता विचार बहुत गूढ़ विषय है। इसमें यज्ञ कर्मों के विस्तार के कारण बहुत ही विस्तार अपेक्षित है। अध्यात्म और अधिदैव में देवता की समस्या उतनी जटिल नहीं है जितनी यज्ञ प्रकिया में होती है।

विनियोग नियत, अनादि और अपरिवर्तनीय नहीं है

यहाँ पर मैं अपनी पुस्तक "वैदिक ज्योति" का लेख ही उद्धृत करना उपयोगी समझता हूं। उससे इस समस्या का पूरा समाधान होगा और सब विषय सर्वथा स्पष्ट हो जावेगा वह निम्न प्रकार है—

पूर्वोक्त पंक्तियों में देवताभेद और विनियोग का भेद बतलाया गया। अब विनियोग की परिवर्तनीयता पर विचार करना अपेक्षित है। विनियोग वस्तुतः परिवर्तनीय हैं निश्चित नहीं। वे अनादि तो कहे नहीं जा सकते क्यों कि एक मन्त्र भिन्न भिन्न कार्यों में विनियुक्त हैं। जहां यह ध्यान रखने की बात है कि यदि सब यज्ञ उतने ही हैं जितने इन श्रौत और गृह्यसूत्रों में लिखे हैं तब तो नये विनियोगों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु यदि इनके अतिरिक्त उत्तम और युक्तियुक्त कर्म हैं तो फिर उनके लिए भी वेद मन्त्रों का विनियोग युक्तियुक्त ढंग पर किया जा सकता है। ऐसा करने में यह सुतराम् सिद्ध होगा कि विनियोग नित्य नहीं। श्रौत सूत्रों में गृहकर्मों का विनियोग नहीं और गृहसूत्रों में श्रौत का विनियोग नहीं, दोनों कर्म पृथक् पृथक् हैं परन्तु एक ही मन्त्र का श्रौत में अन्य कर्म में विनियोग है और गृह्य में अन्य कर्म में। यदि विनियोग नित्य होता तो ऐसा कैसे सम्भव हो सकता। कर्णवेध संस्कार का वर्णन श्रौत का तो विषय ही नहीं परन्तु गृह्यसूत्रों में नहीं है और न इसमें किसी मन्त्र का विनियोग ही है। आयुर्वेदादि ग्रन्थों में कानों को बींधना लिखा है। कहीं कान और कहीं नाक का बींधना इसमें होता है। आचार्य नयानन्द ने इस संस्कार की आवश्यकता को देखते हुए इस का विधान किया और "इसमें भद्रं कर्णभिः" ऋग्वेद १।८ सूक्त का मन्त्र तथा ६।७५ सूक्त के "वक्ष्यन्ती वेदा:—मन्त्र का विनि-

योग किया हं और है भी युक्तियुक्त। इन दोनों मन्त्रों के देवता क्रमशः यज्ञ और ज्या हैं। इस दृष्टि से कर्णवेध का इन से बनना नहीं देखा जाता परन्तु विनियोग इनका है। पुत्रेष्टि को ही लीजिए इसका वर्णन यजुर्वेद के अध्यायानुसार जो यज्ञ आदि विनियुक्त किये गये हैं उनमें नहीं आता परन्तु पुत्रेष्टि यज्ञ का प्रकरण उठाकर न्यायदर्शन में वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। कर्मकर्तृ साधन-वैगुण्यात्—इस सूत्र का वात्स्यायनभाष्य देखा जा सकता है। विनि-योग की नित्यता स्वयं विनियोगकार श्रौत सूत्रकारों और गृह्यसूत्र-कारों को भी स्वीकार्य नहीं मालूम पड़ती है। श्रौतसूत्रों में जिन मन्त्रों का विनियोग श्रौतकर्मों में है—इन्हीं मन्त्रों का गृह्यसूत्रों में गृह्यकर्मों में विनियोग है। यदि विनियोग नित्य है तो श्रौतकर्म में विनियुक्त मन्त्रों का गृह्यकर्मों में विनियोग होना ही नहीं चाहिए और नित्यता के इस पक्ष को मान लेने पर पुनः गृह्यकर्मों के लिए मन्त्र ही नहीं रह जावेंगे। क्यों कि अधिकाधिक मन्त्रों का विनियोग श्रौत सूत्रों में पाया ही जाता है "इषे त्वोर्जे त्वा" यजुः १ का प्रथम मन्त्र कात्यायन श्रौतसूत्र ४। २। १—३ के अनुसार शाखोच्छेदन में विनियुक्त है। परन्तु ऋषि दयानन्द ने इसका विनियोग स्वस्ति पाठ में किया गया है। दूसरी तरफ सायण काण्वसंहिता पृष्ठ ११५ पर लिखता है कि यहां पर बौधायन ने दोनों वाक्यों को एक मन्त्र मानकर शाखाछेदन में विनियुक्त किया है। तामाच्छिनत्ति इषे त्वोर्जेत्वेति। आपस्तम्ब ने इनको दो भिन्न भिन्न मन्त्र मानकर "इषे त्वा" से शाखाछेदन करे और "ऊर्जेत्वा" से झुकाना चाहिए—लिखा है। काण्वशिष्य लोग मन्त्र भेद और विनियोग भेद को आश्रय करके इस प्रकार कहते हैं कि तामाच्छिनत्तीषे त्वेति—अथवा वृष्टि के लिए कहा गया है कि "इषे त्वोर्जे त्वा—क्यों कि वृष्टि से ही ऊर्क् रस पैदा होता है। वस्तुतः यह मन्त्र अनादिष्टदेवताक होने से इन्द्र अथवा माहेन्द्र देवता वाला होगा। ऋषि दयानन्द ने इसका सविता देवता माना है। "विश्वानि देव सवितः" और तत्सवितुर्वरेण्यम्—ये दोनों मन्त्र कात्यायन श्रौतसूत्र ११। ७ पुरुषमेध आहवनीय में विनि-युक्त हैं। परन्तु इनका विनियोग स्वामी दयानन्द जी महाराज ने प्रार्थना और सन्ध्या जैसे उपासना कर्म में किया है। साथ ही इनका इस प्रकार की आहुति देने में विनियोग न होते हुए भी उन्होंने

अपने सत्यार्थ-प्रकाश और संस्कार-विधि ग्रन्थों में साथ प्रातःकाल की आहुतियों के साथ इन मन्त्रों से आहुतियां देना लिखा है। सत्यार्थ-प्रकाश तृतीय समुल्लास में लिखा है—यदि अधिक आहुतियां देनी हों तो इन दोनों मन्त्रों से देवें। गायत्री मन्त्र बौधायन में यज्ञोपवीत संस्कार में ब्रह्मचारी को गायत्री के उपदेश देने में विनियुक्त है। पृ० ४४ पुनः पृ० २३७ पर लिखा है कि अग्नि के दूसरे भाग में जायापती को इस "तत्सवितुर्वरेण्यम्" मन्त्र को बोल कर खाना चाहिए। पुनः पृ० २७८ पर इसी का पात्र को लेकर ब्रह्मपात्र से जोड़ने में विनियोग किया है। कौषीतकी १। ३ में तत्सवितुर्वरेण्यम् "इत्येतां सप्रणवां अर्धर्चशोऽनवानम्" ऐसा लिखा है। तथा आगे उसी स्थल पर विवाह-प्रकरण में प्राशन में विनियुक्त है। तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र ८। १ में लिखा है कि वैश्वदेवशस्त्र में प्रतिप-त्तृच के ये प्रथम और द्वितीय हैं। "देवसवितः" यह मन्त्र यजुर्वेद में तीन बार आया है। यजुः ९।१ में यह मन्त्र कात्यायनश्रौतसूत्र १४। ११ के अनुसार वाजपेय में विनियुक्त है। पुनः यजुः ३१। १ में पुरुषमेध में विनियुक्त है। फिर यजुः ११।७ में अग्निचयन में विनि-युक्त है। यहां एक ही मन्त्र का स्वयं एक ही श्रौतसूत्रकार ने भिन्न भिन्न कार्यों में विनियोग किया है। इसके अतिरिक्त ऋषि दयानन्द ने वेदी के चारों ओर जल छिड़कनेमें इसका विनियोग किया है। द्राह्यायण गृह्यसूत्र२। १। १९ और बौधायन १। ३। २५ तथा अन्य गृह्यसूत्रों में भी ऐसा ही लिखा है। इसी भांति ऋग्वेदीय ८१। २४। ११ मंत्र "तत्त्वा यामि" आश्वलायन श्रौतसूत्र २। १७ के अनुसार वरुणप्रघासों चातुर्मास्यों में वरुण सम्बन्धी हविर्याज्य है। इसी का आचार्य दयानन्द ने सामान्य-प्रकरण में विनियोग किया है। गृह्यसूत्रों में भी ऐसा है। लगभग सभी बड़े संस्कारों चूडाकर्म, विवाह आदि में इससे विशेष आहुतियां देनी लिखी हैं। ऐसे ही "नवो नवो भवति जायमानः" यह ऋग्वेद १०। ८। ९ का मन्त्र है। इसका विनियोग दूणाश में चन्द्रमा सम्बन्धी चरु में है। परन्तु मानव-श्रौतसूत्र में यह मन्त्र राजयक्ष्मगृहीतेष्टि में विनियुक्त है। शांख्यायन १४। ३२। ९ में भी दूणाशक्रतु में चान्द्रमसचरु में ही इसका विनियोग है परन्तु पाप-यक्ष्मगृहीत के लिए अमावस्या में आदित्यचरु के निर्वाप में यह उप-युक्त है। यदि विनियोग निश्चितऔर नित्यहोता तो यह भिन्न भिन्न

विनियोग क्यों ?। "परं मृत्यो" ऋ० १०। १८।१—यह मंत्र
मानवगृह्यसूत्र २। १८। २ में पुत्रकामेष्टि में विनियुक्त है। यजुर्वेद
३५। ७ में यही मंत्र कात्यायन २१। ४। ७ के अनुसार पितृमेध में
विनियुक्त है। यही पारस्करगृह्यसूत्र १। ५ के अनुसार विवाह
सम्बन्धी अभ्यातान होम में विनियुक्त है। मृत्यु देवता का यह मंत्र
विनियोग में कितने भेद के साथ प्रयुक्त है। यहां तक कि जो मंत्र
गृहसूत्रों में अन्त्येष्ठि, आदि संस्कारों में विनियुक्त है। वही श्रौतों में
अन्य कर्मों में विनियुक्त हैं। यजुर्वेद का ४० वां अध्याय ज्ञानकाण्ड
है। कुछ लोग कहते हैं कि इसका कर्म में विनियोग नहीं होना
चाहिए परन्तु ऋषि ने 'अग्ने नय सुपथा राये' यजु: ४०। १६ मंत्र
को दैनिक अग्निहोत्र में आहुति देने में लगाया है। "शन्नो देवी"
इस मंत्र का तै० ब्राह्मण १। २। १ में विचार करते हुए भट्टभास्कर
लिखते हैं : अद्भिरवोक्षति शन्नो देवीरिति गायत्र्या। तैत्तिरीय ब्रा०
२। ६। ८। ५ पर इसे प्रवर्ग के अभिषव प्रकरण में लगाया है।
तैत्तिरीयारण्यक ४।४२। ४ में यह उपासनाप्रकरण में विनियुक्त है।
कौशिक गृह्यसूत्र ६। ७ टिप्पण में शान्त्युदकारंभ में प्रयुक्त करने
का विचार दिया गया है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र ५। ४। १ में लिखा है
इससे जल से अवोक्षणकर उदीचीन बंश को शरण करना चाहिए।
लाट्यायन श्रौतसूत्र ५।४। १ में अप:स्पर्श में यह विनियुक्त है।
शांख्यायन ४। २७। १६ में इस मन्त्र से छाती पर जल प्रोक्षण का
विनियोग है और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र में ब्रह्मचारी के उपनयन में
मार्जन कर्म में यह विनियुक्त है। ऐसे ही ऋग्वेद ४। ३८। ६ के
"दधिक्राव्णो अकारिषम्" मन्त्र के विनियोग की हालत है। यह मन्त्र
ऋग्वेद सायण भाष्य में लैङ्गिक विनियोग वाला कहकर छोड़ दिया
गया है। अथर्ववेद सायण भाष्य में सोमयाग में इससे आग्नीध्रीय में
दधिभक्षण के लिए कहा गया है। यजर्वेद में महीधर भाष्य में महिषी
को उठाकर पुरुष इसे पढ़ें, ऐसा लिखा है। आश्वलायन श्रौतसूत्र
६। १०।१२ में आग्नीध्रोय में दधिद्रप्सों को खाने में इसका विनि-
योग है। तैत्तिरीयसंहिता १। ५। ११। ४ और ३। ४। १। ६४
पर भट्ट भास्कर ने भिन्न ही विनियोग दिखलाये हैं। इस मन्त्र के
पुन:—ऐतरेय ब्राह्मण ७। ३६। १; ३। ६३। ८; शतपथ १३।
२। ६। ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ६। ७; गोपथ ब्रा० २।६। १८
पंचविंश ब्राह्मण १। ६। १७; लाट्यायन श्रौतसूत्र २। ७। १०

२। ११। २३; शांख्यायनश्रौतभाष्य १२। २५। १; कात्यायन
श्रौतसूत्र १०। ८। ६; गोभिलीय गृह्यसूत्र २। ६। १६; शांख्या-
यनगृह्यसूत्र १। १७। १; तथा पारस्कर गृह्यसूत्र १। १०। १६ में
भिन्न विनियोग मिलते हैं। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि
'दधिक्राव्ण:" शब्द घोड़े का वाचक है। निरुक्तकार ने २। ७।२१
पर ऐसा ही लिखा है और निघण्टु में यह अश्वनाम में पढ़ा भी गया
है। परन्तु विनियोग दधि खाने के अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार
अधिकाधिक मन्त्रों के विनियोग भिन्न भिन्न देखे जाते हैं। इन सब
प्रमाणों से यह सारत: मालूम पड़ता है कि विनियोग अनादि नहीं
हैं। वे सदा परिवर्तित हुए और होते रहेंगे। विनियोग बदलते हैं
परन्तु किसी भी मन्त्र को विनियुक्त करते समय उसकी औचिती का
ध्यान रखना चाहिए। सनातनियों की तरह शनि, बुध आदि के
लिए "शन्नो देवी" "उद्बुध्यस्वाग्ने" आदि मन्त्रों का अनर्गल विनि-
योग नहीं कर लेना चाहिए। विनियोग युक्तियुक्त और अच्छे कर्म
में ही होना चाहिए। यास्क मुनि के प्रमाण से जो कि मेरे देवतावाद
लेख में वर्णित है और जो पुस्तक रूप में प्रकाशित भी हो चुका है—
इस विषय को और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं। "ओमासश्चर्ष-
णीधृत:" इस ऋग्वेदीय (१। ३। ७) मन्त्र की व्याख्या यास्क ने
निरुक्त १०। ४० पर की है। वहां वह इस मन्त्र का देवता
"विश्वेदेव" मानता है। मन्त्र मे "विश्वेदेवास:" पद भो पड़ा है।
इसके अनन्तर विनियोग विषय की चर्चा का प्रारम्भ करते हुए
यास्क लिखते हैं कि दाशतयी में सारी शाखावों में विश्वेदेव सम्बन्धी
एक गायत्री-छन्दोयुक्त तृच मिलती है। परन्तु यज्ञ में गायत्री छन्दो-
युक्त कई ऋचावों की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में क्या करना
चाहिए ?। समाधान करते हैं कि जो भो बहुदेवतावों से युक्त गायत्र
मन्त्र समूह है वह विश्वेदेवों के स्थान में प्रयुक्त हो सकता है। शाक-
पूणि आचार्य कहते हैं कि उचित यह है कि विश्वशब्दोपेत मन्त्रसमूह
या सूक्त विश्वेदेवों के स्थान में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। न कि
बहु देवता मात्र वाले मन्त्र। इस पर यास्क कहते हैं कि कथन अनै-
कान्तिक है क्यों कि मंत्र क्रियार्थ गायत्री छन्द से युक्त विश्वेदेव-देवता
वाला ही प्रयुक्त हो सकता है, उसो प्रकार के मन्त्रों से यज्ञ का
प्रयोजन भी है। परन्तु ऐसे मन्त्र पाए थोड़े जाते हैं। कर्म का परि-
त्याग करना उचित नहीं, अत: बहुदेवताक गायत्र मन्त्रों से विश्वेदेव

सम्बन्धी कार्यों को चला लेना चाहिए''। भूतांश काश्यप ऋषि ने अश्विनियों के लिङ्ग से युक्त अनेक ऋचावों वाले सूक्त (ऋ० १०।१०६ सूक्त) का साक्षात् किया। जिनमें यह लिङ्ग नहीं है उन ऋचावों का भी अश्विदेवताकत्व ही उसने माना है। अभितष्ठीय सूक्त (ऋ० ३। २८ सूक्त) में एक ही ऋक् इन्द्र-देवता के चिन्ह वाली है परन्तु सारा सूक्त तदर्थ में विनियुक्त किया जाता है। इसी प्रकार की योजना पूर्वोक्त ढंग से वैश्वदेव कर्म में भी करनी चाहिए। निरुक्त ७। २० में लिखा है कि गायत्री छन्द से युक्त एक ही "जातवेदस्" तृच दाशतयी में देखी जाती है। इस लिए जो कोई अग्नि देवता वाला सूक्त है वही जातवेदाः के स्थान में लगा दिया जाता है। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि विनियोग अनादि नहीं। यहां पर ऋषि दयानन्द की इस विषय में सम्मति उद्धृत करते हुए **प्रसंग** को समाप्त करता हूं—अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्यैवं वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते, परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यम् तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् ।...तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः युक्तो विनियोगो ग्रहीतुं युक्तोऽस्ति ॥

विनियोग-विज्ञान के शास्त्र

इस प्रकार विनियोग-विज्ञान एक बहुत उच्च स्तर का विज्ञान है और समस्त कर्मकाण्डों की यदि व्याख्या की जावे तो पता चलेगा कि वेदों में यज्ञ-विज्ञानों का विस्तार किया गया है। आगे इसका उल्लेख इसके प्रकरण में किया जावेगा। विनियोग-विज्ञान का नाम कल्प है। कल्प एक प्रकार की विद्या है, यह पूर्व कहा जा चुका है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यज्ञ की व्याख्या और विनियोग की व्याख्या मिलती है। शतपथ तो बहुत ही गूढ़ रहस्यों को खोलता है। मीमांसा में यज्ञ के कर्मकाण्डों, की दार्शनिक ढंग पर विचारणा की गई है। परन्तु विनियोग विज्ञान के ग्रन्थ कल्प ही प्रधान रूप से माने जाते है। चारों वेदों पर इस विषय के ग्रन्थ हैं क्योंकि यह एक अङ्ग ही है। कल्प शास्त्र तीन प्रकार के हैं। वे हैं श्रौत, गृह्य और धर्म के भेद से। श्रौत यज्ञों का विनियोग श्रौत सूत्रों में पाया जाता है। गृह्य कर्मों, संस्कार आदि का वर्णन और घर में किए जाने वाले पंचममहायज्ञादि का वर्णन गृह सूत्रों में पाया जाता है। धर्म सूत्रों में वर्ण, आश्रम आदि के कर्त्तव्य

धर्मों का विधान है। जिस प्रकार कर्म का विनियोग है उसी प्रकार कर्त्तव्य धर्मों का भी विनियोग है। धर्मसूत्र स्मृतियों का कार्य पूरा करते हैं। इन तीनो भेदों को कल्प में ही माना गया है। महर्षि दयानन्द ने एक और भी रहस्य का उद्घाटन किया है। वह है यह। चारों वेदों के जहां छः अङ्ग हैं वहां उनके छः उपाङ्ग भी हैं। इस उपाङ्ग की परिभाषा में छः दर्शन आते हैं। परन्तु ये किस अङ्ग के उपाङ्ग हैं जिसका इनके साथ अधिक सम्बन्ध हो—यह एक समस्या थी। महर्षि ने लिखा कि ये कल्प के उपाङ्ग हैं। वस्तुतः कल्प में जहां कर्मकाण्ड आदि आता है वहां धर्मसूत्रों में कर्त्तव्य और दर्शन का केन्द्रविन्दु जीव, जगत् और परमेश्वर का भी वर्णन आता है। कर्मकाण्ड और कर्त्तव्यशास्त्र वा कर्ममीमांसा का आधार आत्मा, परमात्मा और जगत् से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान पर आधारित है। सृष्टि रचना और इन सत्तावों पर जैसा विश्वास जिसका बनता है वैसा ही उसका कर्मकाण्ड आदि भी बना करता है। चारवाक का दर्शन अनीश्वर वादी लोकायत था। अतः उसका वैसा ही कर्मकाण्ड आदि भी उटपटाङ्ग है। जैन और बौद्ध दर्शन जिस प्रकार के विश्वास रखते हैं वैसे ही कर्मकाण्ड आदि भी उनके पाये जाते हैं। नवीन वेदान्तियों का इन मुद्दों पर जैसा विश्वास है वैसा ही कर्म का लोप भी उनके यहां पाया जाता है। सारे व्यवहार का ही विलोपन कर दिया गया है। त्रैतवादी दर्शन का कर्मकाण्ड भी उसी के प्रकार का है। चूंकि वेदों और उनके निर्मित विद्या के शास्त्रों में त्रैतवाद की प्रक्रिया का दर्शन है अतः उसी प्रकार का प्रशस्त कर्मकाण्ड और कर्त्तव्य विचार भी पाया जाता है।

प्रमाण सन्दर्भ

१.-येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः। यो वै तां विद्यान्नामथः स मन्येत पुराणवित्। अथर्व ११।८।७

२.-लेखक की प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक ज्योति का विनियोग प्रकरण देखें।

३.-परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत् यद्दशपौर्शमासौ।

४.-प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत्।

५.-इन सभी के संस्कृत वाक्य, देवता की प्रक्रिया और विशेष रूप से विनियोग का विचार मेरी प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक ज्योति में किया गया है। उसे देखना चाहिए।

चतुर्थ प्रकरण

वैदिक यज्ञों के नाम

जैसा पूर्व लिखा जा चुका है वैदिक यज्ञों का वर्णन कल्प शास्त्र का विषय है। कल्प में भी जो गृह्य कर्म और तत्सम्बन्धी यज्ञ हैं उनका वर्णन गृह्य सूत्रों में और श्रौत का वर्णन श्रौत सूत्रों में है। गृह्य सूत्रों में संस्कारों और तत्सम्बन्धी यज्ञों आदि का वर्णन पाया जाता है। संस्कार १६ हैं और वे इस प्रकार हैं—गर्भाधान', पुंसवन', सीमन्तोन्नयन', निष्क्रमण", जातकर्म" नामकरण', अन्नप्राशन", कर्णवेध', मुण्डन', यज्ञोपवीत'', वेदारम्भ'', समावर्त्तन'', विवाह'', वानप्रस्थ'', संन्यास'' अन्त्येष्टि''। इनमें कर्णवेध आयुर्वेद के आदेश से है। वानप्रस्थ और संन्यास धर्मसूत्रों और स्मृतियों के आधार पर निर्धारित हैं। पंचमहायज्ञ स्मार्त्त और गृह्य दोनों हैं। सभी संस्कारों में होने वाला सामान्य-प्रकरण गृह्य सूत्रों के आधार पर है। अग्निहोत्र गृह्य और श्रौत दोनो हैं। अमावस्या और पूर्णिमा का यज्ञ श्रौत है। परन्तु प्रत्येक गृहस्थ को अनिवार्य होने से गृह्य भी है। नवसस्येष्टि, शालाकर्म विधि, सीतायज्ञ आदि गृह्य कर्म हैं। पूर्णिमा और अमावस्या के यज्ञ क्रमशः पौर्णमास और दर्श कहे जाते हैं। ये सभी श्रौत यज्ञों की प्रकृति हैं। ऋतुओं सम्बन्धी यज्ञ गृह्य हैं। श्रावणी, उपाकर्म आदि इसमें आते हैं। इनके अतिरिक्त भैषज्य-यज्ञ भी होते हैं जो स्वास्थ्य आदि के लिए और रोगनिवृत्यर्थ किये जाते हैं। गृह्य सूत्रों में इनका विधान पाया जाता है। गृह्य सूत्र चारों वेदों एवं उनकी शाखाओं के अनुसार भिन्न भिन्न हैं अतः इन कर्मों के विनियोग आदि में भी भिन्नता पाई जाती है। परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती की संस्कारविधि किसी एक शाखा वा गृह्य सूत्र पर आधारित नहीं है। उसमें सभी का समन्वित मार्ग और विधि अपनाए हुये हैं। महर्षि ने संस्कारविधि में जो प्रक्रिया अपनाई

है वह बहुत ही प्रांजल है। उनके द्वारा अपनाई गई प्रत्येक विधि का क्यों? और कैसे? समाहित किया जा सकता है। श्रौत यज्ञों का श्रौतसूत्रों में वर्णन मिलता है। ब्राह्मणों में इनकी व्याख्या भी मिलती है। जो श्रौत सूत्र अब तक उपलब्ध हैं। उनका और उनमें वर्णित यज्ञों का नीचे उल्लेख किया जाता है, वे मेरी प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक-ज्योति से ज्यों के त्यों दिए जाते हैं—

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र मिलते हैं—आश्वलायन और शाङ्ख्यायन। इनमें आश्वलायन श्रौतसूत्र के १२ अध्याय हैं। जिनमें प्रथम अध्याय में परिभाषा, दर्शपूर्णमासेष्टि, द्वितीयाध्याय में अग्न्याधेय अग्निहोत्रहोम, उपस्थान, पिण्डपितृयज्ञ, अनारम्भणीय, आग्रयण, काम्य इष्टियें, वैमृधेष्टिः, लोकेष्टि, मित्रविन्दा, पवित्रेष्टि, कारीरीष्टि, वैश्वानरीष्टि, सांवत्सरिक, तुरायण दाक्षायण यज्ञ; याज्यापुरोऽनुवाक्यालक्षण चातुर्मास्य; तृतीयाध्याय में पशुयाज्यापुरोऽनुवाक्या, निरूढपशु सौत्रामणि प्रायश्चित्त; चतुर्थाध्याय में और पंचमाध्याय में अग्निष्टोम; छठे अध्याय में उचथ्य- षोडशी, अतिरात्र-नैमित्तिक, सोमप्रायश्चित्त, दीक्षित के मरण का प्रायश्चित्त आदि, सोमयागशेष, अनूबन्ध्या अवभृथ, उदयनीयादि; सप्तम अध्याय में सत्र के धर्म और न्यूङ्ख आदि, आठवें अध्याय में शस्त्र प्रतिगर आदि का पृष्ठ्यादि; नवमे अध्याय में--राजसूय, एकाह, वाजपेय, दशवें अध्याय में अहीन, द्वादशाह अहीन और सत्र के समान धर्म, अश्वमेध; एकादशवें अध्याय में रात्रिसत्र गवामयन; द्वादशवें अध्याय में आदित्यानामयन, अङ्गिरसामयन, दृतिवातवतोरयनम्, कुण्डपायिनामयन, तापश्चितामयन, प्रजापति का द्वादशसम्वत्सर, सारस्वतसत्र, मित्रावरुणयोरयनम्, सत्रोत्थान, सवनीयपशुः सत्रिधर्म व्रत्य, ऋत्विजों का सवनीयपशु विभाग, प्रवर, सत्र, पृष्ठ्यशामनीय-आदि विषयों का वर्णन है। शांख्यायन में १८ अध्याय हैं और उनमें निम्न विषयों का वर्णन है, प्रथमाध्याय में परिभाषा, दर्श और पूर्णमास, द्वितीयाध्याय में अग्न्याधेय, अन्वारम्भणीय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, उपस्थान, अग्निसमारोप, तृतीयाध्याय में वैमृधेष्टि, अभ्युदितेष्टि, प्रायश्चित्तेष्टियां, मित्रविन्दा दाक्षायणयज्ञ, सार्वसेन यज्ञ, वसिष्ठयज्ञ, आग्रयण, चातुर्मास्य, अग्निहोत्रप्राय, चतुर्थ में यजमान सम्बन्धी पिण्डपितृयज्ञ, ब्रह्मत्व, मधुपर्क आदि, पंचमाध्याय से

अष्टमाध्याय तक में--अग्निष्टोम, नवमाध्याय में चयन, दशम में--
द्वादशाह ग्यारहवें और बारहवें में २४ अहीनों के हौत्र; १३ वें
अध्याय में सौमिक प्रायश्चित्त, गवामयन, सत्राधिकारी उत्सर्गिणा-
मयन, आदित्यानामयन, अङ्गिरसामयन, दृतिवातवतोरयनादि, १४
अध्याय में--एकाह, चातुर्मास्य, खौत्रामणि; १५ वें अध्याय में वाज-
पेय, अप्तोर्याम, सर्वस्वार, राजसूय, सोलहवें अध्याय में--अश्वमेध,
पुरुषमेध, सर्वमेध, वाजपेयशेष, राजसूयशेष, अश्वमेधशेष, अहीन;
सप्तदशम अध्याय में महाव्रत्त और अष्टादश में--महाव्रतीयकर्म,
गवामयनशेष, सारस्वतसत्र, दार्शद्वत्सत्र।

इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेद पर बौधायनीय, आपस्तम्बीय, सत्या-
षाढीय, मानवीय, भारद्वाजोय, वैखानसीय सूत्र मिलते हैं। ये बौधा-
यन, आपस्तम्ब, हिरण्येकेशी, भारद्वाजीय और वैखानस तैत्तिरीय
शाखा को लेकर चलते हैं। मानवसूत्र मैत्रायणी शाखा के अनुसार
चलता है। आपस्तम्ब में २४ अध्याय हैं। जिनमें १ से ३ अध्याय
तक दर्श पौर्णमास, वैमृधेष्टि, दाक्षायण यज्ञ, ब्रह्मत्व, चतुर्थाध्याय
में यजमानसम्बन्धी; ५वें अध्याय में अग्न्याधेय और पुनराधेय,
छठे अध्याय में—अग्निहोत्र, उपस्थान आग्रयण; सातवें में—पशु-
वन्ध और आठवें में चातुर्मास्य; नवमाध्याय में प्रायश्चित्त, १० से
१३ अध्याय में सोम, १४वें अध्याय में सोमसंस्था, ऋतुपशु, एका-
दशिन्, सोमब्रह्मत्व, सोमप्रायश्चित्त, पञ्चदश अध्याय में प्रवर्ग्य और
उसका प्राश्चित्त, १६-१७ में चयन, अष्टादश में वाजपेय और
राजसूय; १९ वें अध्याय में सौत्रामणि; कौकिलसौत्रामणि, नचि-
केतादिचयन, काम्यपशु, काम्य इष्टिये, २० वें अध्याय में अश्वमेध,
सर्वमेध, दशरात्र; २१ वें अध्याय में द्वादशाह, गवामयन, उत्सर्गि-
णामयन; २२ वें अध्याय में एकाह; २३ वें में सत्र और २४ वें
अध्याय में यज्ञ परिभाषा आदि विषयों का उल्लेख है।

सामवेद पर लाट्यायण, द्राह्यायन और मशकसूत्र मिलते हैं।
परिशिष्ट अनेक मिलते हैं। अथर्ववेद पर कौशिकसूत्र प्राप्त है। इस
में श्रौत विषय का वर्णन पाया जाता है परन्तु गृह्य विषयों का
बहुधा वर्णन मिलता है। वितानसूत्र नाम का भी एक सूत्र ग्रंथ इस
पर है। परिशिष्ट २६ हैं परन्तु इनमें श्रौत विषय थोड़े और स्मार्त
विषय अधिक हैं। शुक्लयजुर्वेद पर कात्यायनश्रौतसूत्र उपलब्ध है। इस

में भी २६ अध्याय हैं। यह काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखाओं का
अवलंबन करता है। दोनों शाखाओं में जो क्रम वर्णित है, प्राय. वही
क्रम इसमें भी है। प्रथम से द्वितीयाध्याय के आदि तक यज्ञ परिभाषा
का वर्णन है। द्वितीय और तृतीयाध्याय में दर्शपौर्णमास के धर्मों का
अतिदेश, दाक्षायण यज्ञ, आग्रयणेष्टि, अनारम्भणीयेष्टि, अग्न्याधान,
पुनराधेय और अग्निहोत्र का निरूपण है। पांचवें अध्याय में चातु-
र्मास्य और मित्रविन्देष्टि तथा छठे अध्याय में अनुष्ठेय, निरूढपशु
का वर्णन है। सप्तम से लेकर एकादश अध्याय पर्यन्त सोमयाग है।
द्वादशाध्याय में द्वादशाह, द्वादश सुत्याक सत्र-विशेष और त्रयोदश
अध्याय में गवामयन बतलाये गए हैं। १४ वें अध्याय में वाजपेय
१५ वें में राजसूय और १६, १७ तथा १८ वें अध्याय में महाग्नि-
चयन को निरूपति किया गया है। १९ वां अध्याय-सौत्रामणी, २०
वां अश्वमेध, और २१ वां अध्याय पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृमेध
का है। २२, २३, २४, २५, २६ वें अध्यायों में क्रमशः एकाह, अहीन
सत्रान्तर, प्रयाश्चित्त और प्रवर्ग्य का वर्णन है। यह श्रौतसूत्रों में
प्रतिपादित यज्ञ यागों अथवा उनके अन्य अंगों का क्रम है॥ यजुर्वेद
के अध्यायों को निम्न प्रकार से विभाजित किया जाता है। १, २
अध्याय दर्शपौर्णमास, तीसरा आधान-अग्न्युपस्थापन, चातुर्मास्येष्टि
से सम्बद्ध है। ४ से ८ अध्याय में अग्निष्टोम और सोमयाग तथा नवें
अध्याय में वाजपेय और राजसूय के मन्त्र हैं। १० वां अध्याय अभि-
षेक और राजसूय में चरकसौत्रामणी के विषय में विनियुक्त है। ११
१२ क्रमशः अग्निचयन और उखाभरण के विनियोग वाले मन्त्रों से
युक्त अध्याय हैं। १३—१५ चितियें, १६ रुद्र और शतरुद्रिय हैं।
१७ वां अध्याय चित्यपरिषेक से, १८ वां वसोर्धारा, राष्ट्रभृत से
और १९, २० वां सौत्रामणी से सम्बन्ध रखते हैं। २१ वें अध्याय में
याज्यादि प्रैषण मन्त्र और २२—२९ वें पर्यंत अश्वमेध है। ३०
एवं ३१ वें अध्याय पुरुषमेध एवं पुरुषसूक्त के हैं। ३२ तथा ३३
में सर्वमेध, ३४ में शिवसंकल्प, ३५ में पितृमेध है। ३६-३८ तक
प्रवर्ग्य, शांतिपाठ, महावीरसंभरण, और घर्म के विषय हैं। ३९ वाँ
अध्याय प्रायश्चित्त और ४० वाँ ज्ञानकाण्ड का है। इतना वर्णन
यहाँ श्रौतसूत्रों के आधार पर किया गया है। परन्तु यहाँ एक बात
स्मरण रखनी चाहिए कि सारे श्रौतसूत्र भी एकान्ततः प्रामाणिक
नहीं। इनमें वर्णित कई कर्म ऐसे भी हैं जो संगत और समुचित

नहीं। श्रौतसूत्रों का ही क्रम लगभग ब्राह्मण ग्रन्थों में भी दिखलाई पड़ता है। यही यज्ञ, याग वहाँ भी वर्णित मिलते हैं।

श्रौत सूत्रों में वाममार्ग आदि के समय में बहुत से प्रक्षेप किये गए हैं। उन प्रक्षेपों को निकालकर वेदानुकूल का ही ग्रहण करना चाहिए। प्रतिकूल और अनुपयोगी विरुद्ध भागों को छोड़ देना चाहिए। इन यज्ञों की विधियों में कुछ पौराणिक पंडित अपनी उल्टी तथा ऊटपटांग बातें चलाते हैं। उन सबको स्थान नहीं देना चाहिए। वैदिक मंत्र हिंसा आदि से रहित होते हैं। परन्तु पौराणिक याज्ञिकों पर वाममार्ग की छाप है अतः वे पशु आदि को यज्ञ में डालना भी मानते हैं। यह गर्ह्य और अवैदिक एवं सर्वथा त्याज्य कर्म है। यजुर्वेद के भाष्य में महीधर ने ब्राह्मण और कात्यायन श्रौत सूत्र के नाम पर अनेक अनर्गल बातों के यज्ञों में करने की प्रेरणा दी है और मन्त्रार्थ भी उसी प्रकार कर दिया है। वह सर्वथा त्याज्य है। सायणचार्य ने ऋग्वेद भाष्य में भी इस प्रकार की अनर्गल बातें यज्ञों के प्रसङ्ग में लिखी हैं। वे किसी भी प्रकार मान्य नहीं हैं। इसी प्रकार कन्यादान आदि की विधियां भी संस्कारों में त्याज्य हैं। कन्या का वर के द्वारा आदान होता है। माता पिता के द्वारा दान नहीं। वह भेड़, बकरी, गाय आदि नहीं है कि उसका दान हो। दान का अर्थ है "स्वस्वत्त्व निवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वस्थापनम्" अर्थात् अपना अधिकार छोड़कर दूसरे को देना। कन्या तो सदा माँ बाप के लिए कन्या ही रहती है। वह अधिकार वे किसी को न देते हैं और न दे सकते हैं। कन्या किसी सदृश, कुलीन वर की गुणकर्मानुसार विवाह से वधू बनती है। वह अधिकार माता पिता का है नहीं कि वे उसे वर को देते हों। अतः कन्या का दान नहीं होता है। कन्या दान का अर्थ है—कन्या+आदान। अर्थात् वर के द्वारा कन्या का वधू रूप से ग्रहण। इस प्रकार कर्मकाण्ड के प्रकरण में कालक्रम से जो भी बातें मिश्रित हो गयी हैं और वेदविरुद्ध हैं उन्हें छोड़ देना चाहिए। यज्ञ में हिंसा और पशु मार कर होम करने का निषेध विस्तार से मैं अपनी पुस्तकें—"वैदिक युग और आदि मानव", वान काऊस्लाटर, अश्वमेध" आदि में कर चुका हूं। इसको उनमें देखना चाहिए। इससे पूर्व प्रकरण में भी इस पर प्रकाश डाला गया है और पाश्चात्यों के विचारों के खण्डनावसर पर सिद्धान्त भली प्रकार से निश्चित कर स्पष्ट कर दिया गया है।

पंचम प्रकरण

ऋत्विग् और यजमान आदि

यज्ञों में सामान्यतः चार ऋत्विग् होते हैं वे हैं ब्रह्मा, होता अध्वर्यु और उद्गाता। ये व्यक्ति योग्यतम और सदाचारी विद्वान् होने चाहिए। ऋग्वेद १०.७१.११[1] में इन ऋत्विजों का कार्य इस प्रकार वर्णित है।

होता ऋत्विग् अपने वेद की ऋचावों की पुष्टि करता है और यथाविधि कर्म में प्रयोग करता है।

२. उद्गाता गायत्र साम को शक्वरी नाम वाली ऋचावों में गाता है।

३. ब्रह्मा समय समय पर यज्ञ-विज्ञान का निर्देश करता है और कहीं पर कोई त्रुटि आदि रह जावे तो ठीक करवाता है।

४. अध्वर्यु यज्ञ की मात्रा अर्थात् यज्ञ के प्रत्येक कार्य का सन्तुलन रखता है और करता है।

इन ऋत्विजों में सभी एक एक वेद के ज्ञाता तो होने ही चाहिएं। होता ऋग्वेद का, उद्गाता सामवेद का, अध्वर्यु यजुर्वेद का और ब्रह्मा चारों वेदों का ज्ञाता होना चाहिए। यास्काचार्य कहते हैं कि ऋक् अर्चना अर्थात् पदार्थ-स्तुति से सम्बन्ध रखते हैं। होता उनके ज्ञान में सर्वथा निपुण हो तभी उनकी यज्ञ में पुष्टि कर सकता है। साम ऋचा पर ही गाये जाते है। शक्वरी ऋचायें शक्तिशाली होती है चूंकि साम ऐन्द्र है अतः शक्वरी कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्र वृत्रवध में इनकी ध्वनि का प्रयोग करता है, अतः ये शक्वरी हैं। उद्गाता को सामवेद के ज्ञाता होने के साथ-साथ सामगान के प्रकार में भी निपुण होना चाहिए। ब्रह्मा चारों वेदों का ज्ञाता, सर्वविद्यावों का जानने वाला वेद और शास्त्र से दृढ़ होना चाहिए। ऐतरेय ५।५।८[1] में कहा

गया है कि ब्रह्मा त्रयीविद्या का ज्ञाता होता है और उसी कारण वह ब्रह्मा होने योग्य है। उसकी यह योग्यता आवश्यक है। अध्वर्यु अध्वर अर्थात् यज्ञ की योजना करता है, यज्ञ के प्रत्येक कार्य को भी आगे बढ़ाने वाला, इसकी सिद्धि की कामना करने वाला होता है और वह यजुर्वेद का ज्ञाता होता है।

श्रौतकर्म जो विस्तृत और विशेष यज्ञ के कर्म हैं उनमें ऋत्विजों की संख्या बढ़ जाती है। उस स्थिति में पूर्वोक्त चार प्रकार के ऋत्विजों को चार गण मानकर उन्हीं में ऋत्विजों का विभाग कर दिया जाता है। उसे इस प्रकार समझना चाहिए। : —

१ अध्वर्युगण—	२. ब्रह्मगण—	३. होतृगण—	४. उद्गातृगण
१ अध्वर्यु:	१ ब्रह्मा	१ होता	१ उद्गाता
२. प्रतिप्रस्थाता	२. ब्राह्मणाच्छंसी,	२. मैत्रावरुण प्रशस्ता	२ प्रस्तोता
३. नेष्टा	३. आग्नीध्र	३. अच्छावाक	३. प्रतिहर्त्ता
४. उन्नेता	४. पोता	४. ग्रावस्तुत्	सुब्रह्मण्य

ये सभी वेद और वैदिक-यज्ञ-विज्ञान में निपुण व्यक्ति होने चाहिएं। इनके कर्म श्रौतसूत्रों में बताये गये हैं।

यजमान और यजमान-पत्नी यज्ञ के यजमान के रूप में होते हैं। यजमान जब यज्ञ का यजमान हो और पत्नी साथ में हो तो पत्नी दांये ओर बैठेगी। बायीं ओर नहीं। संस्कारों में जिनमें पत्नी को बायीं तरफ बैठने का विधान है जैसे पुंसवन आदि उनके अतिरिक्त अन्यत्र वह दायीं ओर ही बैठेगी। पति के दायें तरफ उसका बैठना होगा। ऋत्विजों में अङ्गहीन, अश्रोत्रिय, षण्ड और गुणकर्मानुसार शूद्र को स्थान नहीं देना चाहिए। यजमान बनने में शूद्र और स्त्री को अधिकार है। कात्यायन आदि के श्रौतसूत्रों[1] मीमांसा आदि के अनुसार स्त्री और शूद्र सभी को यज्ञ करने का अधिकार है।

ऋग्वेद९।६६।२०[1] मन्त्र में यज्ञ की अग्नि को पाञ्चजन्य कहा गया है। जो पांच प्रकार के मनुष्यों के लिए है। मनुष्यों में गुण,कर्म और स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण होते हैं। इनमें जो नहीं आता वह अवर्ण है। इस प्रकार चारों वर्णों के लोग और अवर्ण भी यज्ञ कर सकते हैं इसलिए यह यज्ञ की अग्नि को पाञ्चजन्य कहा गया है। ऋग्वेद संहिता८।१।१३(यह क्रम मण्डल सूक्त मन्त्र का नहीं है)। मन्त्र को यहां पर उपस्थित करके मैं उसका

अर्थ कर देता हूं। यह इस विषय में बहुत ही उपयोगी मंत्र है—

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभिदेवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्॥

गुरु व ऋषि मुनि उपदेश करें कि—

हे अन्नादि पदार्थ वाले, यज्ञों को करने वाले विद्वन्! हे पंचजन लोग! हम वेद वाणी के उत्कट बल को जानते हैं। उसके द्वारा हम आसुर वृत्तियों का दमन करें। आप लोग यज्ञ का सदा संपादन करते रहो।

यहां पर पंचजना: का अर्थ स्वयं औपमन्यव आचार्य ने चार वर्ण और पांचवां निषाद किया है। इस प्रकार मनुष्य मात्र को यज्ञ करने का अधिकार है, चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष हो। वेद ही जब इस प्रकार की आज्ञा देता है तो फिर अन्य शास्त्रों के प्रमाण की अपेक्षा नहीं रह जाती। कारण यह है कि वेद और शास्त्रों की प्रमाणता में वेद की प्रमाणता श्रेष्ठ और मन्तव्य है। शास्त्रों का यदि विरोध भी किसी प्रकार उपस्थित हो तब भी वेद की प्रमाणता मानी जावेगी। क्योंकि वेद स्वतःप्रमाण है। अथर्व वेद १९।९।१२[1] में गृहस्थ यजमानों को पत्नी सहित यज्ञ करने का विधान है।

इसके अतिरिक्त संस्कारों में जहां पर चार ऋत्विज् नहीं हैं वहां पर यदि एक हो तो पुरोहित, दो हों तो ऋत्विक् और पुरोहित और यदि तीन हों तो ऋत्विक् पुरोहित और अध्यक्ष। इनमें ब्रह्मा का आसन यज्ञ वेदी पर दक्षिण में हो और मुख उत्तर में हो, अध्वर्यु का उत्तर आसन और दक्षिण में मुख हो, उद्गाता का पूर्व में आसन और मुख पश्चिम हो, होता का पश्चिम में आसन और मुख पूर्व हो। यजमान का आसन पश्चिम में हो और मुख पूर्व हो अथवा दक्षिण में आसन और मुख उत्तर हो।

ऋत्विग् को पूरी दक्षिणा नियमतः दी जावे

जैसा पूर्व लिखा गया है कि यज्ञ में दो प्रकार के देवों की तृप्ति होती है। एक तो यज्ञ देव हवि आदि से तृप्त होते हैं। दूसरे मनुष्य देव अर्थात् विद्वान् आदि दक्षिणा से तृप्त होते हैं। बिना दक्षिणा के यज्ञ पूर्ण और सफल नहीं होता है। यजुर्वेद ७।४६[1] में लिखा गया है कि हे यज्ञ करने वालो, तुम ऐसे ब्राह्मण को यज्ञ के ऋत्विग् आदि के रूप में प्राप्त करो जो प्रशस्त पिता वाला श्रेष्ठ पिता महादि वाला, मन्त्रों का व्याख्याता, कर्त्तव्यों वाला हो और स्वर्ण

आदि उत्तम पदार्थों और धातुओं की दक्षिणा उसे प्रदान की जावे। इसी मन्त्र पर व्याख्यान करते हुए शतपथ ब्राह्मण में ऋत्विजों को दक्षिणा देकर तृप्त करने का विधान किया गया है। इस लिए यज्ञ में दक्षिणा देने में कोई न्यूनता नहीं रखनी चाहिए। यज्ञ की समृद्धि के लिए इसमें किसी प्रकार की कोताही नहीं करनी चाहिए। वर्तमान समय में डाक्टर की फीस, वकील की फीस तथा अन्य फीसें कसकर लगाई जाती हैं परन्तु यज्ञ कराने वाले पर लोग समझते हैं कि कम से कम भी वे जो कुछ दे रहे हैं बड़ा भारी एहसान कर रहे हैं। इसीलिए ऐसे धार्मिक कार्य सफल नहीं होते हैं। कोई मनुष्य संसार में मनुष्यों को धोखा दे सकता है। परन्तु भगवान् को धोखा नहीं दे सककता है।

यज्ञ को जब पवित्र कर्म मानकर किया जाता है और यह भावना उसके अन्दर रहती है कि यह इस जीवन और अगले जीवन में सुख शांति का दाता है—तब उसका रूप दूसरा होता है। परन्तु जब केवल वायु शुद्धि मात्र की भावना इसके अन्दर काम करती है तब इन सब दक्षिणा आदि की बातों और फल आदि का कोई स्थान नहीं रह जाता। वह केवल एक दिखावा मात्र रह जाता है। श्रौत-सूत्रों और मीमांसा आदि में कर्मफल के सिद्धान्त का विचार करके पुनः कर्म के सिद्धान्तों की स्थापना की गई है। इसी लिए प्रत्येक अंचल पर गम्भीरता से विचार करके पुनः कर्म के सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं।

प्रमाणसन्दर्भ

१. **ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः॥ ऋ० १०-७१-११**

२. **अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति ? त्रय्या विद्यया-ऐ० ५-५-८**

३. **स्त्री चाऽविशेषात्, रथकारस्याधाने, निषादस्थपतिर्गावेधुकेऽधिकृतः—कात्या० श्रौत० १-१-७, ६, १२. मीमांसा में भी इसी प्रकार का वर्णन है।**

४. **अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः॥ ऋ० ९-६६-२०**

५. **इमं यज्ञं सहपत्नीभिरेत्य। अथ० १९-१-१२**

६. **ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयम् सुधातुदक्षिणम्।**

षष्ठ प्रकरण

यज्ञ में वेदमन्त्र-पाठ

यज्ञ में वेद मन्त्रों का प्रयोग होता है। उनका पाठ किस प्रकार से हो—इस पर भी विचार किया गया है। शास्त्रकारों ने इस पर अपना सिद्धान्त न निर्धारित किया हो-ऐसा नहीं है। उन पर विचार किया जाता है। वेद मन्त्रों पर स्वर लगे होते हैं। स्वरों का पाठ यज्ञ में भी हो वा नहीं ? जहाँ तक साधारण स्वर की बात है, वे हैं ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। इनका उच्चारण तो किया जाना ही चाहिए इसके अतिरिक्त प्रत्येक वेद के उच्चारण की विधि है। किसी की द्रुत, किसी की मन्द आदि। उनका उच्चारण उसी प्रकार होना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने अपनी संस्कार विधि के सामान्य प्रकरण के अन्त में यह लिखा है जो एक सामान्य नियम है। वे लिखते हैं:—सब संस्कारों में मधुर स्वर से मंत्रोच्चारण यजमान ही करे। न शीघ्र न विलम्ब से, उच्चारण करे किन्तु मध्य भाग से जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है, करे। यह सामान्य नियम है।

कुछ लोग जो पौराणिक प्रथा में पले हैं अब भी यज्ञों में स्वयं पाठ हाथ हिलाकर करते हैं। इस प्रथा में पहले प्रत्येक मन्त्र के आदि में 'हरिः ओ३म्' बोलकर प्रारम्भ किया जाता है। ओ३म् के पूर्व हरिः का प्रयोग शास्त्र सम्मत नहीं। 'हरि' का कोई ऐसा अर्थ भी नहीं जो वेद वा, ओ३म् वा, भगवान् को द्योतन करता हो। यह प्रथा पौराणिक और शास्त्रविरुद्ध है।

क्या प्रत्येक मंत्र के पूर्व ओ३म् का उच्चारण किया जावे ?

यज्ञों में इस बात का विचार करने में दो ढंग से विचार किया जावेगा। एक तो यह कि जो यज्ञ श्रौत आदि किए जाते हैं और दूसरा यह कि जो संस्कारविधि के अनुसार संस्कारों में प्रयुक्त

होते हैं। संस्कारों के विषय में महर्षि दयानन्द की रचित संस्कार-विधि एक आर्ष ग्रन्थ है। उसमें दिखाई गई प्रक्रिया ही प्रामाणिक है, अतः उस पर ही विचार किया जाता है। ऋषि ने स्वयं भी सभी मन्त्रों के आदि में ओ३म् नहीं लगाया है। इस विषय को एक बड़े प्रश्न के ढंग में लाकर उत्तर दिया जाना आवश्यक है। प्रश्न इस प्रकार बनता है। क्या सन्ध्या, हवन आदि कर्मकाण्ड के समय प्रत्येक मंत्र के आदि में और अन्त में ओ३म् लगाया जाना चाहिए ? इसका समाधान निम्न प्रकार है: –

१-संध्या, हवन, प्रार्थनोपासना, स्वस्ति, शान्ति, संस्कार आदि के समय विषय, क्रिया, कण्डिका और आकांक्षा के अनुसार मंत्र, मंत्रार्ध मंत्रवाक्य या मंत्रपद के आदि में ओ३म् लगाया जा सकता है। विषय, क्रिया, कण्डिका, आकांक्षा आदि यदि एक एक मंत्र, मंत्रार्ध मंत्र वाक्य अथवा मंत्र पद से पूर्ण होते हों तो उन प्रत्येक के आदि में ओ३म् लगाया जा सकता है। परन्तु यदि विषय क्रिया आदि अनेक मन्त्रों से पूरे हों तो प्रथम मन्त्र के ही आदि में ओ३म् लगाया जावेगा जैसे प्रार्थना, स्वस्ति, शान्ति, अघमर्षण आदि।

२-परन्तु यदि इन कर्मकाण्डों में वेद की संहिताओं से इतर मन्त्रों का प्रयोग है तो ऐसे प्रत्येक मंत्र के आरम्भ में ओ३म् लगाया जावेगा परन्तु वह अभ्यादानात्मक प्लुत रूप नहीं होगा।

३- स्वाध्याय काल में स्वाध्याय प्रारम्भ करते समय और स्वाध्याय समाप्त करते समय ओ३म् का उच्चारण होगा। प्रत्येक मंत्र के साथ नहीं।

४-मंत्र की, मंत्रार्ध की मंत्रांश की 'टि' को ओ३म् वहीं पर होगा जहां शास्त्र में लगाया गया हो। प्रत्येक हवन और कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने वाले मंत्र के अन्त में नहीं।

५-मंत्र के समाप्त होने पर ओ३म् शान्तिः, शान्तिः लगाया गया है परन्तु यह सर्वत्र नहीं।

६-यदि ब्रह्मपारायण हो तो प्रत्येक संहिता के प्रारम्भ करते समय प्रथम मंत्र के आदि में ओ३म् लगाया जा सकता है। यह प्रत्येक मन्त्र के आदि में नहीं लगाया जावे। इसी प्रकार संहिता के अन्तिम मंत्र के अन्त में भी 'टि' को ओ३म् लगाया जा सकता है। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में नहीं।

७-यज्ञ की समाप्ति पर ओ३म् से अवसान किया जा सकता है। इन प्रत्येक पर उपर्युक्त क्रमानुरोधेन प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं:—

महर्षि दयानन्द की संस्कारविधि आदि प्रमाण हैं। जहां पर महर्षि ने ओम् लगाया है वह विधान है और जहां पर नहीं लगाया वह निषेध है।

२-इसमें महर्षि की संस्कारविधि प्रमाण है। संहितेतर मन्त्रों में सर्वत्र संस्कारविधि में प्रत्येक मन्त्र के आदि में ओ३म् लगाया पाया जाता है। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि ऋत्विज् यज्ञ में अयज्ञीय वाणी का प्रयोग न करें। यदि कर बैठें तो प्रायश्चित्त करें। अतः लौकिक वाक् का प्रयोग न हो, वैदिक का प्रयोग हो, इसलिए वेदेतर मन्त्रों के साथ में उनके पूर्व में ओ३म् का प्रयोग कर उन्हें लौकिक वाक् से व्यावृत्त कर दिया जाता है। विकथां चान्यां कृत्वेयं लौकिकया वाचा व्यावर्तते ब्रह्म, लोके च भूतिकर्मणः तदादीन्येव वाक्यानि स्युः.....................

यज्ञेषु चैतदादयः प्रसवाः। आपस्तम्ब धर्म सूत्र, प्रश्न १ कां० १३ पटल ४ सूत्र ६५

यज्ञियां वाचं वदेत् मायज्ञियां वाचं वदेत्, वैष्णवीमृचम् यजुर्वा। गोभिल १।६।१।१८-२०

एवमामन्त्रित ओङ्कारेण प्रोक्ष यज्ञमिति। कात्यायन श्रौत० २।२।६ अयज्ञियां वा व्याहृत्य महाव्याहृतीर्जपेत ॥ खदिर १।१।२४ व्याहृत्य वैष्णवं जपेत्। का०२।२।२६

३-ओङ्कारः—स्वर्गद्वारं तस्माद् अध्येषमाणः एतदादि प्रतिपद्येत आपस्तम्ब धर्म० १।४।१३।५

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।

स्रवत्यनोङ्कृतं सर्वं पुरस्ताच्च निषीदति ॥ मनु २।७४

इसी मानव श्लोक का प्रमाण देकर शब्द-कल्पद्रुमकार लिखते हैं—वेदस्याध्ययनारम्भे अध्ययनसमाप्तौ च ब्राह्मणस्य ओङ्कारोच्चारण-कर्त्तव्यत्वमुक्तं यथा मनौ २।७४ शब्द-कल्प द्रुम पृष्ठ २५०

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्यामन्त्रयति ओमित्याशंसति
छान्दो १।१।६

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वराति एवं सामैवं यजुः।
छा० १।१।१०

मामिकामेव व्याहृतिम् आदितः आदितः कृणुध्वम् ॥

गो० पू० १।२८

ओमभ्यादाने। अष्टा० ८।२।८७ यहाँ पर इस सूत्र में यज्ञ की अनुवृत्ति किसी भी सूत्र से नहीं है। अतः यह सूत्र यज्ञ में वा कर्म-काण्ड में मन्त्रों के प्रयोगों को लेकर नहीं प्रवृत्त है। इसका विषय स्वाध्याय में यह विधान करना है। यही कारण है कि न्यासकार को कहना पड़ा कि—प्रारम्भे कस्य प्रारम्भे स्वाध्यायादेः। न्यास ८।२।८७

४–इसके प्रमाण रूप में प्रणवष्टेः सूत्र को लिया जा सकता है। यह पाणिनीय शब्दानुशासन ८।२।८९ पर अङ्कित है। इस सूत्र के आधार पर आज कल प्रत्येक मंत्र के अन्त में ओम् लगाने की प्रथा चल पड़ी है। यह सर्वथा ही शास्त्रविरुद्ध है। बहुधा देखा गया है कि 'टि' का जिन्हें परिज्ञान मात्र भी नहीं वे भी प्रत्येक मन्त्र के अन्त में ओम् लगाने का प्रयास करते हैं। इस सूत्र से किसी भी अवस्था में हवन आदि कर्मकाण्ड में प्रत्येक मन्त्र में ऐसा करने का विधान सिद्ध नहीं होता। 'प्रणवष्टेः' सूत्र में यज्ञ कर्मणि पद की अनुवृत्ति "ये यज्ञ कर्मणिः" सूत्र से ही आती है। इस सूत्र पर महाभाष्यकार पंतजलि स्वयं लिखते हैं :—

ये यज्ञकर्मणीति प्राप्ते·········इहापि प्राप्नोति।

ये देवासो दिव्येकादशस्थ इति। इसका भाव स्पष्ट है कि यहां सूत्रस्थ यज्ञ कर्म से अभिप्राय सर्वत्र यज्ञ कर्म से नहीं है।

ये यजामहेत्यत्रैवं प्लुत इष्यत इति—एच्चप्राचामित्यस्याः तु वृत्तेर्वाविस्थितविभाषाविज्ञानाच्च लभ्यत इति वेदितव्यम्। काशिका विवरणपञ्जिका ८।२।८८ 'प्रणवष्टेः' की क्या स्थिति है, इस पर भी भाष्यकार स्वयं प्रकाश डालता है—पादस्य वा अर्धर्चस्य वान्त्य-क्षरमुप संहृत्य तदाक्षरक्षेपस्य स्थाने त्रिमात्रमोकारमोंकारं वा विधी-यते तं प्रणवमित्याचक्षते। यहां पर त्रिमात्र ओकार और ओंकार को प्रणव संज्ञा दी गई है। यह एक परिभाषा है। इससे प्रत्येक मंत्र के अन्त में 'ओम्' उच्चारण का विधान बनता नहीं। विशेष स्थान पर ही यह विधान इस सूत्र से ज्ञात होता है। वेदांगप्रकाश संधिविषय में भी लिखा है—पाद वा आधी ऋचा के अन्त्य 'टि' संज्ञक भाग के स्थान में प्लुत ओंकार ही प्रणव कहाता है।

५—देखे महर्षि का सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास शन्नो मित्रः आदि।

६—प्रथम में दिए गए आधारों पर ही।

७—ओम् से अवसान करने के विषय में संख्या पांच के ही प्रमाण को प्रमाण माना जा सकता है। समाप्तौ प्रणवेनावसानम्—इस आश्वलायन श्रौतसूत्र १।२ के वाक्य से भी इसकी पुष्टि होती है।

यज्ञ आदि में प्रत्येक मन्त्र के आदि में ओम् नहीं लगाना चाहिए

यहां पर यह प्रमाण भी प्रस्तुत किया जाता है कि यज्ञादि के समय प्रत्येक मन्त्र के आदि में ओम् नहीं लगाना चाहिए। गृह्य-सूत्रों के अनुसार यह प्रक्रिया है कि यज्ञ में आहुति के मन्त्रों के अन्त में स्वाहा बोला जावे। खदिर गृह्यसूत्र १।१।१९ में लिखा है कि "स्वाहान्ता मन्त्रा होमेषु।" इसी प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र १।९।२७ में निम्न सूत्र पाया जाता है :—

'मन्त्रान्ते स्वाहाकारः। इस पर टीकाकार म० म० मुकुन्द शर्मा अपनी टीका में लिखते हैं। अत्र अग्नौ करणहोमे। सहपठितानां होममन्त्राणामादौ न प्रत्येकमोंकारः करणीयः तदप्याह स एवं नोङ्कु-र्याद्होममन्त्राणां पृथगादिषु। अन्येषां च विकृष्टानां कालेनाचम-नादिना।

इसी पर टीका करते हुए चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार ने कर्म प्रदीप के आधार पर लिखा है—होममन्त्राणां चादौ न प्रत्येकमोङ्कारः करणीयः—नोङ्कुर्याद्० आदिः।

इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यह आता है कि कभी मन्त्रान्त में स्वाहा बोला जाता है और कभी स्वाहा बोलकर पुनः मन्त्र पढ़ा जाता है। ऐसी स्थिति में ओम् प्रत्येक मन्त्र के आदि में लगाना किस प्रकार सिद्धान्त रूप में कहा जा सकता है। एक भी शब्द वेद मन्त्र में बिना ऊह के नियम के आधार लिए घटाना बढ़ाना प्रायश्चित्त का कारण बनता है। अतः प्रत्येक मन्त्र में बिना नियम कोई वस्तु बढ़ाना ठीक नहीं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास में लिखा है :—

और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में हरि ओ३म् लिखते और पढ़ते हैं यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं, वेदादि सत्य शास्त्रों में हरि शब्द आदि में कहीं नहीं। इस लिए ओ३म् वा अथ शब्द ही ग्रन्थ के आदि में लिखना चाहिए।

पुनः—

ऐसे ही अन्य ऋषि मुनियों ने ओ३म् और अथ शब्द लिखे हैं वैसे ही 'अग्नि, इट्, अग्नि, ये त्रिसप्ताः परियन्ति',—ये शब्द चारों वेदों के आदि में लिखे हैं।"

इनसे यह प्रकट है कि ओ३म् कहां लगाना चाहिए और कहां नहीं—इस विषय को बड़े ध्यान से सोचना चाहिए अन्यथा अनर्थ की संभावना है।

अतः इन सब आधारों पर यही प्रशस्त है कि महर्षि ने जहां पर ओ३म् लगाया है वहां पर लगाना चाहिये जहां पर नहीं लगाया वहां पर नहीं लगाना चाहिए।

इसी प्रकार अन्य कुछ गड़बड़ियां भी लोग करते हैं। उनमें से एक यह है कि कुछ वैदिक नामधारी 'ष' को 'ख' 'य' को 'ज' और कुछ लोग 'ऋ' को 'र' के रूप में उच्चारण करते हैं। यह भी गलत है। षष्ठी को ये भी 'खष्टी बोलते हैं वस्तुतः इनके नियम से इन्हें 'खख्टी बोलना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं बोलते हैं। यदि 'ष' ख बनता है तो दूसरा 'ष्टी' वाला 'ष' ख क्यों नहीं बना। यजुर्वेद को 'जजुर्वेद' बोलने वाले फिर इसी आधार पर 'युयुजे' आदि में 'य' को 'ज' क्यों नहीं बोलते। यदि 'ऋ' का उच्चारण 'र' है तो फिर 'ऋष्टि' और रुष्टि में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। इस लिए यह कल्पनायें बनावटी हैं।

कुछ लोग (ँ) इस प्रकार के अनुसार जो कि अयोगवाह है और अनुसार का प्रकार है उसे 'ग्वम्' 'गुँ' आदि बोलते हैं। अनुसार को यह ग्+व+म्=ग्वम् आदेश किस व्याकरण नियम से हो गया इसका कोई उत्तर इनके पास नहीं। अनुसार को अननुनासिक पूरा पद 'ग्वम्' कैसे बन सकता है। अतः इसका उच्चारण अनुसार का ही होना चाहिए। वेदांग प्रकाश आदि में पाणिनि के सूत्र को देकर ऋषि ने यह — क्या है—इसकी स्थिति स्पष्ट कर दी है। वर्णोच्चारण शिक्षा में भी इसका वर्णन किया गया है। वहां भी 'ग्वम्' उच्चारण का कोई विधान नहीं है।

कुछ लोग सभी यज्ञों के अन्त में 'वसोः पवित्रमसि शतधारम्' मंत्र बोलकर 'वसोर्धारा' आहुति देते हैं। यह प्रथा ठीक नहीं। विशेष श्रौत यज्ञों में जहां इसकी व्यवस्था है और महावीर पात्र आदि की व्यवस्था की गई है वहीं पर यह आहुति होनी चाहिए। अन्यत्र सभी यज्ञों में नहीं। यह वेद मंत्र है—इसमें सन्देह नहीं परन्तु इसकी सभी यज्ञों के अन्त में आहुति दी जावे-यह ठीक नहीं। इस प्रकार की अन्य बातों का समाधान संस्कारविधि पर उठने वाले प्रश्नों का समाधान करते समय किया जावेगा।

वैदिक यज्ञ और त्रैस्वर्य मन्त्रपाठ

जैसा पहले कहा जा चुका है साधारणतः ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और जिन वेदों का जैसा उच्चारण है उसका ध्यान रखकर वेद मंत्रों का यज्ञ में मधुर स्वर से उच्चारण होना चाहिए। परन्तु इस उच्चारण समस्या को लेकर एक प्रश्न खड़ा होता है कि क्या वेद मंत्रों का त्रैस्वर्य से यज्ञ में उच्चारण होना चाहिए वा कोई और प्रकार है? इस पर विचार यहां पर किया जाता है। वेद मंत्रों को देखने पर ज्ञात होगा कि कुछ चिन्ह पड़े रहते हैं। सामवेद में यह अंकों में चिन्हित होता है। इसको स्वर कहा जाता है। ये स्वर हैं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके उच्चारण आदि के व्याकरण में नियम बने हुये हैं। इनका वेदमंत्रों के पाठ में उच्चारण होता है। इसे ही त्रैस्वर्य कहते हैं। तीनों स्वरों के उच्चारण के साथ वेदमंत्रों के उच्चारण को त्रैस्वर्य पाठ कहते हैं। यज्ञ में भी पौराणिक लोग इन स्वरों का उच्चारण करते हैं। परन्तु यह शास्त्र की दृष्टि से संगत नहीं है इस पर कुछ विवेचन की आवश्यकता यहां पर ज्ञात होती है।

जैसा कहा जा चुका हैं, वैदिक यज्ञों का वर्णन श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों में लिखा है। परन्तु इनके विद्यमान होते हुये आज बहुत से यज्ञों की प्रक्रिया और परम्परा लुप्त हो चुकी है। अश्वमेध आदि यज्ञों का नाम और करने का विधान हमें पूर्वोक्त श्रौतसूत्रों आदि में मिलता है परन्तु उनको यदि कराने को कह दिया जावे तो बहुत थोड़े ही व्यक्ति होंगे जो कराने में समर्थ होंगे। कारण यह है कि उनकी परम्परायें अब चालू नहीं है। यज्ञ-सम्बन्धी छोटी छोटी बातें आज विचारकोटि में आ जाती हैं तथा

समाधान करना कठिन हो जाता है। वस्तुतः ये विषय पुस्तक में पढ़ लेने मात्र के ही नहीं बल्कि परम्परा चालू करने और घोर अभ्यास के हैं। संस्कारों में बहुत साधारण कर्म हैं परन्तु केवल पोथी लेकर बैठने से सफलता नहीं प्राप्त होती। प्राचीनकाल में पुरोहित प्रथा थी और याज्ञिकों का सम्प्रदाय भी चलता था। दर्शपौर्णमास की क्रियापद्धति लघु होते हुये भी ग्रन्थों में इसका बाह्याडम्बर कितना घबड़ा देने वाला है। सोमयाग की बात भी आज कठिनता से समझ में आती है। कराने की पद्धति में कितनी कठिनाई है, विचारक स्वयं जान सकते हैं।

"गोमेध-यज्ञ" की पद्धति के भी विचारपूर्वक निर्णीत करने की आवश्यकता पड़ेगी। यदि वैदिक ग्रन्थों में इसकी विधि है तो उसे ही अपनाना पड़ेगा। यदि नहीं है तो हम अपनी विधि युक्तियुक्त और शास्त्रीय ढंग पर बना सकते हैं। श्री स्वर्गीय स्वामी आत्मानन्द जी ने गोमेध यज्ञ की एक विधि बनाई भी है और इसका प्रयोग भी श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी महाराज द्वारा सुचारु ढंग से हैदराबाद में किया गया। गोमेध यज्ञ की विधि बनाकर उक्त स्वामी जी महाराज ने विद्वानों के लिए मार्ग-निर्माण किया है। उनका यह कार्य प्रशंसनीय है। यज्ञ की वेदी और उसके दूसरे उपस्करों को सजाने वाले व्यक्ति भी आज नहीं मिलते। प्रसन्नता है कि इस विषय में श्री स्वामी ब्रह्मानन्दजी दण्डी महाराज अच्छा परिज्ञान रखते थे। अमृतसर के श्री पं० परशुराम शर्मा जी भी यज्ञवेदी सजाने का कार्य बड़े उत्तम प्रकार से करते थे। गोमेध यज्ञ की विधि के निर्माता स्वामी आत्मानन्द जी महर्षि के अनन्य भक्त थे और परिव्राजक स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी भी महर्षि और उनके सिद्धान्तों पर अटूट श्रद्धा रखने वाले महानुभाव थे। वे ऋषि के अत्यन्त भक्त और ऋषि की पाठविधि को मूर्त रूप अपने गुरुकुल में देने वाले संन्यासी विद्वान् थे।

गोमेध यज्ञ की विधि को प्रांजल बनाने का साधन श्रौत-सूत्र में मिल सकता है। उसके ढूंढ़ने की आवश्यकता है। मुझे जहाँ तक अध्ययन से ज्ञात हुआ है, मैं ऐसा हो समझता हूं और पाता हूं। लौगाक्षि-गृह्यसूत्र की ७१वीं कण्डिका में एक 'गोयज्ञ' वर्णित है। इसमें प्रथम सूत्र में लिखा है—गावो भग इति गोयज्ञस्य—'गावो

भगः' इस प्रतीक वाला मन्त्र गोयज्ञ का है। यहां पर टीकाकार देवपाल ने यह भी लिखा है कि यह गोयज्ञ ब्याई हुई गाय के स्वास्थ्य और सद्गर्भ ग्रहण के लिए वसन्त में किया जाता है। इसमें "सीरा युञ्जन्ति" आदि हल चलाने और कृषि सम्बन्धी मन्त्रों का विनियोग है। मध्य में सीतायज्ञ के भी मन्त्र आ गये हैं। देखने से पता चलता है कि यहां पर गोयज्ञ में गोवंश की समृद्धि और उससे सम्बद्ध कृषि की समृद्धि का समन्वय है। यह गोमेध के लिये उपयोगी वस्तु है। नाम इसका भले ही गोमेध न होकर गोयज्ञ है। इसमें विनियुक्त सभी मन्त्र उपयोगो हैं। ताण्ड्य-ब्राह्मण के १९वें अध्याय के १३वें खण्ड में गोसव' नामी यज्ञ का वर्णन है। यह यज्ञ कात्यायन श्रौत-सूत्र २२।११।३१ और आपस्तम्ब २२।१२।१७ में वर्णित है। इसमें कात्यायन के अनुसार सहस्र बैलों की दक्षिणा दी जाती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण २।७।७ में भी इस 'गोसव' का उल्लेख है। इसे पशुस्तोत्र भी कहा गया है। इस 'गोसव' यज्ञ पर इन ब्राह्मणों में लिखा गया है कि अथैष गोसवः, स्वाराज्योवा एष यज्ञः—अर्थात् यह गोसव है और यह यज्ञ स्वाराज्य है। इस प्रकार इस यज्ञ का महत्व और भी अधिक प्रकट होता है। यह यहाँ पर केवल एक निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। ऐसे अनेक विषय हैं जिन पर विचार करने की आवश्यकता है।

पौराणिक याज्ञिक, जिनमें यज्ञ की परम्परा होने का लोगों को कुछ भास दिखलाया जाता है—वे भी इस विषय में उल्टे ही मार्ग पर चलते हैं। शतकुण्डो, सहस्रकुण्डी का कहीं विधान नहीं मिलता, परन्तु ये कराते हैं। इनके कुण्डों की विधि भी शुल्वसूत्रों से मिलती नहीं पाई जाती। वेदमन्त्रो के भाव को न समझ कर उन्होंने कुण्डों की मेखला को सर्वोच्च मेखला पर 'अर्घा' के आकार बनाना प्रारम्भ कर दिया है। यह घी का पात्र रखने के स्थान के पास निर्मित होता है और घी स्रुवा से इसमें पड़ कर तब अग्निकुण्ड में जाना चाहिए। यह योनि के आकार का होता है। इसके बीच में सुपारी भी रख दी जाती है जो उसमें पुरुष सम्बन्धो चिह्न की प्रतीक है। यह कल्पना वाममार्ग से आई हुई मालूम पड़ती है। यज्ञ में इसका कोई महत्व नहीं। इसमें तो साक्षात् यजमान और उसकी पत्नो होते ही हैं। इस अनर्गल वस्तु की यहां पर आवश्यकता ही क्या है? यज्ञ में यह

समाधान करना कठिन हो जाता है। वस्तुतः ये विषय पुस्तक में पढ़ लेने मात्र के ही नहीं बल्कि परम्परा चालू करने और घोर अभ्यास के हैं। संस्कारों में बहुत साधारण कर्म हैं परन्तु केवल पोथी लेकर बैठने से सफलता नहीं प्राप्त होती। प्राचीनकाल में पुरोहित प्रथा थी और याज्ञिकों का सम्प्रदाय भी चलता था। दर्शपौर्णमास की क्रियापद्धति लघु होते हुये भी ग्रन्थों में इसका बाह्याडम्बर कितना घबड़ा देने वाला है। सोमयाग की बात भी आज कठिनता से समझ में आती है। कराने की पद्धति में कितनी कठिनाई है, विचारक स्वयं जान सकते हैं।

"गोमेध-यज्ञ" की पद्धति के भी विचारपूर्वक निर्णीत करने की आवश्यकता पड़ेगी। यदि वैदिक ग्रन्थों में इसकी विधि है तो उसे ही अपनाना पड़ेगा। यदि नहीं है तो हम अपनी विधि युक्तियुक्त और शास्त्रीय ढंग पर बना सकते हैं। श्री स्वर्गीय स्वामी आत्मानन्द जी ने गोमेध यज्ञ की एक विधि बनाई भी है और इसका प्रयोग भी श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी महाराज द्वारा सुचारु ढंग से हैदराबाद में किया गया। गोमेध यज्ञ की विधि बनाकर उक्त स्वामी जी महाराज ने विद्वानों के लिए मार्ग-निर्माण किया है। उनका यह कार्य प्रशंसनीय है। यज्ञ की वेदी और उसके दूसरे उपस्करों को सजाने वाले व्यक्ति भी आज नहीं मिलते। प्रसन्नता है कि इस विषय में श्री स्वामी ब्रह्मानन्दजी दण्डी महाराज अच्छा परिज्ञान रखते थे। अमृतसर के श्री पं० परशुराम शर्मा जी भी यज्ञवेदी सजाने का कार्य बड़े उत्तम प्रकार से करते थे। गोमेध यज्ञ की विधि के निर्माता स्वामी आत्मानन्द जी महर्षि के अनन्य भक्त थे और परिव्राजक स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी भी महर्षि और उनके सिद्धान्तों पर अटूट श्रद्धा रखने वाले महानुभाव थे। वे ऋषि के अत्यन्त भक्त और ऋषि की पाठविधि को मूर्त रूप अपने गुरुकुल में देने वाले संन्यासी विद्वान् थे।

गोमेध यज्ञ की विधि को प्रांजल बनाने का साधन श्रौत-सूत्र में मिल सकता है। उसके ढूंढ़ने की आवश्यकता है। मुझे जहाँ तक अध्ययन से ज्ञात हुआ है, मैं ऐसा ही समझता हूं और पाता हूं। लौगाक्षि-गृह्यसूत्र की ७१वीं कण्डिका में एक 'गोयज्ञ' वर्णित है। इसमें प्रथम सूत्र में लिखा है—गावो भग इति गोयज्ञस्य—'गावो

भगः' इस प्रतीक वाला मन्त्र गोयज्ञ का है। यहां पर टीकाकार देवपाल ने यह भी लिखा है कि यह गोयज्ञ ब्याई हुई गाय के स्वास्थ्य और सद्गर्भ ग्रहण के लिए बसन्त में किया जाता है। इसमें "सीरा युञ्जन्ति" आदि हल चलाने और कृषि सम्बन्धी मन्त्रों का विनियोग है। मध्य में सीतायज्ञ के भी मन्त्र आ गये हैं। देखने से पता चलता है कि यहां पर गोयज्ञ में गोवंश की समृद्धि और उससे सम्बद्ध कृषि की समृद्धि का समन्वय है। यह गोमेध के लिये उपयोगी वस्तु हैं। नाम इसका भले ही गोमेध न होकर गोयज्ञ है। इसमें विनियुक्त सभी मन्त्र उपयोगी हैं। ताण्ड्य-ब्राह्मण के १९वें अध्याय के १३वें खण्ड में गोसव' नामी यज्ञ का वर्णन है। यह यज्ञ कात्यायन श्रौत-सूत्र २२।११।३१ और आपस्तम्ब २२।१२।१७ में वर्णित है। इसमें कात्यायन के अनुसार सहस्र बैलों की दक्षिणा दी जाती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण २।७।७ में भी इस 'गोसव' का उल्लेख है। इसे पशु-स्तोत्र भी कहा गया है। इस 'गोसव' यज्ञ पर इन ब्राह्मणों में लिखा गया है कि अथैष गोसवः, स्वाराज्योवा एष यज्ञः—अर्थात् यह गोसव है और यह यज्ञ स्वाराज्य है। इस प्रकार इस यज्ञ का महत्व और भी अधिक प्रकट होता है। यह यहाँ पर केवल एक निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। ऐसे अनेक विषय हैं जिन पर विचार करने की आवश्यकता है।

पौराणिक याज्ञिक, जिनमें यज्ञ की परम्परा होने का लोगों को कुछ भास दिखलाया जाता है—वे भी इस विषय में उल्टे ही मार्ग पर चलते हैं। शतकुण्डो, सहस्रकुण्डो का कहीं विधान नहीं मिलता, परन्तु ये कराते हैं। इनके कुण्डों की विधि भी शुल्बसूत्रों से मिलती नहीं पाई जाती। वेदमन्त्रों के भाव को न समझ कर उन्होंने कुण्डों की मेखला को सर्वोच्च मेखला पर 'अर्घा' के आकार बनाना प्रारम्भ कर दिया है। यह घी का पात्र रखने के स्थान के पास निर्मित होता है और घी स्रुवा से इसमें पड़ कर तब अग्निकुण्ड में जाना चाहिए। यह योनि के आकार का होता है। इसके बीच में सुपारी भी रख दी जाती है जो उसमें पुरुष सम्बन्धी चिह्न की प्रतीक है। यह कल्पना वाममार्ग से आई हुई मालूम पड़ती है। यज्ञ में इसका कोई महत्व नहीं। इसमें तो साक्षात् यजमान और उसकी पत्नी होते ही हैं। इस अनर्गल वस्तु की यहां पर आवश्यकता ही क्या है? यज्ञ में यह

विकार जिस प्रकार पौराणिक याज्ञिकों ने ग्रहण कर लिया है वसे ही अन्य खराबियां भी उन्होंने अपना ली हैं। यज्ञ में वेदमन्त्रों के सस्वर पाठ की भी यही स्थिति है। पौराणिक या आजकल के वैदिक यज्ञ में भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित सहित त्रैस्वर्य पाठ करते हैं, जबकि शास्त्रों में इसका निषेध पाया जाता है। ये लोग हाथ के द्वारा ही इन स्वरों का व्यक्तीकरण अधिकांश में करते हैं।

यह हाथ के द्वारा स्वर व्यक्त करने की प्रथा कात्यायन की यजुः प्रातिशाख्य १।१२१' सूत्र से ली गई अथवा प्रचलित हुई मालूम पड़ती है। इस सूत्र पर वृत्ति लिखते हुये उवट लिखता है कि हाथ से स्वर दिखलाये जाते' हैं। उदात्त में हाथ को ऊपर लेजाना होता है, अनुदात्त में नीचे—यह सभी आचार्यों के मत से सिद्ध है। परन्तु स्वरित के विषय में मतभेद है। इसलिए अगले सूत्र में कहा गया है कि स्वरित के चार भेद हाथ को तिरछा करके करना चाहिए। अथवा पितृदान के समान हाथ करके करना चाहिए। परन्तु इसके होते हुये भी यहां पर यज्ञ में स्वरपाठ का विधान नहीं है। इसी प्रथम अध्याय के १३०वें और १३१वें सूत्र में क्रमशः 'एकम्' साम-जपन्यूङ्खवर्जम्' आदि के द्वारा यज्ञ में 'तान लक्षण' एक स्वर हो और वह साम, जप तथा न्यूङ्ख को छोड़ कर हो—ऐसा स्पष्ट कह दिया गया है। इन सूत्रों पर टीका करते हुए उवट लिखते' हैं कि यज्ञकर्म में एक ही स्वर तान लक्षण हुआ करता है। इसी प्रकार कात्यायन श्रौतसूत्र के परिभाषा प्रकरण में १।८।१६-१९ तक यज्ञ में वेदमन्त्रों का स्वरपाठ कैसा हो, यह विचार चला है। अन्त में १।८वें' सूत्र में तान पाठ को यज्ञ में नित्य बताया है। १९वें सूत्र में आचार्य ने अन्य आचार्यों के प्रमाण को उद्धृत किया है—ऐसा ज्ञात होता है। यह मत आचार्य पाणिनि के एतद्विषयक सिद्धान्तों से मिलता है। यहाँ निश्चित है कि तान अथवा एक श्रुति स्वर ही यज्ञकर्म में मन्त्रों का होना चाहिए।

मीमांसादर्शन ९।२।३० में भी इस विषय पर चर्चा की गई है। यहां पर भी अन्त में निर्णय यही किया गया है कि यज्ञकर्म में 'तान' स्वर से ही वेदमन्त्रों का पाठ होना चाहिए। मीमांसा के सूत्रों पर 'शास्त्रदीपिका' टीका लिखने वाले पार्थसारथि मिश्र ने एक पग और भी बढ़ कर इस सूत्र पर अपने जो उद्गार प्रकट किये हैं—वे पौरा-

णिकों की इस प्रथा पर पानी फेर देते हैं। वे लिखते हैं'— जप आदि विषयों को छोड़ कर यज्ञकर्म में एक श्रुति ही पढ़ना चाहिए। पाणिनि की स्मृति (अष्टाध्यायी) से ऐसा ही पाया जाता है। ऐसा होने पर भी 'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' आदि करण, याजमान और अध्वर्यु सम्बन्धी मन्त्रों में भी आधुनिक याज्ञिकों का चतुःस्वर से पाठ करने का मूल ढूंढना चाहिए। यद्यपि प्रातिशाख्य में यजुः में प्रावाचन स्वर भी माना है और कात्यायन ने १।८।१९ में याजमान वर्जम् पद से इस विषय में एकश्रुति स्वर का निषेध किया है और यही शायद इन याज्ञिकों की प्रक्रिया का मूल हो गया हो, परन्तु फिर भी पार्थसारथि की यह भावना बहुत स्पष्ट है कि यज्ञ में त्रैस्वर्य वा चातुःस्वर्य पाठ नहीं होना चाहिए। वह इन याज्ञिकों की प्रक्रिया से सहमत नहीं।

आचार्य पाणिनि ने भी अपने अष्टाध्यायी ग्रन्थ में इस विषय पर नियम बनाये हैं तथा उनका यह नियम इतना सर्वव्यापक है कि सर्वत्र पाया जाता है। ऊपर के प्रमाणों में सभी पर इसकी छाप है। पाणिनि का सूत्र उनकी अष्टाध्यायी १।२।३४ में 'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्ख-सामसु'—रूप में पाया जाता है। यहां आचार्य कहते हैं कि यज्ञ कर्म में एक श्रुति स्वर ही होना चाहिए, जप, न्यूङ्ख और साम को छोड़ कर। यहां पर आचार्य की भावना स्पष्ट है, परन्तु सारा झगड़ा इस स्वरपाठ का इन नवीनों ने "विभाषा छन्दसि" १।२।२६वें सूत्र से चला रखा है। यह सूत्र 'यज्ञकर्मणि' सूत्र से एक सूत्र छोड़ कर आता है। इस पर भाष्य करते हुये कारिकाकार लिखता है—विभाषा ग्रहणं यज्ञकर्मणीत्यस्य निवृत्यर्थम्"—अर्थात् सूत्र में विभाषा का ग्रहण यज्ञकर्म की निवृत्ति के प्रयोजन से है। दीक्षित, नागेश आदि ने भी इस सूत्र को "यज्ञकर्मणि" सूत्र का विकल्प माना है। अतः उन्होंने यह मत बना लिया कि यज्ञकर्म में प्राप्त एक श्रुति का यह विकल्प सूत्र है और इसके अनुसार यज्ञ में भी त्रैस्वर्य पाठ हो सकता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। दीक्षित आदि का विचार गलत है। 'यज्ञकर्मण्य-जपन्यूङ्खसामसु'–इस सूत्र में यज्ञ में एकश्रुति विधान होने से ही यह सिद्ध है कि वेद मन्त्रों का पाठकाल में त्रैस्वर्य पाठ होना चाहिए तथा ऐसा करना नित्य प्राप्त है। यज्ञ में यह त्रैस्वर्य पाठ न प्राप्त हो जावे—इसलिए ही यह सूत्र व्यवस्था करने के लिये रचा गया। यदि 'विभाषा छन्दसि' इस सूत्र में यज्ञ विषय में एकश्रुति विकल्प

से हो—यही अभिप्रेत है तो फिर 'यज्ञकर्मणि०' आदि सूत्र कीरचना करने की सूत्रकार को आवश्यकता नहीं थी। परन्तु इसकी उपादेयता सुतराम् सिद्ध है। अतः यह निश्चित है कि "विभाषा छन्दसि" यज्ञ से अतिरिक्त विषय के लिए प्राप्त है। और वह कार्य उसका यह है कि वेदमन्त्रों का सामान्योच्चारण काल में विकल्प से एकश्रुति होवे। इससे सामान्योच्चारण काल में भी वेदमन्त्रों का त्रैस्वर्य उच्चारण और एकश्रुति उच्चारण दोनों ही हो सकता है। दीक्षित आदि ने सूत्रकार के विपरीत भाव लेकर अपनी कल्पना खड़ी कर दी। वेदाङ्ग प्रकाश के सौवर-प्रकरण और अष्टाध्यायी भाष्य दोनों ही में आचार्य दयानन्द ने इस सूत्र का ऐसा ही अर्थ किया है। अष्टाध्यायी वृत्तिकार श्री जीवारामोपाध्याय भी ऐसा ही अर्थ करते हैं। इन सभी ने यहां पर समान्योच्चारण काल में यह सूत्र दोनों प्रकार के उच्चारण बतलाता है—ऐसा ही माना है। दीक्षित ने जिस प्रकार—"विदाङ्कुर्वन्तु इत्यन्यतरस्याम्" ३।१।४१ सूत्र में पुरुष-वचन की विवक्षा न मान कर सभी पुरुषों में इसका प्रयोग बना डाला है—जो सूत्र के आशय के सर्वथा विरुद्ध है वैसे ही इस 'विभाषा छन्दसि' में यज्ञकर्म की अनुवृत्ति मानकर निरर्थक कल्पना कर डाली है।

वस्तुतः यज्ञ में एकश्रुति ही उच्चारण हो—ऐसा समस्त आचार्यों को अभिप्रेत है। उन्होंने विपरीत कल्पना कर आचार्यों की व्यवस्था को तोड़ा है जो उचित नहीं। यज्ञ में एक श्रुति स्वर का ही उच्चारण होना चाहिए और आजकल के याज्ञिकों द्वारा किया जाने वाला यज्ञ में यह सस्वर पाठ ठीक नहीं।

कई लोग महाभाष्य के 'मिथ्या प्रयुक्तःशब्दः स्वरतोवर्णतोवा यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्'-वाक्य की शरण लेना चाहेंगे। परन्तु वहाँ पर अर्थविज्ञान के लिए यह बात कही जा रही है—यज्ञ में सस्वर पाठ के सिद्ध करने के लिए नहीं। भाष्यकार का अभिप्राय प्रकृति स्वर के पाठ से भी सिद्ध हो सकता है। वस्तुतः अर्थ के लिए ही यह वचन मालूम पड़ता है। एकश्रुति पढ़ने में भी तो ग़लती नहीं होनी चाहिए क्योंकि अनिष्टापत्ति ही होती है। याजमानकर्म के कुछ मन्त्रों में प्रकृति स्वर कात्यायन श्रौतसूत्र में वर्जित है—इस दृष्टि को मानकर भी "इन्द्रशत्रु": की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

कर्मकाण्ड और ऊह

कर्मकांड में प्रयुक्त होने वाले मंत्रों में 'ऊह' भी किया जाता है। संस्कारों में तो यह ऊह बहुधा पाया जाता है। परन्तु यह ऊह करना शास्त्र से प्रतिपादित है। यह व्याकरण, कल्प और मीमांसा निर्धारित सिद्धान्त है। महाभाष्यकार पतंजलि ने व्याकरण के उद्देश्यों को बताते हुए 'ऊह' को भी उसमें माना है। व्याकरण शास्त्र के उद्देश्य में इसका परिगणन होना साधारण महत्त्व की बात नहीं है। महाभाष्यकार महाभाष्य १।१।१ पर कहते हैं[1], कि "सारी विभक्तियों और सारे लिङ्गों के साथ वेद में मंत्र नहीं कहे गये हैं। अतः याज्ञिक पुरुष के द्वारा यथार्थ रूप में मंत्रों में विपरिणाम कर लेना चाहिए।" यही वस्तुतः ऊह है। वह पुनः वहीं पर कहता है[2] कि—"प्रयाजोकों को सविभक्तिक कर लेना चाहिए"—ऐसा याज्ञिक पुरुष कहते हैं। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी ८।२७[3] पर यह लिखा है कि "वर्णशः अक्षरशः और विभक्तिपदशः यह कार्य किया जाता है। काण्व शाखा[4] ६।१ में भी कहा गया है कि "प्रयाज्ञों की विभक्तियाँ करनी चाहिए।"

आचार्यों ने स्वयं भी ऐसा किया है—इसका निदर्शन यहाँ पर किया जाता है। 'ममव्रते ते हृदयं दधामि' यह वेदारम्भ और विवाह दोनों ही संस्कारों में आया है। पारस्कर गृह्य सूत्र १।८ के अनुसार पाठ "प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्' है और विवाह में इसी पाठ के साथ प्रयोग किया। पुनः वेदारम्भ में पारस्कर २।२ के अनुसार 'वृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्' पाठ पढ़ा गया। क्योंकि आचार्य वृहस्पति अर्थात् वाणी का स्वामी है और वैसा ही पद भी प्रयोग होना चाहिए था। गृहस्थ प्रजापति है अतः वहां पर वैसा ही पाठ उपयोगी रहा। पारस्कर में दोनों स्थानों पर 'ममव्रते हृदयं' पाठ है परन्तु आश्वलायन गृह्य० १।२१।५ में 'ममव्रते हृदयं ते' पाठ है।

इसी प्रकार ऋग्वेद १०।८५।३० मंत्र में "पूषन् तां शिवतमामैरयस्व···सा न ऊरू उशती विश्रयाति" पाठ है। अथर्व में "तां पूषन्··· उरू विश्रयाति' पाठ है। परन्तु पारस्कर गृह्य सूत्र १।४।१६ में 'सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न उरू उशति विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्टयै" पाठ बाहर

से जोड़ा गया है। पारस्कर १।३।६ में उद्यतामिव सूर्यः पाठ है और आश्वलायन १।२४।८ में विद्युतामिव सूर्यः पाठ है। इस प्रकार ऊह करने का विधान शास्त्रसम्मत है।

महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि में अनेकों स्थानों पर ऊह किया है। 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार में तो इसका वृहत् और सच्चा उदाहरण देखा जा सकता है। कई पंडितम्मन्य इस शास्त्रीय प्रक्रिया को न समझ कर ऋषि की या तो गलतियाँ दिखाते हैं या वेद के मंत्र में पाठभेद मानते हैं। कई तो ऋषि के द्वारा प्रमाद से ऐसा किया गया—यह भी लिखने का साहस कर बैठे हैं। देखें गोविन्दराम हासानन्द द्वारा प्रचारित यजुर्वेद मूल पुस्तक की भूमिका। परन्तु इन्हें यह नहीं ज्ञात है कि संस्कार विधि कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है। वहाँ पर ऊह करना स्वाभाविक है। ऋषि ने ऊह किया है।

यह कैसे मालूम हो कि ऊह किया है? इसका समाधान है कि जहाँ पर ऋषि ने वेद मंत्र के पद से किसी मंत्र में ऊह किया है वहाँ पर वैदिक स्वर लगा है। जहाँ पर वेद के पद से न करके संस्कृत भाषा के पदों से ऊह किया है वहां पर स्वर नहीं लगाया है। क्योंकि उसका भाषिक स्वर होता है। यह नियम सीमन्तोन्नयन संस्कार में देखा जा सकता है। ऋषि की त्रुटि निकालने में लोग इस रहस्य को न समझकर अपनी तुक करते हैं। जो शास्त्र विरुद्ध है। मीमांसा आदि सभी शास्त्रों से कर्मकाण्ड में ऊह करना सिद्ध है। सहस्रशः प्रमाण इस विषय के ऋषियों के दिये जा सकते हैं। इसके विस्तृत ज्ञान के लिए देखें मेरी पुस्तक—दयानन्द—सिद्धान्त—प्रकाश और उसका प्रकरण—महर्षि की वेद में अनन्यभक्ति। इस पुस्तक के पढ़ने से ज्ञात होगा कि ऋषि के ऊपर किये गये सभी आक्षेपों का समाधान किस प्रकार किया गया है।

प्रमाण सन्दर्भ

१. हस्तेन ते। यजुः प्रातिशाख्य १।१२१

२. अनेन प्रकारेण हस्तेन ते स्वराः प्रदर्श्यन्ते। तत्रोदात्ते ऊर्ध्वगमनम्, हस्तस्य, अनुदात्ते अधोगमनम् हस्तस्य। एषः सर्वेषामाचार्याणां मतेन स्थितम्। स्वरिते तु विप्रतिपद्यन्ते, तत्प्रकाशनार्थमिदमाह—चत्वारस्तिर्यग्हस्तं कृत्वा स्वरणीयाः पितृदानवद्धस्तं कृत्वेत्यर्थः।

३. तानलक्षणमेकं स्वरमाहुर्यज्ञकर्मणि—यज्ञकर्मणि एकः स्वरो भवति तानलक्षणः।

४. तानो वा नित्यत्वात्, एकश्रुतिर्दूरात्सम्बुद्धौ यज्ञकर्मणी-सुब्रह्मण्या-सामजप-न्यूङ्ख-याजमानवर्जम्। का० श्रौ० १८.१६

५. यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसमासु—इति पाणिनिस्मृतेः।............
एवं जपमंत्रादिव्यतिरिक्तेषु करणमंत्रादिरूपेषु अग्नये जुष्टं-निर्वपामीत्यादिषु आध्वर्यवयाजमानेषु आधुनिकानां याज्ञिकानां चातुःस्वर्येण प्रयोगे मूलम् मृग्यम्॥ शास्त्रदीपिका ६।२।३०

६. न सर्वैलिङ्गैर्न सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेद मंत्रा निगदिताः ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्या। महाभाष्य १।१।१

७. याज्ञिका पठन्ति प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति।
महा० १।१।१

८. वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोऽपि च०। वा-स०प्रा०८।२७

९. प्रयाजानां विभक्तीः कुर्याद्—कस्माद्?
सविभक्तिकाः प्रयाजा भवन्तीति। का० ६।१

सप्तम प्रकरण

महर्षि दयानन्द की संस्कारविधि की प्रक्रिया

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश ऋग्वेदादि—भाष्यभूमिका जैसे महान् ग्रन्थों को लिख धर्म और वेद के ज्ञान विज्ञान से मानव बुद्धि को सुसंस्कृत एवं परिष्कृत किया। सत्यार्थप्रकाश के तर्क बहुत ही परिपूर्ण वेचिती के द्योतक है। ज्ञान के विस्तार के साथ ऋषि ने कर्मकाण्ड को भी परिष्कृत किया और त्रुटिपूर्ण प्रथावों को निरस्त किया। इस दिशा में पंचमहायज्ञ विधि और संस्कारविधि का प्रणयन कर सत्यमार्ग दिखाया। पंचमहायज्ञविधि में सध्योपासन आदि का वर्णन है। उसी में देवयज्ञ अर्थात् दैनिक अग्निहोत्र का भी वर्णन है। उसकी विधि भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। ऋषि ने विनियोग का उत्तम मार्ग दिखाकर ऋषियों की परम्परा का पुनरुत्थान किया। पौराणिक लोग वाममार्ग के प्रभाव में आकर विनियोग खराब कर रहे थे। ऋषि ने मानवता का इस विषय में मार्गदर्शन किया। विनियोगों का क्या उल्टा तरीका चालू था इसका एक दो निदर्शन यहां पर दिया जाता है।

शंकराचार्य नवीन वेदान्ती थे जगत् को मिथ्या मानते थे और केवल एक ब्रह्म को ही एक मात्र जगत् जीव आदि का कारण मानते थे। वे वर्ण और आश्रम धर्म को भी केवल व्यावहारिक मान-कर उसकी वास्तविकता को नहीं स्वीकार करते थे। यज्ञ आदि कर्मकाण्डों को इहलोक परलोक का साधन नहीं स्वीकार करते थे। वे केवल ज्ञान के उपासक थे। परन्तु वाममार्ग कालिक यज्ञ की विकृत धारणा से वे भी ग्रस्त थे। इसका उदाहरण उनका ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का भाष्य है। यह सूत्र "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा"—है। सूत्र का अर्थहै कि इसके अनन्तर ब्रह्म के जानने की इच्छा करते हैं। जैमिनि व्यास के शिष्य थे। जैमिनि ने पूर्व मीमांसा में वैदिक कर्मकाण्डों की दार्शनिकता का प्रतिपादन किया था। व्यास जो जैमिनि के गुरु

थे उन्होंने उत्तरमीमाँसा का प्रणयन किया। पूर्वमीमांसा के अनन्तर उत्तरमीमांसा की रचना की भावना के अनुसार ही पहला सूत्र उन्होंने लिखा। उसका तात्पर्य भी सार्थक था अर्थात् यज्ञ आदि कर्मकाण्ड के करने और उसके विचार के अनन्तर अब ब्रह्म के जानने की इच्छा करते हैं। यह अथ अर्थात् अनन्तर एक साथकता लिये हुए हैं। शंकराचार्य के मस्तिष्क में यह चक्कर उठा कि यहाँ पर यह अनन्तर कैसे ठीक बैठेगा। अतः यह प्रश्न उठाया कि क्या ब्रह्म के ज्ञान में भी कोई क्रम है जिसके लिए यह 'अथ' वा अनन्तर कहना पड़ा। शंकराचार्य कहते हैं कि यज्ञ में पशु के अंगों को काटने का जिस प्रकार क्रम है वैसे ही ब्रह्म के ज्ञान में भी क्रम है। यह उल्टे बिनियोग का प्रभाव शंकराचार्य जैसे विद्वान् पर था।

इसी प्रकार विवाह संस्कार में वर के द्वारा "गौ" के द्वारा एक सर्वथा बिपरीत विनियोग वाममार्ग के प्रभाव में पौराणिकों ने कर रखा है। श्री वायुनन्दन मिश्र ने एक विवाह पद्धति छापी। यह कचौड़ी गली बनारस से छपी थी। इसमें लिखा है कि वर 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं किल्मुते जनाय मा गामनागा मदितिं वधिष्ट"। इस ऋग्वेदीय मंत्र को बोलकर गाय को मारने को लेजावे। परन्तु कालयुग में 'गाय' मारने का विधान नहीं है अतः एक तृण मंत्र को पढ़कर छोड़ दे। तात्पर्य यह कि इस मंत्र से गाय मारने का कार्य विवाह में तीनो युगों में जो सबसे अच्छे माने जाते हैं था। केवल कलियुग मे नहीं है। इसके लिए एक स्मृति ही खड़ी कर ली गई है। वह है पाराशर-स्मृति। इसमें एक प्रकरण कलिवर्ज प्ररकण के नाम से जोड़ा गया है। इस कलिवर्ज प्रकरण में उन बातों का वर्णन है जो कलियुग में वर्जित है। इसमें एक श्लोक इस प्रकार है :—

अश्वालम्भः गवालम्भः सन्यासः पलपैत्कम्।

देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जिताः। तात्पर्य यह कि अश्व, गाय, आदि मारना कलियुग में निषिद्ध हैं। ये केवल सत्ययुग आदि के लिए धर्म थे। यह कितनी विडम्बना है कि जो सत्ययुग मे धर्म था वह कलियुग मे धर्म नहीं। साथ ही इस श्लोक मे संन्यास लेना भी वर्जित है। परन्तु संन्यास अभी भी लिया जाता है। पौराणिक लोग संन्यास कलियुग में ले ही रहे है। इस को क्यों नहीं

रोका जाता ? प्रथम तो यह भी गलत है कि जो वेद प्रतिपादित धर्म हो वह किसी एक समय के लिए हो और दूसरे समय के लिए वर्जित हो। दूसरी बात यह है कि इस विनियोग के लिए वेद में कोई आधार होना चाहिए। परन्तु ऐसा कोई आधार है नहीं। जिस मंत्र का विनियोग गौ को मारने में किया जा रहा है वह मंत्र गौ मारने का निषेध स्वयं कर रहा है। फिर भी विनियोग उस पर मढ़ा जा रहा है। मंत्र में गाम् अनागाम् अदितिं मावधिष्ठ, पद पड़े हैं। इनमें कहा गया है कि गाय निपराध पशु है, इसको मत मारो। मंत्र तो कह रहा है कि गाय को मत मारो और विनियोग किया जा रहा है कि इस मंत्र से गाय को मारो। यह कितना उल्टा विनियोग है। ऐसे विनियोगों को समूल नष्ट करने और शुद्ध आर्ष परम्परा को स्थापित करने के लिए संस्कार विधि की रचना की गई। संस्कार विधि में जो भी विनियोग किये गये हैं सर्वथा संगत और वेदानुकूल हैं। यहां पर निदर्शन के रूप में कुछ उपस्थित किया जाता है।

कर्मकाण्ड कैसा हो ?

जैसी सृष्टि की प्रक्रिया होती है तदनुसार ही कर्मकाण्ड की भूमि बनती है। वैदिक दर्शन त्रित्ववादी दर्शन है और तदनुरूप ही उसका कर्मकाण्ड है। अथर्व वेद में एक मंत्र आया है कि—व्यापक और अव्यापक के भेद वा रहस्य को बुद्धि से खोलता हूं और उससे ज्ञान को लेकर कर्म करता हूं। अव्यापक जीव है और व्यापक प्रकृति और परमेश्वर है। इनके ज्ञान को जान कर कर्म की प्रक्रिया बनाई जाती है। इसी आधार पर ऋषि ने अपना कर्मकाण्ड प्रष्ठापित किया। संस्कार विधि का कर्मकाण्ड इसी दृष्टिकोण को लिए हुए है।

यज्ञ में सर्वप्रथम वेदी का विचार उठता है और उसमें अग्नि स्थापन का। वेदी कहाँ हो और कैसी अग्नि की स्थापना हो इसका उत्तर प्रथम मंत्र में दिया है। साथ ही कर्मप्रारम्भ ही भगवान् के नाम से होता है अतः उसके पूर्व ओम्भूर्भुवः स्वः से अग्नि के जलाने का प्रारम्भ किया। वेदी दो प्रकार की हैं। एक वह जो हम नहीं बनाते और प्रकृति के जगत् में भगवान् के संचालन में बनी और चलती है और दूसरी वह जो हम बनाते हैं। पहले प्रकार की वेदी द्युलोक और अन्तरिक्ष में है। यह भगवान् की बनाई वेदी है। हम

अपनी वेदी पृथ्वी की पीठ अर्थात् भूमि पर बनाते हैं। यह पृथ्वी देवयजनी है। इस वेदी में जो पृथ्वी की पीठ पर बनाई जाती है यजमान अन्नाद अग्नि को स्थापित करता है। भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना० मन्त्र इस भाव को बताता है।

पुनः अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है और फिर प्रश्न यह खड़ा होता है कि यज्ञ वेदी पर कौनसे लोग बैठें। इसका उत्तर दिया गया कि 'विश्वेदेवाः यजमानश्च सीदत' अर्थात विद्वान् लोग यजमान और यजमान की पत्नी यज्ञवेदी पर बैठें। किधर से बैठें ? इसका उत्तर दिया कि उत्तर दिशा से लेकर चारों तरफ बैठें। इसलिए उद्बुध्यस्वाग्ने० मंत्र इस भाव को बताता है।

पुनः तीन समिधायें छोड़ी जाती हैं और प्रश्न खड़ा होता है कि समिधा, घृत और सामग्री आदि को क्यों छोड़ा जाता है। इनका कहां विधान है ?

इसका समाधान किया गया कि—समिधाग्निम्० अर्थात् समिधा से अग्नि को प्रज्वलित करो, घी से उद्दीप्त करो और इसमें सामग्री आदि शाकल्य डालो। मंत्र में स्पष्ट ही इन बातों का वर्णन है। कहीं बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं है।

तीन समिधायें एक-एक बालिश्त की क्यों छोड़ी जावें ? इस पर यह समझना चाहिए कि विधि-विहित धर्म उसके नियम में निहित है। व्यपपृक्त और अव्यपपृक्त भेद से वस्तु में विधिधर्म की कल्पना होती है। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी इस पर विचार किया है। तैलं न विक्रीणीयात् मांसं न विक्रीणीयात्—अर्थात् तेल नहीं बेचना चाहिए और मांस नहीं बेचना चाहिए। इस पर भाष्यकार कहता है कि क्या फिर यहां यह समझना चाहिए कि तेल नहीं बेचना तो फिर तिल आदि भी नहीं बेचना चाहिए। इसी प्रकार मांस नहीं बेचना चाहिए का क्या यह अर्थ भी लिया जावे कि गांय, बैल आदि भी नहीं बेचना चाहिए ? इसका उत्तर वह स्वयं देता है कि यहाँ पर व्यपपृक्त अर्थात् पृथक किये हुए का ग्रहण करना चाहिए, अव्यपपृक्त अर्थात् साथ लगे हुये अपृथक् का नहीं। तेल नहीं बेचना चाहिए लेकिन तिल आदि बेचना चाहिए। मांस नही बेचना चाहिए परन्तु बैल गाय आदि बेचे जा सकते हैं। यही प्रकार समिधाओं के

विषय में भी लेना चाहिए। न पूरा वृक्ष डाला जा सकता है और न पूरा लट्ठा। केवल बालिश्त-भर की समिधायें ही डाली जानी चाहिए।

पुनः यह प्रश्न उठता है कि तीन ही क्यों डाली जाती हैं? इसका उत्तर यह है कि शतपथ ब्राह्मण १।२।५।१० में कहा गया है कि चूंकि देवों ने वेदि में विष्णु अर्थात् यज्ञ को प्राप्त किया अतः इसका नाम वेदि है। पुनः ब्राह्मणग्रन्थों में कहा गया है कि जितनी बड़ी यह वेदि है उतनी ही बड़ी यह पृथिवी है। अतः यह पृथिवी वेदि है। यजुर्वेद में भी कहा गया है (२३वें अध्याय में) कि यह पृथिवी वेदि है। इयंवेदिः परमन्तं पृथिव्याः इत्यादि। वेदि यहां पर समचतुष्कोण अभिप्रेत है। विष्णु यज्ञ का नाम है—यह भी शतपथ आदि ब्राह्मणों में कहा गया है। विष्णु का कर्म विक्रान्ति करना है और वह भी यज्ञ वेदी में। वह वामन भी है। वामन विष्णु की विक्रान्ति तीन पग की होती है। वेदि के चार कोण होते हैं। यदि चार समिधा कहते तो फिर इनका परस्पर रखना वेदि का ही आकार बनाता, फिर विष्णु के साथ मेल न खाता। दो समिधा कहते तो कुछ भी नहीं बनता। तीन समिधा कहने से विष्णु का तीन पग ठीक बन जाता है। तीन समिधाओं को ठीक रखकर त्रिकोण बनता है। यही तीन पग हैं जो विष्णु रखता है। वेदि सम-चौरस होती है और वह समतल को मापने का मापदण्ड है। परन्तु समस्त आकाश (Space) को विष्णु मापता है और वह त्रिकोण से। संसार तीन परिमाणों वाला है। ये तीन परिमाण आकाश से सम्बद्ध हैं। चौथा परिमाण काल से सम्बद्ध होता है। इन तीन परिमाणों वाले आकाश को त्रिकोण ही माप सकता है। वेदि को किसी कोण से यदि फाड़ दिया जाये तो पता चलेगा कि दो त्रिकोण उल्टे सीधे बैठा दिये गये हैं। कोई भी सम-चौरस वस्तु दो त्रिकोणों का उल्टा सीधा रूप है। इसी प्रकार यज्ञवेदि में यज्ञ जो विष्णु है वह विस्तार को प्राप्त होता है, जब ज्ञान, त्याग और तप की भावना से भावित होता है। यह तीन समिधायें इस उद्देश्य का संकेत देती हैं। पुनः प्रश्न होता है कि अग्नि में ही क्यों हवन हो? इसका समाधान है कि अग्नि में डाले गये पदार्थों की शक्ति को अग्नि बढ़ा देता है। इसलिए अग्नि में ही हवन करने का विधान है। एक लाल मिर्च को वैसे तोड़कर और तवे पर अग्नि में डाल कर देखा जा सकता है।

इसी प्रकार यज्ञ में मंहगी वस्तुएं इसलिए डाली जाती हैं कि उनसे अधिक लाभ होता है बनिस्वत उनके खाने पीने के। सोना एक तोला वैसा उतना लाभ का नहीं जितना कि भस्म बना देने पर उसका लाभ होता है।

अब पुनः यह प्रश्न था कि घृत की पांच आहुतियां जो 'अयन्त' मन्त्र से दी जाती हैं पांच ही क्यों हों? इसका भी उत्तर मन्त्र में ही मौजूद है। जिस प्रकार अग्नि इध्म और घी से बढ़ता है इसी प्रकार यज्ञ करने वाला प्रजा, पशु, ब्रह्मज्ञान, वर्चस् और अन्न से बढ़े। ये संख्या में पांच ही हैं जो यज्ञ से अपेक्षा की गई है, न चार हैं न छः। अतः आहुतियां भी पांच ही रखी गई हैं। न कम और न अधिक।

पुनः चार मन्त्रों से वेदि के चारों तरफ जल छिड़कने की विधि आती है। यह जल छिड़क कर वेदि की अग्नि को परिवेष्टित किया जाता है। इससे जहां वाष्प बन कर यज्ञीय अग्नि में डाले गये पदार्थ आकाश मण्डल में पहुंचते हैं वहां वाष्पीकरण के दूसरे लाभ भी प्राप्त होते हैं। यज्ञ के विषय में ब्राह्मण-ग्रन्थों में आया है कि यज्ञ नग्नता से डरता है अतः उसे परिधानयुक्त करना चाहिए। यह परिधान जल का होता है और उस जल के परिस्तरण में जो उस नग्नता को हटाने वाले तत्त्व मन्त्र से बोले जाते हैं वे हैं अदिति=अखण्डता और अदैन्य, अनुमति=बुद्धि एवं मति अथवा कर्म और ज्ञान में ऐक्य, सरस्वती=ज्ञान वा बुद्धि तथा जगदुत्पादक भगवान् 'सविता' की भावना।

इसके अनन्तर आज्य-भागाहुति चार दी जाती हैं। उत्तर दक्षिण वेदी पर आहुति देने का तात्पर्य यह है कि विद्युत् के दो सिरे हैं। एक दक्षिण और एक उत्तर। एक का नाम एनोड और दूसरे का कथोड है। इसका सम्बन्ध अग्नि और सोम से है। ये दो प्रकार हैं। इनको अग्नि और सोम शब्द प्रकट करते हैं। अतः उनके कार्य-कलाप को बताने के लिए उनकी दिशा का भी ज्ञान करा दिया।

प्रजापति=यज्ञ वा भगवान् तथा इन्द्र=सर्वत्र व्याप्त विद्युत् दो मुख्य देवता हैं और ये ही केन्द्र हैं। अतः इनसे मध्य में आहुति का विधान किया गया है।

इनके अनन्तर व्याहृति आहुतियाँ चार दी जाती हैं। इनमें प्रथम का देवता अग्नि जिसका 'भूः' अर्थात् पृथिवी स्थान है। दूसरी का देवता वायु है, जिसका 'भुवः' अर्थात् अन्तरिक्ष स्थान है। तीसरी का देवता आदित्य है जिसका 'स्वः' अर्थात् द्यौः स्थान है। चौथी आहुति में सभी का संग्रह है। तीनों आहुतियों के अग्नि, वायु और आदित्य देवता हैं जबकि इनका अर्थ भी पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक है। इन सभी बातों का ज्ञान इनसे होता है।

इसके अनन्तर स्विष्टकृत् आहुति आती है। यह प्रायश्चित्त की आहुति है, अतः यह सु+इष्ट+कृत् है। यज्ञ में मन्त्र आदि पढ़ते समय वा क्रिया आदि में गलतियाँ हो जाती हैं, उस समय यह आहुति देकर पुनः गलती को सुधार कर वह कार्य पुनः किया जाता है। ऐसा नहीं है कि गलती की हुई का इस मन्त्र से आहुति दे देने के बाद सुधार हो जावेगा। यह आहुति देकर यदि मन्त्र गलत पढ़ा गया था तो शुद्ध मन्त्र पढ़के आहुति पुनः देनी चाहिए। यदि क्रिया में व्यतिक्रम था तो उस क्रिया को शुद्ध करके पुनः करना चाहिए।

कई लोग समझते हैं कि गलती केवल न्यून करने में ही होती है। परन्तु ऐसा नहीं। विधि का न्यून करना भी गलती है और उससे अधिक करना भी गलती है। इसीलिए मन्त्र में स्वयं कहा गया है—यदत्यरीरिचम् यद्वा न्यूनमिहाकरम् अर्थात् जो अधिक किया वा न्यून किया—वह स्विष्टकृत् हो। स्विष्टकृत् अग्नि का भी नाम है। अतः जो भी यज्ञ सम्बन्धी प्रायश्चित्त होगा अग्नि की साधनता तो उसमें रहेगी।

यहाँ पर मन्त्र में 'विद्यात्' पाठ है। परन्तु वर्तमान में शतपथ में 'विद्वान्' पाठ है। 'विद्यात्' पाठ ठीक है। पं० जीवानन्द कलकत्ता द्वारा प्रकाशित आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी 'विद्यात्' पाठ ही है। अतः यह सुतराम् सिद्ध है कि 'विद्यात्' पाठ इस मन्त्र में था।

प्रजापति की मौन आहुति का रहस्य

इसके अनन्तर प्राजापत्याहुति का विधान है। यह आहुति मौन दी जाती है। यह मौन क्यों दी जाती है? इसमें बहुत ही गूढ़ रहस्य छिपा है। इस रहस्य के उद्घाटन से यह भी पता लग जावेगा कि यज्ञ केवल वायु-शुद्धि के लिए ही नहीं है, उसका और भी कोई

उद्देश्य है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रजापति के साथ उपांशु एवं मौन का सम्बन्ध स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है। शतपथ १/६/३/२३ में ऐसा वर्णन है कि प्रजापति का स्वरूप उपांशु है। पुनः शतपथ १/४/५/१२ में ऐसा वर्णन किया गया है कि 'यज्ञ' में जो कुछ प्रजापति-सम्बन्धी किया जाता है वह उपांशु ही किया जाता है। क्योंकि प्रजापति के निमित्त वाक् अहव्यवाड् है। इस प्रकार प्रजापति की आहुति का मौन दिया जाना ठीक ही है।

शतपथ ब्राह्मण के दर्शपौर्णमास प्रकरण में एक गाथा इस विषय पर पाई जाती है। वह इस प्रकार है कि—मनश्च वाक् च उभे विवदाते स्म अहं भद्रे अहं भद्र—इति। अर्थात् मन और वाणी में विवाद खड़ा हुआ कि मैं बड़ी हूं, मैं बड़ा हूं। दोनों निर्णयार्थ प्रजापति के पास पहुंचे। दोनों ने अपना कथन उपस्थित किया। वाणी ने कहा कि भगवन्। यह मन मुझे प्रजापति की आहुति का मन्त्र नहीं बोलने देता। मैं ही हूं जिससे जगत् का सारा व्यवहार चलता है। मन ने कहा कि भगवन्! ज्ञान का विषय मेरा है। वाणी ज्ञान के क्षेत्र में नहीं पहुंच सकती। आप प्रजापति हैं, आप मन से जाने जा सकते हैं। आप वाणी से वर्णनीय नहीं हैं। वाणी को बड़ा ही क्रोध आया। उसने कहा कि यदि ऐसा ही है तो प्रजापति मैं तेरे नाम की आहुति नहीं दूंगी, यह मन ही आपकी आहुति दिया करेगा। इसलिए वाणी इस आहुति को नहीं बोलती मन ही दिया करता है।

यह गाथा एक रहस्य को उद्घाटित कर रही है, वह रहस्य यह है कि प्रजापति दो प्रकार का है। एक तो यह यज्ञ ही प्रजापति प्रजा का पालक होने से है। दूसरा भगवान् प्रजा का स्वामी स्वयं प्रजापति है। यज्ञ में जो आहुति अग्नि में दी जाती हैं वे जलती हैं और उनका सार-तत्त्व अग्नि के माध्यम से वायु में जाता है और आकाशस्थ मेघों में पहुंचता है। इससे वर्षा के द्वारा भूमि पर आकर औषधि और अन्न आदि में जाता है। अन्न और औषधि आदि को स्त्री-पुरुष, नर और मादा खाते हैं। इससे वह तत्त्व रजोवीर्य में पहुंचता है। दोनों के सम्पर्क से प्रजा=सन्तान आदि की उत्पत्ति होती है। अतः प्रजा का पालक होने से यज्ञ प्रजापति है।

विश्व में जितने भी जीव हैं सभी प्रजा हैं। सब का पालक होने से भगवान् प्रजापति है। प्रजापति निरुक्त और अनिरुक्त दोनों है।

यज्ञादिरूप प्रजापति निरुक्त (Explicable) जबकि भगवान् जो प्रजा का स्वामी प्रजापति है वह अनिरुक्त (Inexplicable) है। उसका पूरा पूरा व्याख्यान नहीं किया जा सकता है। प्रजापति भगवान् क्योंकि मन का विषय है वाणी से वर्णनीय नहीं, मन यज्ञ आदि से शुद्ध पवित्र होकर भगवान् को जान सकता है अतः मन प्रजापति की आहुति देता है—वाणी नहीं देती है।

इस पर एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि जब आधारावाज्यभागाहुति के समय "प्रजापतये स्वाहा" आता है तब प्रजापति की आहुति मौन क्यों नहीं दी जाती है और जब 'अग्निर्ज्योति ज्योतिरग्निः स्वाहा", दूसरी बार आता है तो उसकी प्रजापति न होने पर भी मौन आहुति क्यों दी जाती है? इसका समाधान है कि जब प्रजापति का अर्थ अग्नि आदि दूसरे पदार्थ होते हैं और वह परमेश्वर का वाचक नहीं होता है तब मौन आहुति नहीं दी जाती है। जब अग्नि का प्रयोग प्रजापति के लिए होता है तब मौन आहुति दी जाती है।

इस प्रकार मौन आहुति की समस्या के समाधान से यह भी भली-भांति ज्ञात हो गया कि यज्ञ का उद्देश्य केवल वायु-शुद्धि एवं ऐहिक ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति ही नहीं है, अपितु इससे मन और आत्मा को पवित्र कर भगवान को भी प्राप्त किया जाता है।

एक प्रश्न यज्ञ में यह है कि यज्ञ कौनसे लोग करने का अधिकार रखते हैं?

इसका समाधान किया गया है "अग्निर्ऋषिः पवमानः पांचजन्यः पुरोहितः" मन्त्र में। अर्थात् यह यज्ञ पांचजन्य है। पांच प्रकार के लोग इसे कर सकते हैं। गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार चार वर्ण होते हैं। जो इनमें योग्यतानुसार नहीं आता है वह पांचवीं कोटि में है। इस प्रकार चार वर्ण और पांचवां अवर्ण अर्थात् सभी मनुष्यों को यज्ञ करने का अधिकार है। इस तथ्य को इस मन्त्र में प्रकट किया गया है। ये मन्त्र चौल, समावर्तन और विवाह में मुख्य हैं।

इसके अनन्तर अष्टाज्याहुति के मन्त्र आते हैं। इनमें बहुत चुन कर मन्त्र रखे गये हैं। विश्व में 'वरुणपाश' फैला हुआ है। प्रत्येक मनुष्य के किये हुए को वरुण=वरणीय भगवान् की शक्तियां देखती हैं। बन्धन जिसमें जीव फंसा है वे विभिन्न योनियां हैं। इनका क्रम

उत्तम, मध्यम और अधम है। इन तीनों को ज्ञान और भगवान् की कृपा से श्लथ करने का विधान इन मन्त्रों में है। वरुण जो अत्यन्त वरणीय भगवान् है उससे प्रार्थना की गई है कि इन बन्धनों को दूर करे। भगवान् के समक्ष हम अपने को निर्दोष उपस्थित करें। मानव जो कुछ करता है, समझता है कि वह किसी को मालूम नहीं। परन्तु वह गलती पर है। भगवान् सबको देखता है और उससे कोई वस्तु छिपी नहीं है। ये भावनायें इन मन्त्रों में पाई जाती हैं। अथर्ववेद १०वें काण्ड में कहा गया है कि "सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्" अर्थात् राजा वरुण पृथिवी आकाश आदि समस्त विश्व में जो कुछ है और होता है उसको देख रहा है। पुनः उसी से अगले मन्त्र में कहा गया है कि दो व्यक्ति बैठ कर जो आपस में कानाफूसी करते हैं राजा वरुण उनका तीसरा बन कर जानता है। मन्त्रांश इस प्रकार है—

"द्वौ संनिपद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः।"

इसके अनन्तर पूर्णाहुति और वामदेव्य गान आदि की क्रिया आती है। इस प्रकार सारे सामान्य प्रकरण के विनियोग और योजना आदि पर विचार करने पर यह सिद्ध है कि महर्षि की प्रक्रिया बहुत ही वैज्ञानिक और परिपूर्ण हैं।

प्रमाण-सन्दर्भ

१—यन्नु एवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम। श० १।२।५।१०

२—तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीति। श० १।२।५।७ ऐसे ही मिलते-जुलते वचन तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।२।६, शतपथ ३।७।२।१ और गो० उ० १।५।५ में भी पाये जाते हैं।

३—यज्ञो वै विष्णुः। शत० १।१।२।१३; कौषीतकी ४।२; तांड्य ६।६।१०; गोपथ उ० ४।६; तैत्तिरीय १।२।५।१

४—स यदुपांशु तत्प्राजापत्यं रूपम्। श० १।६।३।२७

५—तस्मात् यत्किञ्च यज्ञे क्रियत उपांशु एव तत्क्रियत अहव्यवाड् हि वाक् प्रजापतय आसीत्। श० १।४।५।१२

अष्टम प्रकरण

संस्कारविधि के सम्बन्ध में विशेष विचार

१—संस्कारों में १५ संस्कार आत्मा और शरीर दोनों के हैं। परन्तु १६वां संस्कार अन्त्येष्टि केवल मृत शरीर का संस्कार है। शरीर को भूमि में गाड़ना वा पानी में फेंकना वैदिक प्रथा नहीं। बैदिक सिद्धान्त से उसके जलाने का ही विधान है। चाहे संन्यासी हो, चाहे महामारी में मरा हो, चाहे छोटा बच्चा ही क्यों न हो, उसे भी जलाने की ही विधि है। बहुधा लोग इनको नहीं जलाते। परन्तु यह ठीक नहीं। मृत शरीर का तो जलाना ही ठीक है।

यह भी एक इष्टि है। इसका विधि-विधान शास्त्र की दृष्टि से बना हुआ है। इसलिए इसको विधि के अनुसार ही करना श्रेयस्कर है। इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग और पुरुषयाग नाम भी दिया गया है।

२—हवन में 'इदन्न मम' से आचमन पात्र में आहुति के अनन्तर स्रुवा का बचा हुआ घी नहीं डालना चाहिए। यह घी सर्वत्र डालने का विधान नहीं है। महर्षि ने गर्भाधान वा कुछ संस्कारों में जहां पर ऐसा करने को लिखा है वहीं पर यह कार्य करना चाहिए। अन्यत्र नहीं। जहां पर 'इदन्न मम' के बाद स्रुवा में बचे घी को पात्र में डालने को ऋषि ने लिखा है वहां पर उस जलपात्र में इस प्रकार एकत्र हुए घी को क्या करना चाहिए, इसका भी विधान किया है। यदि सर्वत्र यज्ञ में ऐसा करने का विधान होता तो इसका उपयोग भी लिखा गया होता।

कुछ लोग इसे स्रवभाग कहते हैं। परन्तु वे गलती पर हैं। प्रत्येक आहुति के बाद जलपात्र में डाला गया यह शेष घृत स्रव-भाग नहीं है। स्रवभाग तो वह घृत होता है जो घृतपात्र में हवन करने के बाद शेष बच जाता है। घृतपात्र में सारी आहुतियां देने के बाद भी जो घी लगा हुआ वा शेष रहता है वह स्रवभाग है और यह

विश्वे देवों का भाग माना गया है। ऐसा ही यज्ञप्रक्रिया-विदों और शास्त्र का सिद्धान्त है।

३—कभी-कभी लोग तीन समिधाओं को डालते हुए 'समिधाग्निम्' मन्त्र को पूरा अर्थात् 'जुहोतन स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम' पर्यन्त नहीं बोलते हैं। यह ठीक नहीं। मन्त्र पूरा बोला जाना चाहिए और दोनों मन्त्रों को मिलाकर ही यह दूसरी समिधा डालनी चाहिए। कई अपनी बुद्धिमत्ता लगा कर यजुर्वेद तृतीयाध्याय के 'उपत्वाग्ने' मन्त्र को मिला कर तीन समिधायें पूरी करते हैं अर्थात् 'अयन्त इध्म आत्मा' के स्थान पर उपत्वाग्ने का प्रयोग करते हैं—यह ठीक नहीं। ऋषि ने जैसा विधान किया है वैसा ही करना चाहिए।

४—कुछ लोग स्विष्टकृत् आहुति को पूर्णाहुति के पूर्व ही देने को प्रामाणिक मानते हैं। मध्य में नहीं। परन्तु संस्कारविधि में जहां पर सामान्य प्रकरण में यह मन्त्र लिखा है वहां पर तो इसे बोल कर आहुति देनी ही चाहिए। बाद में पूर्णाहुति के पूर्व भी देना चाहिए। जो लोग सामान्य प्रकरण में यथास्थान आये हुए—'यदस्य-कर्मणः' से वहां पर आहुति न देने के और केवल अन्त में देने के पक्ष में हैं वे इस मन्त्र को केवल प्रायश्चित्त का मन्त्र ही समझते हैं। अतः वे समझते हैं कि न्यूनता अगर कोई हुई है तो उसका तो अन्त में ही प्रायश्चित्त करना चाहिए। इसलिए सामान्य प्रकरण के मध्य में आहुति नहीं देनी चाहिए। परन्तु यह ठीक नहीं है। अगर किसी को ज्ञात हो जावे कि मैं गलत मन्त्रोच्चारण कर रहा हूं और गलत क्रिया कर दी है तो उसी समय इस मन्त्र से आहुति देकर गलत किये को ठीक करके पुनः करना चाहिए। अन्त में तो इसलिए आहुति दी जाती है कि ऐसी कोई त्रुटि हो गई जो ज्ञान में नहीं है तो वह स्विष्टकृत् हो। बड़े यज्ञों में तो जिस समय भी कोई गलती हो जाती है इस मन्त्र से आहुति देकर पुनः उस गलती को ठीक करके उसे सही रूप में फिर से किया जाता है।

स्विष्टकृत् अग्नि का भी नाम है और प्रायश्चित्तकर न्यूनता आदि को ठीक करने के कार्य का नाम भी है। शतपथ ब्रह्मण १।५।३।२३[1] में अग्नि को स्विष्टकृत् कहा गया है। अग्नि स्विष्टकृत् क्यों कहा जाता है और उसे स्विष्टकृत् कहकर आहुति क्यों दी जाती है—इस पर शतपथकार १।७।३।६[1] पर कहता है—कि अग्नि

ने इन यज्ञ के देवों के लिए स्विष्ट किया है, करता है—अतः उसे अग्नये स्विष्टकृते' कहकर आहुति दी जाती है। इसलिये अग्नि स्विष्टकृत् है और इस रूप में उसकी आहुति दी जानी चाहिए। पुनः शतपथ १११२।३।९' में कहा गया है कि—'यज्ञ का जो अन्यूनत्व और अनतिरेक है वही स्विष्ट है।'

इस प्रकार यह स्पष्ट होगया कि अग्नि देवता के लिए इस मंत्र से जहां पर यह मंत्र आया है वहाँ पर आहुति देनी ही चाहिए। प्रायश्चित्त को दृष्टि में रखकर अन्त में वा जहाँ पर आवश्यकता पड़े प्रायश्चित्त की वहाँ पर भी आहुति देनी चाहिए।

५—बहुधा महावामदेव्यगान किया नहीं जाता। कारण यह है कि उसके जानने वाले पुरोहित और पंडित मिलते नहीं। पुरोहित प्रथा आर्यों में बहुत ही कम है। पुरोहित का कार्य पुस्तक देखकर जो चाहता है कराने लगता है परन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं। संस्कार विधि में बहुत सी ऐसी बातें संस्कारों के प्रसंग में पुरोहित से अपेक्षित हैं जिनका अपने को धुरन्धर विद्वान् मानने वाले और जानने वाले भी परिज्ञान नहीं रखते हैं।

६—गर्भाधान संस्कार और विवाह जो संस्कार विधि में वर्णित हैं उनकी सार्वभौमिकता किस प्रकार स्थापित हो सकती है? आर्य भारत में भी हैं और दूसरे देशों में भी हो सकते हैं और होना भी चाहिए। भारत में कन्या १६ वर्ष न्यूनातिन्यून और वर २५ वर्ष का जोड़ा बन जाता है और ये विवाह और गर्भाधान के योग्य सुश्रुत आदि के अनुसार माने जाते हैं। परन्तु अमेरिका आदि के जलवायु में यही स्थिति नहीं। वहां २५ वर्ष में स्त्री युवती होती है। वेद की आज्ञा तो युवती और युवा के सम्बन्ध बतलाती है। वह वर्ष की संख्या नहीं देती। अत. वह सार्वभौम है। जहां जब भी युवती-युवा स्त्री पुरुष होते हैं वहाँ उस समय सम्बन्ध हो सकता है। वेद की आज्ञा तो सार्वभौम है वह सर्वत्र लागू है। परन्तु वर्ष निर्धारण आदि व्यवस्थायें स्मार्त्त हैं जो देश, काल और परिस्थिति के अनुसार हैं। स्मृति प्रत्येक भू-भाग के लिए पृथक् हो सकती है। अतः गर्भाधान और विवाह सम्बन्ध के लिए स्त्री पुरुषों की आयु सम्बद्ध भू-भाग के अनुसार नियत की जावेगी और संस्कार के मंत्र, विधि आदि वही रहेंगे जो संस्कार विधि में हैं। इस प्रकार संस्कारविधि

में बताये गये संस्कारों के विधान सर्वत्र के लिए हैं और रहेंगे। वे सभी जगह लागू किये जा सकेंगे।

७—गर्भाधान संस्कार में "अग्ने प्रायश्चित्ते०" आदि बीस मंत्रों से जो आहुति देना लिखा है उसमें इस संस्कार सम्बन्धी रहस्य भी हैं। सन्तानोत्पत्ति में कुछ चीजें बाधक हैं और उनका संकेत इन मंत्रों में किया गया है। वे हैं पत्नी का पापीलक्ष्मी, पतिघ्नी, अपुत्र्या और अपसव्या शरीर वाला होना। जिस पत्नी में ये न्यूनतायें और जिस पति में भी इसी प्रकार की न्यूनतायें होती हैं उनको सन्तति नहीं होती वा होने में कठिनाई उत्पन्न होती है। इनको दूर करने का विधान किया गया है। प्रत्येक गृहस्थ स्त्री-पुरुष को इन दोषों से दूर रहना चाहिए।

८—पुंसवन संस्कार में अथर्व ६।११।१ का उद्धरण दिया गया है। इस मंत्र में यह रहस्य बताया गया है कि अगर शमी वृक्ष पर अश्वत्थ अर्थात् पीपल का पौधा लगा हो तो उसके सेवन से पुत्रोत्पत्ति होती है। इसी प्रकार यदि अश्वत्थ पर शमी वृक्ष का पौधा लगा हो तो उसके सेवन से पुत्री का जन्म होता है। आयुर्वेद के मर्मज्ञों को इस रहस्य की खोज करनी चाहिए।

९—सीमन्तोन्नयन में एक जटिल समस्या है जिसकी तरफ इन पंक्तियों के लेखक के अतिरिक्त और किसी ने आज तक ध्यान नहीं दिया। लेखक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश में ऊहापोह किया है। यहाँ पर संक्षेप में कुछ लिखा जाता है। सीमन्तोन्नयन प्रकरण में ऋग्वेद के निम्न मंत्र निम्न प्रकार दिये गयेहैं—

राकामहं सुहवां सुष्टुति हुये शृणोतु नः सुभगाबोधतुत्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातुवीर शतदायमुक्थ्यम्॥
यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा॥

ऋग्वेद २।३२।४-५

ये दोनों मंत्र अथर्व ७।४८।१-२; मैत्रायणीशाखा ४।१२।१५३; तैत्तिरीय शाखा ३।३।११ तथा काठक शाखा १३।१६ पर भी मिलते हैं। इनमें प्रथम मंत्र का निरुक्त ११।३१ पर भी उल्लेख है। सीमन्तोन्नयन में ऋषि ने इन मंत्रों को इस रूप में भी दिया है और पश्चात् पुनः उसी संस्कार में आगे चलकर निम्न रूप में दिया है—

ओं राकामहं सुहवां सुष्टुस्ती हुवे श्रृणोतु नः सुभगा बोधतु।
उपागहि सहस्त्रपोषं सुभगे रराणा ॥५॥ ओं कियतत्मना सीव्यत्वपः
सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायुमुख्यम् ॥६॥ ओं याते राके
सुमतयः सुपेशसोयाभिर्ददासि दाशुषे वसूनि। ताभिर्नो अद्य सुमना
श्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥७॥

ऋग्वेद मण्डल २। सूक्त ३२

यहाँ पर देखा जा रहा है कि इस ऊपर दिये गये ५वें मंत्र में
'सुभगे रराणा'—पाठ लगा दिया गया है, तथा 'कियत्त्मना सीव्य-
त्वपः' प्रथम मंत्र के भाग का एक स्वतन्त्र मंत्र ५ संख्या के साथ
बना दिया गया है। मूल पाठ 'शतदायमुक्थ्यम्' के स्थान में 'शत-
दायुमुख्यम्' पाठ लिखा गया है। आगे यास्तेरा के मंत्र में 'अद्य-
सुमना' के स्थान पर 'सुमनाश्यसि प्रजां पशून्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं
पत्युः' पाठ जोड़ दिया गया है। वैसे तो राकामहंम्—'यास्ते राके'
आदि दोनों मंत्र मंत्रब्राह्मण १।५।१-२ में भी मिलते हैं। परन्तु
प्रथम मंत्र 'राकामहम्' मे मंत्र ब्राह्मण में ऋग्वेद के मूल पाठ की
अपेक्षा पाठ भेद पाया जाता है। ऋग्वेद में 'श्रृणोतु' पाठ है। परन्तु
मंत्र ब्राह्मण में 'श्रृणुत' पाठ है। 'बोधतुत्मना' के स्थान में 'बोधतु
आत्मना' पाठ है और 'शतदायमुक्थ्यम्' के स्थान में 'शतदायुमुख्यम्'
पाठ है। यहां पर जो पाठ परिवर्तन है वह 'ऊह' के शास्त्रीय नियम
के अनुसार किया गया है। इसका वर्णन मंत्रोच्चारण प्रकरण में
कर दिया गया है। 'ऊह' करना जहाँ शास्त्रीय नियम है वहां इसका
आधार ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ७१वें सूक्तका वह मंत्र भाग है
जिसमें कहा गया है कि "ओहब्राह्मणासो विचरन्त्युत्वे" अर्थात्
'ऊहब्रह्म' को जानने वाले वेद के विषय में अधिकारपूर्वक विचर
सकते हैं। इस ऊह प्रक्रिया के रहस्य को न समझ कर पंडितमानी
एक व्यक्ति ने पाठभेद कह दिया है और शायद वह ऋषि की इसे
भूल भी समझते हैं। उनकी यह समझ स्वयं उनकी ही बड़ी भारी
भूल है।

१०—जातकर्म संस्कार में पिता सोने की शालाका से घृतमधु
के साथ बालक की जिह्वा पर ओ३म् लिखे तथा कान में कहे कि
"वेदोऽसि" तुम्हारा गुप्त नाम वेद है। यह वैदिक धर्म की ही
विशेषता है कि उसमें उत्पन्न होते ही ओ३म् का उपदेश दिया जाता

है और बालक पर यह संस्कार डाला जाता है कि मानव जीवन का उद्देश्य ओ३म् की प्राप्ति है और जिस समय आदमी जीवन से बिदा लेता है उस समय भी ओ३म् को याद करने का उपदेश है। इस प्रकार यह वैदिक धर्म है कि जिसमें जन्मते और मरते दोनों ही समयों में ओ३म् को स्मरण कराया जाता है।

११—नामकरण संस्कार का बहुत ही महत्व है। नाम उत्तम रखा जावे इसलिए यह संस्कार किया जाता है। संस्कार बहुत छोटा है परन्तु इसका कराना बहुत ही कठिन है। नाम रखने में अक्षर आदि का विन्यास महर्षि ने लिखा है। पुत्र का नाम समाक्षर और पुत्री का नाम विषमाक्षर होना चाहिए। परन्तु नाम रखने के समय अधिकतर इसका ध्यान लोग नहीं करते और इसमें व्यतिक्रम देखा जाता है।

इसी प्रकार नामकरण संस्कार में तिथि, नक्षत्र और उनके देवताओं के विषय में अनेक विवाद हैं। कुछ लोग तो इसे पौराणिक कल्पना समझ कर इसके परित्याग का ही विधान करते हैं। कुछ कहते हैं कि ये होने चाहिएं और आवश्यक है। परन्तु देखा यह गया है कि अधिकतर जो लोग नामकरण संस्कार कराते हैं वे निम्न बातों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं :—

१—नक्षत्र का पता लगाने की क्षमता नहीं होती। पंचांग देख कर ही चलते हैं परन्तु पंचांग वैदिक पद्धति से तो बने नहीं होते। उनमें नक्षत्र कल्पित भी होते हैं। कहीं-कहीं तो बे सिर पैर की कल्पनायें की जाती हैं।

२—तिथि नक्षत्र और उनके देवता आदि पदों में चतुर्थी विभक्ति लगाने की अक्षमता। किन में किस प्रकार से सही रूप में चतुर्थी विभक्ति लगाई जावे—यह परिज्ञान संस्कार कराने वालों को नहीं होता। अपने को पंडित कहने वाले और बड़े-बड़े उपदेशकों को भी इसका परिज्ञान नहीं है। यह एक कटु सत्य है परन्तु प्रकट करना आवश्यक है। जबतक आर्य समाज में इन कार्यों के लिए पुरोहित विशेष रूप से शिक्षित नहीं किये जावेंगे और ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान नहीं दिया जाता तब तक संस्कारों के विषय में और विशेष-कर नामकरण संस्कार के इन विषयों की जानकारी नहीं हो सकती है। कुछ दिनों में संस्कारों की प्रथा भी आर्य समाज से समाप्त हो

जावेगी—ऐसा ज्ञात हो रहा है। एक तो इन चीजों की जड़ न जमी है और न जड़ जमी आर्यसमाज की ही सैद्धान्तिक दृष्टि से। इस कारण सन्देह पदे पदे अनुभूत हो रहा है।

नामकरण संस्कार में पूर्णिमा का देवता विश्वेदेव लिखा है। हिन्दी की दृष्टि से इसे 'विश्वदेव' होना चाहिए था। परन्तु 'विश्वे' संस्कृत का पद है और देव बिना विभक्ति के 'देव' पद है परन्तु यह गलत नहीं है। यदि 'विश्वदेव' लिखा गया होता तो यह सन्देह होता कि यह 'विश्वदेव' नाम का कोई देव है। परन्तु विश्वेदेव कहने से यह स्पष्ट हो गया कि 'विश्वेदेवा:' के लिए यह पद प्रयुक्त है। तथा इस प्रकार पूर्णिमा का देवता 'विश्वेदेव' है—यह स्पष्ट है। जो पुरोहित और अधिकतर पुरोहित तुक्कड़बाजी की संस्कृत जानने वाले 'विश्वेदेवाय स्वाहा' बोलकर आहुति देते हैं। यह सर्वथा ही गलत है। 'विश्वे' पद संस्कृत के प्रथमा का बहुवचन है जो कर्त्ता कारक में है और देवाय पद चतुर्थी विभक्ति संप्रदान कारक का एकवचन है। दोनों का सम्बन्ध कुछ भी बना नहीं और कहीं का इंट कहीं का रोड़ा जोड़ कर तुकबन्दी कर ली गई। इस प्रकार की अशुद्धियां की जाया करती हैं और संस्कार हो जाया करता है।

इसी प्रकार नक्षत्रों में कृत्तिका है। कृत्तिका २१ तारावों वाली है। इसको लोग 'कृत्तिकायै स्वाहा' बोलते हैं जबकि बहुवचन बोला जाना चाहिए और 'कृत्तिकाभ्यः स्वाहा' ऐसा बोलना उचित है। यह जिनको पता नहीं वही संस्कार कराते फिरते हैं।

'पुनर्वसु' नक्षत्र को लोग साधारण नियम से 'पुनर्वसवे स्वाहा' करके बोलते हैं। परन्तु यह गलत है। पुनर्वसू दो तारों का नाम है। विशेष व्याकरण का नियम जिनको नहीं मालूम वे गलती ही करेंगे। व्याकरण आदि के ज्ञान बिना तो ऐसा ही होगा। व्याकरण शास्त्र के अनुसार "छन्दसि पुनर्वसोरेकवचनम्" केवल वेद में ही 'पुनर्वसू' पद एकवचन में प्रयुक्त होता है। अन्यत्र नहीं। अतः द्वि-वचन में इसे बोलना चाहिए। द्विवचन में इसका रूप 'पुनर्वसूभ्याम्' बनेगा। ऐसी अवस्था में "पुनर्वसूभ्यां स्वाहा" बोलना ठीक है। इसी प्रकार 'विशाखा' नक्षत्र को भी द्विवचन में बोलना चाहिए। उसका चतुर्थी विभक्ति के द्विवचन में 'विशाखाभ्याम्' रूप बनेगा।

इस प्रकार की कई पेचीदगियां हैं जिनका परिज्ञान होना आव-श्यक है। यह कार्य बिना पुरोहितों को सुशिक्षित किये पूर्ण नहीं होगा।

जो लोग कहते हैं कि तिथि और नक्षत्रों के देवतावों की कल्पना पौराणिक है वे गलत हैं। यह पूर्णतया वैदिक है। इसमें पौराणिक-पना कुछ भी नहीं है। इस पर थोड़ा सा विचार किया जाता है।

अश्विनी—यम--इस पर शतपथ १२।८।२।३४[४] में लिखा है कि वसन्त और ग्रीष्म को अश्विनियों से बांधता हूं।

भरणी—यम--इस पर तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।२।६।७[५] कहता है कि अनुराधा प्रथम और भरणी उत्तम ये सब यम नक्षत्र हैं।

कृत्तिका—अग्नि--इस पर तैत्तिरीय १।१।२।१[६] पर लिखा है कि कृत्तिकायें नक्षत्रों के मुख हैं। पुनः तैत्तिरीय १।१।२।१[७]; १।५।१।१; ३।१।१।१ बताया गया है कि ये अग्नि के नक्षत्र हैं। शतपथ २।१।२।१[८] में वर्णित है कि कृत्तिकायें अग्नि के नक्षत्र हैं। पुनः शतपथकार २।१।२।५ में कहा है कि आगे ये कृत्तिकायें उदित होती हैं[९] और अग्नि इनका मिथुन=मेल है। इसी सम्बन्ध में तैत्तिरोय ब्राह्मण ३।१।४।१ में[१०] में कृत्तिका के कई नक्षत्रों के नाम से आहुतियां भी देने का वर्णन मिलता है। शतपथ २।१।२।२[११] में लिखा है कि दूसरे नक्षत्र तो एक, दो, तीन और चार होते हैं परन्तु कृत्तिका बहुत नक्षत्रों वाली है।

रोहिणी=प्रजापति—इस विषय में तैत्तिरीय १।१।१०।६[१२] में लिखा है कि विराट् जो ऊपर को चढ़ी तो रोहिणी हुई। यही रोहिणी का रोहिणीपना है। पुनः तैत्तिरीय १।२।२।२७[१३] में कहा गया है कि वह विराट् रची गई प्रजापति से ऊपर हो गई इससे उसे रोहिणी कहा जाता है। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।१।१[१४] और १।५।१।४ में रोहिणी का प्रजापति के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है।

मृगशीर्ष—सोम। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।१।२[१५] में लिखा गया है कि सोम राजा मृगशीर्ष नक्षत्र के साथ प्राप्त हुआ। पुनः ऐतरेय ३।३३[१६] में लिखा है कि प्रजापति रुद्र से बींधा गया भगा। उसे ही मृग कहते हैं। शतपथ में लिखा है कि यह प्रजापति का शिर ही मृगशीर्ष है। तैत्तिरीय ३।१।४।३ में यह वर्णित है कि सोम ने सोम रूप मृगशीर्ष के लिए जल में श्यामाक चरु का अववपन

किया, इससे उसने औषधियों का राज्य प्राप्त किया।"

आर्द्रा—रुद्र—तैत्तिरीय १।५।११" में लिखा है कि आर्द्रा में रुद्र विस्तार को प्राप्त होता हुआ आता है। तथा सायण ने 'रुद्रस्य बाहू' का अर्थ भी वहाँ पर आर्द्रा नक्षत्र ही किया है।

पुनर्वसू—अदिति—इस पर तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।१।१" में यह वर्णित है कि आदि के लिए पुनर्वसू को जाने। पुनः ३।१।१।४" में उसी ब्राह्मण में लिखा है कि अदिति विश्व की भर्त्री है और जगत् की प्रतिष्ठा है और वह पुनर्वसू को हविसे बढ़ाती रहती है।

तिष्यः—बृहस्पति—बृहस्पति का नक्षत्र तिष्य है ऐसा तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।१।२" और ३।१।१।५ में लिखा है। पुनः उसी ब्राह्मण में ३।१।४।६" में भी बृहस्पति के साथ तिष्य का सम्बन्ध दिखाया गया है।

अश्लेषा—सर्प—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।४।७" में अश्लेषा का सम्बन्ध सर्प से बतलाया गया है।

मघा—पितृ—मघा को तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।१।६ तथा ३।१।१।६ में पितरों का नक्षत्र कहा गया है।"

उत्तराफाल्गुनी—भग। इस पर तैत्तरीय ब्राह्मण १।१।२।४;" १।५।१।२ तथा ३।१।१।८ में यह लिखा गया है कि यह भग का नक्षत्र है।

पूर्वाफाल्गुनी—अर्यमन्। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।५।४; १।५।१।२, ३।१।१।८ लिखता है कि पूर्वाफ़ाल्गुनीअर्यमा के नक्षत्र हैं।"

हस्त—सवितृ। तैत्तिरीय १।५।१।३" में लिखा है कि सविता देव का हस्त नक्षत्र है। इसी प्रकार १।५।२।२" में लिखा है।

चित्रा—त्वष्टृ। इस पर तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।२।२" में लिखा है कि नक्षत्रीय प्रजापति अर्थात् सम्वत्सर का चित्रा नक्षत्र शिर है। पुनः तैत्तिरीय ३।१।१।९" में कहा गया है कि त्वष्टा चित्रा नक्षत्र का अनुगमन करता है। ताण्ड्य ब्राह्मण ने ५।६।१६" में लिखा है कि चित्रा नक्षत्र का पूर्णमास सम्वत्सर का चक्षु है।

स्वाति—वायु। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।१।३" तथा ३।१।१।१० में निष्ठ्या अर्थात् स्वाति को वायु का नक्षत्र माना गया है।

विशाखा—इन्द्राग्नी वा चन्द्राग्नी। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।१।३"

में लिखा है कि विशाखा नक्षत्र इन्द्र और अग्नि के नक्षत्र हैं। दोनों विशाखायें नक्षत्रों की अधिपत्नी हैं। ये श्रेष्ठ हैं और भुवन की पालक हैं—ऐसा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।१।११" में लिखा है। पुनः उसी ब्राह्मण में १।५।२।२" पर लिखा है कि नक्षत्रीय प्रजापति के विशाखायें ऊरू हैं।

अनूराधा—मित्र। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कर्त्ता" १।५।२।८७ में लिखता है कि इसके पीछे चलती है अतः यह अनूराधा है। पुनः १।५।२।२ और" १।५।१।६ में क्रमशः कहा गया है कि अनूराधा-नक्षत्रिय प्रजापति की प्रतिष्ठा है और यह मित्र का नक्षत्र है।

ज्येष्ठा—इन्द्र। इस पर तैत्तिरीय ब्राह्मण" ३।१।२।१ में ऐसा वर्णन है कि इन्द्र ज्येष्ठा नक्षत्र का अनुगमन करता है। इस प्रकार ज्येष्ठा के साथ इन्द्र का सम्बन्ध स्पष्ट है।

मूल—निर्ऋति। इस पर तैत्तिरीय ब्राह्मण" १।५।१।४ में लिखा है कि मूल अर्थात् मूलवर्हिणी का सम्बन्ध निर्ऋति से है।" १।५।२।८ में उसकी व्युत्पत्ति भी की गई है।

पूर्वाषाढा—आपः। तैत्तिरीय ब्राह्मण" १।५।२।६ में लिखा है कि इसको सहन नहीं किया जा सकता अतः यह अषाढा है। इसका सम्बन्ध जलों" से है।

उत्तराषाढा—विश्वेदेव। तैत्तिरीय ब्राह्मण",१।५।१।४ के अनुसार विश्वेदेवों का उत्तराषाढा नक्षत्र है।

श्रवण—विष्णु। तैत्तिरीय ब्राह्मण" १।५।१।४ में इसे श्रोण कहा गया है। इस पर सायण कहते हैं कि यह श्रोणा ही श्रवण नक्षत्र है।

धनिष्ठा (श्रविष्ठाः)—वसु। इस पर यह उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण" में १।५।१।५ में मिलता है कि वसुवों का श्रविष्ठा नक्षत्र है। पुनः ३।१।२।६" में लिखा गया है कि अष्ट वसु देव और चार देवियाँ श्रविष्ठायें लोक की रक्षा करें तथा रात्रियों को अमृत और सुखकारक बनावें।

शतभिषज्—वरुण। तैत्तिरीय" ३।१।२।७ में लिखा है कि क्षत्र का राजा वरुण अधिराज है और नक्षत्रों में शतभिषज् श्रेष्ठ है।

पूर्वाभाद्रपदा—अज एक पाद्। तैत्तिरीय ब्राह्मण" १।५।१।५

और ३।१।२८ के अनुसार अज एक पाद् का पूर्वा प्रोष्ठपदा नक्षत्र है।

उत्तरा भाद्रपदा—अहिर्बुध्न्य। तैत्तिरीय" १।५।१।५ में उत्तरा भाद्रपदा को अहिर्बुध्निय का नक्षत्र माना गया है।

रेवती—पूषन्। इस पर तैत्तिरीय ब्राह्मण" १।५।१।५ और ३।१।२।६ में क्रमशः लिखा है कि पूषा का नक्षत्र रेवती है और पूषा का नक्षत्र रेवती पथ का अनुसरण करता है।

इस प्रकार नक्षत्रों के देवताओं के विषय में विस्तृत उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। नक्षत्रों का नाम अथर्व वेद में वर्णित है।

१२—चूडाकर्म संस्कार में लोगों को शंका है कि 'ओषधे एनं त्रायस्व मैन ँ हिंसीः' मन्त्र से ओषधि से प्रार्थना की गई है जो ठीक नहीं है। इसी प्रकार छुरे की ओर देख कर यह कहना कि विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि यह ठीक नहीं है।

इसका समाधान यह है कि यहाँ पर जड़ से प्रार्थना नहीं की जा रही है। वेदमन्त्रों के अर्थ करने की वैदिकी प्रक्रिया और ही है। मन्त्र प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार इनमें उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य-पुरुषों का प्रयोग होता है। जहां पर जड़ पदार्थों में उत्तम वा मध्यम पुरुष का प्रयोग पाया जाता है वहां पर अर्थ करते समय अन्य पुरुष बन जाता है। इस प्रकार 'ओषधे त्रायस्व' का यह अर्थ होगा कि ओषधि इस बालक की रक्षा करती है मारती नहीं। इसी प्रकार—"विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि का अर्थ यह होगा कि यह छुरा विष्णु अर्थात् चूडाकर्म संस्काररूपी यज्ञ का साधन है।"

१३—चूडाकर्म संस्कार में बालों को शमी के पत्ते, कुशा और गोबर के साथ भूमि में गाड़ने का विधान इसलिए है कि ये पदार्थ केश को सर्वथा गला देते हैं।

१४—कर्णवेध संस्कार का वर्णन कात्यायन गृह्यसूत्र का है। परन्तु इसका मुख्य प्रकार आयुर्वेद से सम्बन्ध रखता है।

१५—उपनयन संस्कार में कई बातें बहुत ही विचार के योग्य हैं। उपनयन के ही यज्ञोपवीत और व्रतबन्ध नाम भी हैं। उपनयन इसका नाम इसलिए है कि ब्रह्मचारी को गुरुकुल में आचार्य के पास

लाया जाता है, अतः उप अर्थात् समीप और नयन अर्थात् ले जाना—इस प्रकार इसकी सार्थकता है। यज्ञोपवीत इसका नाम इसलिये है कि यह यज्ञ का साधन है। इसी प्रकार व्रतबन्ध इसका नाम इस कारण से है कि इसमें व्रत अर्थात् अनुशासन का बन्धन स्वीकारा जाता है। तीनों ही पद सर्वथा इस संस्कार के लिए सार्थक हैं।

१६—इसमें अनृत से उठकर सत्य को प्राप्त करने का व्रत लिया जाता है। वस्तुतः व्रत अर्थात् अनुशासन और तप से मनुष्य अनृत से उठकर सत्य को प्राप्त कर सकता है।

१७—वेदारम्भ संस्कार नाम न होकर विद्यारम्भ क्यों नहीं? ऐसा कुछ लोगों का कथन है। इसका समाधान यह है कि वेद से ही विद्या का प्रारम्भ होता है। गायत्री मन्त्र का उपदेश करके आचार्य बालक को शिक्षा देना प्रारम्भ करता है। अतः वेद से ही प्रारम्भ है। सारी विद्यायें वेद से ही आती हैं, अतः वेद से ही प्रारम्भ होना भी चाहिए।

१८—कई लोग यह पूछते हैं कि गायत्री मन्त्र का उपदेश क्यों आचार्य देता है? वेदारम्भ संस्कार से इसका सम्बन्ध ही क्या है?

इसका समाधान बड़े-बड़े पण्डित जो संस्कार कराते हैं वे भी नहीं कर पाते। इधर-उधर की मारकर लोगों को चुप करने का प्रयत्न करते हैं। यहां पर इसका समाधान किया जाता है। इस मन्त्र में सर्वोत्पादक भगवान् के वरेण्यभर्ग को धारण करने का उपदेश है। वही भर्ग धारण किया हुआ बुद्धि को उत्तम कर्मों में प्रेरित करता है। इस पर गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्ध १।३२ में कहा गया है कि वेद और छन्द ही उस सविता के वरेण्यभर्ग" हैं। ऐसी स्थिति में वेदारम्भ में गायत्री मन्त्र का उपदेश सार्थक है—यह सुतराम् सिद्ध हो जाता है।

१९—समिधा को अग्नि में डालते समय की प्रार्थना बहुत ही उत्तम है। जिस प्रकार अग्नि समिधा से प्रदीप्त होती है वैसे ब्रह्मचारी आयु, मेधा, वर्चस् आदि से प्रदीप्त होने की इच्छा प्रकट करता है। वह एक सुन्दरतम भावना व्यक्त करता है। वह यह है कि वह यह चाहता है कि उसका आचार्य सदा जीवित पुत्रों वाला रहे। अर्थात् आचार्य को पुत्रशोक का कष्ट न हो।

२०—तीन समिधाओं से विद्या के क्षेत्र का पूरा वर्णन कर दिया गया है। अथर्व वेद ११।५।४ में कहा गया है कि यह पहली समिधा पृथिवी है। दूसरी द्युलोक है और तीसरी अन्तरिक्ष है। इन तीनों लोकों का ज्ञान इस विद्या के क्षेत्र में आ जाता है।

२१—स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—विद्यास्नातक, व्रत-स्नातक और विद्याव्रतस्नातक।

२२—यज्ञोपवीत में 'ब्राह्मणमुपनयेत्' आदि वाक्यों का अर्थ या तो गुण कर्म स्वभावानुसार जो ब्राह्मण है उसका पुत्र आदि प्रकार से करना चाहिये। या ब्राह्मण पदाधिकारी बालक वा ब्राह्मण आदि वर्ण बनने की कामना करने वाला बालक आदि अर्थ करना चाहिए। जैसा कि मनु ने स्वयं मार्ग प्रशस्त कर दिया है। मनु ने ब्रह्मवर्चस् की कामना करने वाले बालक का उपनयन जन्म के पाँचवें वर्ष में करने को कहा है। यही तर्क अन्य वर्णों के विषय में भी लगाना चाहिए।

२३—विवाह संस्कार में लोग जो आसन परिवर्त्तन सप्तपदी के समय करते हैं वह गलत है। संस्कार विधि एवं गृह्यसूत्रों आदि में ऐसा करने का कोई विधान नहीं है।

२४—जो विवाह में सूर्यदर्शन और ध्रुव दर्शन दोनों के कराने का प्रयत्न करते हैं वह भी ठीक नहीं। दोनों एक समय में हो ही नहीं सकता है। वास्तविकता यह है कि दिवा विवाह में सूर्य-दर्शन और रात्रि में यदि विवाह संस्कार हो तो ध्रुव-दर्शन कराना चाहिए।

कभी-कभी लोग विवाह सायंकाल दिन में प्रारम्भ करके रात्रि में समाप्त करते हैं अथवा प्रातःकाल की २ घंटे रात्रि रह जाने पर प्रारम्भ करके प्रातः सूर्यदर्शन कराते हैं—यह भी खींचतान है। विधि तो उसी समय होगी जब उसका क्रम आवेगा। ऐसा तो नहीं हो सकता है कि सूर्यदर्शन दिन में कर लेवें चाहे उसका क्रम आवे चाहे नहीं। इसी प्रकार यह भी ठीक नहीं कि ध्रुवदर्शन रात्रि में कर लेवे चाहे उसका क्रम विधि के क्रम के अनुसार हो वा न हो। अतः सिद्धान्त यह है कि दिवा विवाह पक्ष में सूर्य-दर्शन और रात्रि विवाह पक्ष में ध्रुवदर्शन कराया जावे।

२५—गृहस्थाश्रम में सन्ध्या की पद्धति में 'उपस्थान में जातवेद से ०।। मन्त्र अधिक है। यह वस्तुतः विधि का भाग नहीं है। यह उपस्थान के विषय में प्रमाण है। प्रमाण विधि में मिल गया है। अतः इसको विधि में न लेकर प्रमाण ही स्वीकार करना चाहिए।

२६—अन्त्येष्टि संस्कार में आये 'भस्मान्त ँ शरीरम्' में 'भस्मान्तम्' बहुव्रीहि समास है, तत्पुरुष नहीं। स्वर को दृष्टि से यह सिद्ध है। भस्म करने के बाद फिर मृतक के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता।

प्रमाण सन्दर्भ

१—अग्निर्हिस्विष्टकृत्। श० १।५।३।२३

२—(अग्निः) तदेभ्यः (देवेभ्योऽग्निः) स्विष्टमकरोत्तस्मात् (अग्नये) स्विष्टकृत इति (क्रियते) ।। श० १।७।३।६

३—यद्वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तत्स्विष्टम्। श० ११।२।३।६

४—वसन्तग्रीष्मावेवश्विनीभ्याम् (अवरुन्धे) श० १२।८।२।३४

५—अनूराधा प्रथमम् अपभरणीरुत्तमं तानि यमनक्षत्राणि ।। तै० १।५।२।७

६—मुखं वा एतन्नक्षत्राणां यत्कृत्तिकाः। तै० १।१।२।१

६—एतद्वा अग्नेर्नक्षत्रं यत्कृत्तिकाः ।। तै० १।१।२।१ इत्यादि।

८—एता वा अग्निनक्षत्रं यत्कृत्तिकाः। शतपथ २।१।२।१

९—पुर एताः (कृत्तिका उद्यन्ति) अग्निर्वा एतासां मिथुनम्। श० २।१।२।५

१०—अग्नये स्वाहा, कृत्तिकाभ्यः स्वाहा अम्बायै स्वाहा, दुलायै स्वाहा, नितत्न्यै स्वाहा, भ्रमन्त्यै स्वाहा, मेघयन्त्यै स्वाहा, वर्षयन्त्यै स्वाहा, चुपुणिकायै स्वाहा ।। तै० ३।१।४।१

११—एकं, द्वे, त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि अथैता एवं भूयिष्ठा यत्कृत्तिका. ।। श० २।१।२।२

१२—सा (विराट्) ततः ऊर्ध्वा आरोहद्रोहिणी अभवत्। तद्रोहिण्यै रोहिणीत्वम्। तै० १।१।१०।६

१३—विराट् सृष्टा प्रजापतेः। ऊर्ध्वा रोहद्रोहिणी। त० १।२।२।२७

१४—प्रजापतेरोहिणी तै० १।५।१।१

रोहिणी देव्युदयात् पुरस्तात् प्रजापतिं हविषा वर्धयन्ती ।। तै० १।५।१।४

१५—सोमोराजा मृगशीर्षेण आगन् । तै० ३।१।१।२
१६—स (प्रजापतीरुद्रेण) विद्ध उदप्तयत् तमेतं मृग इत्याचक्षते ॥ ऐतरेय ३।३३
१७—स (सोमः) एतं सोमाय मृगशीर्षाय श्यामाकं चरुं पयसि निरवपत् । ततो वै स ओषधीनां राज्यमभ्यजयत् । तै० ३।१।४।३ ।
१८—आर्द्रायां रुद्रः प्रथमान एति । रुद्रस्य बाहू (आर्द्रानक्षत्रमिति सायणः) तै० १।५।१।१
१९—अदित्यै पुनर्वसू । तै० १।५।१।१
२०—एवा न देव्यदितिरनर्वा । विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा । पुनर्वसू हविषा वर्धयन्ती । तै० ३।१।१।४
२१—बृहस्पतेस्तिष्यः । तै० १।५।१।२, ३।१।१।४
२२—स (बृहस्पतिः) एवं बृहस्पतये तिष्याय नैवारं चरुं पयसि निरवपन् । तै० ३।१।४।६
२३—ते देवा सर्पेभ्य आश्लेषाय आज्ये करम्भं निरवपन् । तान् (असुरान्) एताभिरेव देवताभिरुपानयन् । तै० ३।१।४।७
२४—पितृणां मघा । तै० १।५।१।२; ३।१।१।६
२५—भगस्य वा एतन्नक्षत्रं यदुत्तरे फाल्गुनी ॥ तै० १।१।२।४,१ इत्यादि ।
२६—अर्यमणो वा एतन्नक्षत्रं यत्पूर्वे फाल्गुनी । तै० १।१।२।४ इत्यादि ।
२७—देवस्य सवितुर्हस्तः । तै० १।५।१।२
२८—हस्त एवास्य (नक्षत्रियस्य प्रजापतेः) हस्तः । तै० १।५।२।२
२९—चित्रा शिरः (नक्षत्रियस्य प्रजापतेः)। तै० १।५।२।२
३०—त्वष्टा नक्षत्रमभ्येति चित्राम् । तै० ३।१।१।९
३१—चक्षुर्वा एतत्संवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासः ॥ तां० ५।९।११
३२—वायोर्निष्ठ्या (स्वातिरिति सायणः) तै० १।५।१।३ इत्यादि
३३—इन्द्राग्न्योर्विशाखे । तै० १।५।१।३
३४—नक्षत्राणामधिपत्नी विशाखे ॥ श्रेष्ठौ इन्द्राग्नी भुवनस्य गोपौ । तै० ३।१।१।११
३५—(प्रजापतेर्नक्षत्रियस्य) ऊरू विशाखे : तै० १।५।२।२
३६—अन्वेषामरात्समेति । तदनूराधाः । तै० १।५।२।८

३७—(नक्षत्रियस्य प्रजापतेः) प्रतिष्ठाऽनूराधाः १।५।२।२ तथा मित्रस्यानूराधाः । १।५।१।३
३८—इन्द्रो ज्येष्ठामनुनक्षत्रमेति । ३।१।२।१
३९—निर्ऋत्यै मूलवर्हणी । १।५।१।४
४०—मूलबर्हणी (मूलमेषामवृक्षामेति । तन्मूलवर्हणी । तै० १।५।२।८
४१—यन्नासहन्त । तदषाढाः १।५।१।४
४२—अपां पूर्वाषाढाः । १।५।१।४
४३—विष्णोः श्रोणा (श्रवणनक्षत्रमिति सायणः) तै० १।५।१।४]
४४—वसूनां श्रविष्ठाः । तै० १।५।१।५
४५—अष्टौ देवा वसवः सोम्यासः चतस्रो देवीरजराः श्रविष्ठाः । ते यज्ञं पान्तु रजसः पुरस्तात् संवत्सरीणाममृतं स्वस्ति । तै० ३।१।२।६
४६—क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराजः नक्षत्राणां शतभिषग्वरिष्ठः । तै० ५।१।२।७
४७—अजस्यैकपदः पूर्वे प्रोष्ठपदाः । तै० १।५।१।५
४८—अहिर्बुध्नियस्योत्तरे प्रोष्ठपदाः । तै० १।५।१।५
४९—पूष्णोरेवती । १।५।१।५ ; पूषा रेवत्यन्वेतिपन्थाम् ३।१।२।९
५०—वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यम् । गो० पू० १।३२

नवम प्रकरण

सन्ध्या-विधि-विमर्श

महर्षि दयानन्द के द्वारा बताए गए यज्ञविधान पर विचार किया गया और यह दिखलाया गया कि वह बहुत ही वैज्ञानिक है। सन्ध्या को ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है। यहाँ पर यज्ञपद देवपूजा अर्थ में यज् धातु के अर्थ को लेकर सार्थक है। उपासनायज्ञ भी यज्ञ का एक प्रकार है। इसमें स्तुति, प्रार्थना और उपासना का क्रम हुआ करता है। उपासना और उपस्थान समानार्थक हैं। इस कर्मकाण्ड में सन्ध्या का महत्व अपना है।

सन्ध्या

कुछ लोग सन्ध्या का अर्थ काल के सम्बन्ध से जोड़ कर किया करते हैं। वे समझते हैं कि प्रातः सायं की दो सन्धियों में सन्ध्या का विधान है अतः सन्धि बेला में होने से इसको सन्ध्या कहा जाता है। सन्धौ भवा सन्ध्या—ऐसी व्युत्पत्ति भी वे करते हैं। परन्तु सन्धियाँ तो क्षण क्षण में होती हैं फिर दिन रात सन्ध्या ही रहेगी। दो समय का ही क्या प्रश्न रह जावेगा। साथ ही सन्ध्या फिर सार्वभौम नहीं रहेगी। ऋषि दयानन्द की सन्ध्या का स्वरूप सार्वभौम है। प्रातः सायं की सन्धि को लेकर सन्ध्या का अर्थ करने पर प्रश्न यह होगा कि फिर यह सन्ध्या सारे भूमण्डल के लिए नहीं रह सकेगी। मान लिया कि कल लोग टण्ड्रा, उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुवों में रहने लगें तो फिर उनके लिए तो छः मास एक बार ही सन्ध्या का अवसर आवेगा। क्योंकि वहाँ छः छः मास के दिन और रात्रि होते हैं। फिर सन्ध्या भी ऐसे ही होगी। परन्तु ऐसा नहीं है। मनुष्य ऐसा तो हो नहीं सकता कि छः मास सोवे और छः मास जागे। उसके सोने जागने का कार्य तो चौबीस घण्टों में ही होगा जब वह सोने लगे तो उसके पूर्व रात्रि की सन्ध्या कर ले और जब वह सोकर उठे तो प्रातः

काल की सन्ध्या कर ले। परन्तु सन्ध्या को काल से जोड़ना ठीक नहीं। उस अवस्था में यह संभव नहीं हो सकेगा। यह तो तभी सम्भव होगा जब काल की संधि का अर्थ लेकर सन्ध्या को न जोड़ा जावे। ऋषि दयानन्द ने इस रहस्य को समझकर ही सन्ध्या का अर्थ किया कि "सम्यग् रूप से ध्यान किया जाता है ब्रह्म का जिसमें वह विधि सन्ध्या है। उनकी व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार है। सम्यग् ध्यायते ब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या। अतः भारत में सूर्य का उदय अस्त प्रातः सायं क्रमशः होता है इस दृष्टि से स्मृतिकारों ने इसका समय प्रातः सायं का रखा। परन्तु यह समय का निर्धारण स्मार्त है। यह देश काल के अनुसार बदलता है। सन्ध्या वैदिक धर्म है जो सभी देश काल के लिए है।

दिशा

इसी प्रकार दिशा सम्बन्धो विधि को भी समझना चाहिए। स्मृति के अनुसार सायंकाल की सन्ध्या पश्चिमाभिमुख होकर करनी चाहिए और प्रातःकाल की सन्ध्या पूर्वाभिमुख होकर करनी चाहिए परन्तु शहरों के मकानों में यदि उन दिशाओं में गन्दी वायु वा कोई गड़बड़ी की वस्तु हो तो उस अवस्था में उन्हीं दिशाओं में मुख करके सन्ध्या करना कहाँ तक ठीक हो सकता है। ऋषि दयानन्द ने इसका उपाय किया है। वे कहते हैं कि जिधर सूर्य का उदय होता है वह भी प्राची दिशा है और जिधर सन्ध्या करने वाला मुख करके सन्ध्या करने बैठ जावे वह भी प्राची है। वे लिखते हैं—यत्र मुखं सा प्राची, यत्र सूर्य उदेति साऽपि प्राची।

शीर्षक

सन्ध्या की विधि के शीर्षक जो ऋषि ने लगाए हैं वे भी बहुत ही विचारपूर्ण हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

१—शिखाबन्धन
२—आचमन
३—अङ्ग स्पर्श
४—मार्जन
५—प्राणायाम
६—अघमर्षण

७—मनसा परिक्रमा
८—उपस्थान
९—गायत्री वा गुरुमंत्र से प्रार्थना
१०—समर्पण
११—नमस्कार

इन शीर्षकों पर आगे की पंक्तियों में इन्हीं के क्रम और इन्हीं के अंकों के अनुसार विचार किया जाता है —

१—शिखा मध्य शिर में जहाँ पर तीनों मस्तिष्कों का योग सा होता है वहां पर रखी जाती है। बाल बिखरे नहीं और ध्यान ठीक जमे आदि बातें ऐसी हैं जो गायत्री मन्त्र से सम्बद्ध हैं। गायत्री मंत्र भी बुद्धि से सम्बन्ध रखता है। गायत्री, सावित्री और गुरुमंत्र—इस गायत्री मंत्र के ही नाम हैं। गायत्री नाम इसका इसके छन्द की दृष्टि से हैं तथा गान करने वाले का त्राण करने से भी इसका नाम गायत्री है। इस मन्त्र का देवता 'सविता' है अतः इसका नाम सावित्री है। गुरु ब्रह्मचारी को वेदारम्भ में इसका उपदेश करता है अतः यह गुरु मंत्र है।

२—आचमन कण्ठस्थ कफ आदि की निवृत्ति के लिए है। यदि कफ आदि न हों तो नहीं भी किया जा सकता है। मंत्र के साथ विनियोग सर्वथा सार्थक है।

३—अङ्गस्पर्श आलस्य आदि की निवृत्ति के लिए है। यदि आलस्य आदि न हों तो नहीं भी करना। इसमें वाणी आदि को वास्तविक वाणी आदि होने की प्रार्थना की गई है। भाव यह है कि आलस्य आदि मानसिक, शारीरिक और वाचिक होते हैं। उनकी पवित्रता के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जिन कर्मों का फल मनुष्य को मिलता है वे कर्म प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं। प्रवृत्ति वागारंभ, बुद्ध्यारंभ और शरीरारंभ भेद से तीन प्रकार की होती है। भगवान् की प्रार्थना करके यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि तीनों ही प्रवृत्तियां पवित्र हों।

४—मार्जन मंत्र और मार्जन क्रिया के द्वारा दोषों का मार्जन करके उन उन अङ्गों को पवित्र करने का विधान है। इसके साथ व्याहृतियों को जोड़ा गया है। अङ्गों की पवित्रता और दोष निकल जाने के बाद ही भगवान् के गुणों का धारण हो सकता है। इन सभी

क्रियाओं के बाद पुनः प्राणायाम की योग्यता आती है और प्राणायाम की विधि प्रारंभ की जाती है।

५—प्राणायाम में सात व्याहृतियां लिखी गई हैं और इन्हें बोलकर कम से कम तीन प्राणायाम अवश्य करना चाहिए। अधिक से अधिक २१ प्राणायाम करने होते हैं। प्राण शब्द चेतना (Vitality) के लिए प्रयुक्त होता है। बिना इसके प्राणायाम नहीं हो सकता है। अचेतन वस्तु प्राणायाम नहीं कर सकती है। इस चेतना की पहचान सात चीजों से होती है। जहाँ ये सात पायी जावें वहां पर चेतना है और जहाँ ये सातों नहीं केवल 'भू' अर्थात् सत्ता ही पाई जावे वहां पर अचेतनता समझनी चाहिए। सन्ध्या का विशेष विचार मैंने अपनी अंग्रेजी सन्ध्या की पुस्तक में किया है। इन सात चेतना के चिन्हों का वर्णन मैंने अपनी प्रसिद्ध अंग्रेजी की पुस्तक 'The Aryasamaj Its Cult And Creed' में किया है।

प्राणायाम से इन्द्रियों और मन की चंचलता दूर होती है। उनमें एकाग्रता आती है और आत्मा स्वस्थ होता है। प्राणायाम परम तप है और यह इन्द्रियों के दोषों को दूर कर देता है। जैसे अग्नि से तपाने पर धातुओं का मल दूर हो जाता है वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दग्ध होकर दूर हो जाते हैं। प्राणायाम के मंत्र का विनियोग भी अत्यन्त सार्थक और सारगर्भित है।

विशेष

सन्ध्या में आसन का स्थान है। किस आसन पर सन्ध्या की जावे यह एक विचारणीय विषय है। प्राणायाम के लिए तो आसन आवश्यक है। इस विषय में दो आसन माने जाते हैं। एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन। दोनों में थोड़ा सा अन्तर है। इस आसन पर भी एक महत्वपूर्ण विचार है। वह यह कि भक्त सन्ध्या में भगवान् से सीधा सम्पर्क करना चाहता है। सीधे सम्पर्क के लिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि प्रणव (ओ३म्) को धनुः बनाना चाहिए। आत्मा को शर बनाना चाहिए। ब्रह्म को लक्ष्य बनाना चाहिए। लक्ष्य पर आत्मारूपी शर को बिना किसी प्रमाद के भेदना चाहिए। अतः सिद्धासन में इस धनुष की ही कल्पना पायी जाती है। दोनों घुटनों के बीच का भाग धनु है। दोनों हाथों की अंगूठा से मिली प्रथमा

अंगुली धनु की प्रत्यञ्चा का स्थान है। क्योंकि ये घुटने पर ही रखी जाती हैं। दोनों पदतलओं के ऊपर सीधा हृदय तक आत्मा शर है।

६—अघमर्षण की समस्या पर्याप्त जटिल मानी जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि इन मन्त्रों का ऋषि अघमर्षण है अतः इनका यह शीर्षक रखा गया। परन्तु यह सर्वथा सारहीन बात है। ऋषि तो मंत्रद्रष्टा होता है। उसके नाम पर उपासना की क्रिया का शीर्षक कोई स्थान नहीं रखती और न यह युक्तियुक्त ही है। इन कार्यों के साथ मंत्रद्रष्टा का कोई सम्बन्ध नहीं रखा जा सकता है। यह बात कपोल-कल्पित है।

पुनः एक विचार उठाया जाता है कि यह शीर्षक ठीक नहीं है। अघ नाम पाप का है। मर्षण का अर्थ उसको क्षमा करना है। पाप को तो भोगना ही पड़ता है। पाप कभी क्षमा हो नहीं सकता है फिर यह अघमर्षण शीर्षक क्यों रखा गया? यह तो अन्य धर्मों वाली बात यहाँ भी हुई कि पाप क्षमा हो सकता है। परन्तु इसका समाधान यह है कि अघ नाम पाप का है। पाप का विचार करना अर्थात् अपनी बुराइयों को सोचना और उनसे आगे के लिए बचना ही अघ-मर्षण है। प्रायश्चित्त का भी ऐसा ही तात्पर्य है। प्रायः नाम तप का है और चित्त नाम चिन्तन वा विशोधन का है। जब मनुष्य अपनी बुराइयों पर विचार करता है तब वह उनसे दूर रहने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह भविष्य में होने वाली या सोची गई हुई बुराई के विषय में ही सम्भव है। की जा चुकी हुई के विषय में नहीं।

प्रश्न उठता है कि क्या किया हुआ पाप क्षमा हो सकता है? उत्तर होगा—कभी भी नहीं। जिस पाप को हम भविष्य में करेंगे अथवा जिसके करने की इच्छा करते हैं—उन्हें दूर किया जा सकता है। विद्वान्, ज्ञान, और भगवान् के चिन्तन से उन्हें दूर करते हैं। यजुर्वेद का एक मंत्र है जिसमें कहा गया है कि हे विद्वन्! तुम दिन में और रात्रि में किये गये पापों से दूर रखने वाले हो और हमने जान कर जो पाप किया है और जो बिना जाने किया है उसको भी दूर करने वाले हो। इस भाव को ही लोग मंत्र से ग्रहण करते है। परन्तु यह सम्भव नहीं। इससे कर्मफल की व्यवस्था बिगड़ती है। अतः ऋषि दयानन्द ने इसका सही अर्थ लगाया है और इसमें आई हुई

भूतकालिक क्रिया "चकार" का अर्थ "करिष्यामि कुर्मोवा" किया है। अर्थात् जिस पाप को हम जानकर अथवा बिना जाने करेंगे वा करने की इच्छा रखते हैं उससे हमें दूर रखने वाले हो। अघमर्षण में भी यही अभिप्राय समझना चाहिए। पाप आदि के फल भोगने ही पड़ेंगे। परन्तु क्या कोई ऐसी स्थिति है कि जिसमें ये नष्ट हो जावें और इनका फल न भोगना पड़े?

उत्तर होगा कि जीवन-मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी होने और ब्रह्मविद् हो जाने पर यह अवस्था आ सकती है। ब्रह्मज्ञान के बिना यह स्थिति नहीं आसकती कि कर्म का बीज बिना फल दिये नष्ट हो जावे। ब्रह्मविद् किस प्रकार कोई हो सकता है इसका उपाय अथर्ववेद के एक मंत्र में बहुत सुन्दर बताया गया है। अथर्व १०।८। ३७ में बताया गया है कि "जो जानता है उस सूत्र को जिसमें सृष्टि की सारी प्रजा पिरोई हुई है और जानता है सूत्र के भी सूत्र को वह महान् ब्रह्म को जानता है।" यह सूत्र और सूत्र का सूत्र क्या है? संसार में कार्यकारण का अटल नियम है। यह शाश्वत नियम पर आधारित है। शाश्वत नियम ही समस्त नियमों का संचालक नियम है। कार्य-कारण का ज्ञान कर शाश्वत नियम पर पहुंचा जा सकता है। शाश्वत नियम का संचालन अंतर्यामी शक्ति वा सूत्र, जो स्वयं महाप्रभु है, से होता है। वह अंतर्यामी ही इसका भी प्रवर्तक है। संसार के ज्ञान से कार्य कारण के सूत्र का ज्ञान होता है। कार्यकारण सूत्रों से पुनः शाश्वत नियम जो सभी सूत्रों का सूत्र है उसका ज्ञान होता है। शाश्वत सूत्र के ज्ञान से अंतर्यामी सूत्र महान् ब्रह्म का ज्ञान होता है। ब्रह्मज्ञान के हो जाने पर मनुष्य मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। जब इस प्रकार मनुष्य ब्रह्म विद् हो जाता है तब हृदय की गांठें खुल जाती हैं और उसी के साथ कर्म की वासना भी समाप्त हो जाती है। फिर कर्म फल देने के योग्य नहीं रह जाते। क्योंकि मिथ्या ज्ञान के साथ संसिक्त कर्म फल के दाता होते हैं। मिथ्या ज्ञान से रहित कर्म फल के दाता नहीं होते हैं। इसीलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि "उस परम सूक्ष्म सबके आधार ब्रह्म के जान लेने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है। सारे संशय क्षीण हो जाते हैं और समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार आशय यह हुआ कि ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्मज्ञ होने पर

कम बिना फल दिये व वासना सहित नष्ट हो जाते हैं। यह ज्ञान ब्रह्म को जानने पर प्राप्त होता है। ब्रह्म के जानने का कार्य शाश्वत नियम के ज्ञान से होता है। शाश्वत नियम जगत् के कार्य-कारण आदि नियमों के अध्ययन और ज्ञान से होता है। इन नियमों का ज्ञान जगत् की रचना के ज्ञान से होता है। उसी का वर्णन अघमर्षण के मन्त्रों में है। अतः इन मंत्रों के ज्ञान से अघ का पूर्वोक्त प्रकार से मर्षण=ऊहापोह होता है। इसी लिए इन्हे 'अघमर्षण' का शीर्षक दिया गया है।

७—मनसा परिक्रमा में मन से भगवान् की महिमा की जगत् में परिक्रमा की जाती है। यह परिक्रमा मन के द्वारा होती है। तथा समस्त विश्व में हो रहे उसके कार्यों की होती है। किसी स्थान विशेष की परिक्रमा नहीं होत्ती है। मन की प्रवृत्तियों का इससे ताल-मेल बैठ जाता है। मन की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। पहली केन्द्रोन्मुखी (Centrifugal) है और दूसरी बाह्यमुखी (Centripetal) है। दोनों में समन्वय आवश्यक है। जैसा रेडियस होता है वैसा ही सर्किल बनता है। रेडियस—अर्ध व्यास के बिना वर्तुल नहीं बन सकता। इसी प्रकार मन की वृत्तियां एक दूसरे से समन्वित एवं ताल-मेल वाली होनी चाहियें। यह कार्य मनसा परिक्रमा से हुआ करता है। इसी लिए यह शीर्षक रखा गया। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर और नीचे की दिशाओं में भगवान् के कार्य का मन निरीक्षण करता है। सर्वज्ञ उस रक्षक प्रभु को देखता है और उसके द्वारा हो रहे रक्षा के कार्य को देखता है। इससे उसकी शक्ति पर विश्वास जमता है।

८—उपस्थान अन्तिम अवस्था है जो वस्तुतः, प्रार्थना के अनन्तर आती है। इसे ही उपासना भी कहा जा सकता है। उपासना उप= समीप और आसना=आसन है। इसी प्रकार उपस्थान उप=समीप और स्थान=निवास है। जब भक्त स्तुति और प्रार्थना की सिद्धि कर लेता है और अज्ञान की दूरी को दूर कर लेता है तब वह भग-वान् से सीधा सम्पर्क स्थापित कर लेता है। यही उपासना वा उप-स्थान है। इसमें दिये गये मंत्र वास्तविक उपस्थान के स्वरूप को बताते हैं। इनका अर्थ बहुत ही गम्भीर है।

कई लोग कहते हैं कि वैदिक सन्ध्या में भक्ति का समावेश ऋषि

ने नहीं किया। परन्तु वे गलती पर हैं। उनकी भक्ति स्यात् नाचने गाने और कीर्त्तन तक ही सीमित है। वस्तुतः यह अन्धविश्वास और ज्ञान-हीन भक्ति का उपस्थान में कोई सन्निवेश नहीं है और न होना ही चाहिए था। भक्ति कभी ज्ञान से रहित नहीं हो सकती है। यदि होती है तो मिथ्याज्ञान और पाखण्ड मात्र है। भक्ति का अर्थ भाग वा विभाग अथवा विश्लेषण करना है। जगत् में जगत् का उपादान कारण प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा तीनों हैं। हमारे शरीर में भी तीनों हैं। इनका पृथक्करण करके निखारना और इन्हें जानना सच्ची भक्ति है। कीर्त्तन में नाचना आदि मूर्खतापूर्ण बातें हैं। उप-स्थान के प्रथम मन्त्र में ही उत् उत्तर और उत्तम शब्द पड़े हैं। प्रकृति उत् है, स्वः अर्थात् जीव उत्तर है और सूर्य अर्थात् परमात्मा उत्तम है। ऐसा क्रम क्यों है? सूक्ष्मता के कारण। प्रकृति से जीव सूक्ष्म है, जीव से परमेश्वर सूक्ष्म है। अतः पहले उत् ज्योति को जानकर फिर उत्तर ज्योति को जानना चाहिए। तदनन्तर उत्तम ज्योति परमेश्वर को जानना चाहिए। यह उपासना की सीढ़ियाँ हैं इनका उल्लंघन नहीं हो सकता है।

दूसरे मन्त्र में बताया गया है कि संसार के समस्त पदार्थ भग-वान् को जताने के लिए झण्डे का कार्य कर रहे हैं। तीसरे मन्त्र में भगवान् के स्वरूप को बताते हुए निम्न बातें कही गई हैं जो अत्यन्त ध्यान देने योग्य हैं :—

१—भगवान् समस्त दिव्य शक्तियों का आश्चय है।
२—वह संयोग, समन्वयन और विभाग का प्रकाशक है।
३—द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष आदि में व्यापक हो रहा है।
४—वह जड़ जंगम का सूर्यवत् आत्मा होकर व्यापक हो रहा है।

भगवान् के इस स्वरूप को जान कर मनुष्य उसके साथ उप-स्थान कर सकता है। इस रहस्यमयी शक्ति का ज्ञान कर उसे प्राप्त करना उपस्थान का मुख्य उद्देश्य है। इससे इस शीर्षक की महत्ता स्वयं सिद्ध है।

९—गायत्री वा गुरुमन्त्र से प्रार्थना

गायत्री मन्त्र में बुद्धि और उत्तम कर्म के प्रेरणा की प्रार्थना की गई है। पूर्ण ज्ञान का भण्डार भगवान् ही इस कार्य को कर सकता है।

अतः भगवान् ही सब गुरुओं का गुरु है और उसी से प्रार्थना की जाती है। अन्य गुरु जो पूर्व में हो चुके हैं वे कालचक्र से अवच्छिन्न हैं। परन्तु भगवान् को काल नहीं घेरता, वह सदा ही गुरु है और सदा विद्यमान है। वही ज्ञान देता है। सृष्टियों के प्रारंभ में वही वेद का ज्ञान देता है। जब भक्त उससे सीधा सम्पर्क कर लेता है तब भी ज्ञान वही देता है। अतः ज्ञान की प्राप्ति परमेश्वर से ही होती है। जो कुछ ज्ञान संसार में है उसकी कहीं पर पराकाष्ठा होनी चाहिए। वह पराकाष्ठा परमेश्वर में है। वह सर्वज्ञता का निरतिशय बीज अपने अन्दर रखता है। वह सर्वज्ञ ही अनन्त-ज्ञान का भण्डार है। ज्ञान की प्रेरणा सदा भगवान् से ही हुआ करती है।

१०—समर्पण में अपने को भगवान् को समर्पण किया जाता है और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो पुरुषार्थ चतुष्टय हैं उनकी सिद्धि की प्रार्थना की जाती है। धर्म को चारों में प्रथम स्थान देने का तात्पर्य यह है कि धर्म तीनों पर प्रभाव रखता है। धर्मपूर्वक अर्थ की धर्म सिद्धि, धर्मपूर्वक ही काम की सिद्धि और धर्मपूर्वक ही मोक्ष की सिद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार धर्म की प्रधानता है। धर्म के तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, दान और तप। धर्म लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक अभ्युदय की सिद्धि का साधन है। लौकिक अभ्युदय में धर्म अर्थ और काम आते हैं। पारलौकिक अभ्युदय में स्वर्ग और मोक्ष आते हैं। मोक्ष में भगवान् के आनन्द से जीव आनन्दित होता है।

११—नमस्कार भगवान् को किया जाता है जो दयालु और सब का कल्याण करने वाला है। वह शम्भव है, मयोभव है, शंकर है, मयस्कर है, शिव है और शिवतर है। वही सब का एकमात्र उपास्य देव है। उसी को सदा नमस्कार करना चाहिए।

इस प्रकार यह संध्या के शीर्षकों को लेकर संध्या के रहस्य पर प्रकाश डाला गया। संध्या जैसा पूर्व कहा जा चुका है, ब्रह्म यज्ञ है। ब्रह्मयज्ञ प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। इसके लिए किसी को कोई भेद-भाव नहीं है। यह दैनिक कर्त्तव्य है और इसका पालन सब को करना चाहिए।

सन्ध्या में भी स्तुति, प्रार्थना और उपासना का क्रम है। स्तुति द्वारा ईश्वर के गुणों का गान वा कथन किया जाता है। प्रार्थना में

भगवान् के गुणों को गाया जाता है। स्तुति का फल गुणज्ञान है और प्रार्थना का फल अहंकार का क्षय है। जब ये दोनों सिद्ध हो जाते हैं तब परमेश्वर के गुणों के प्रकाश में अपने गुण, कर्म, स्वभाव को बनाने से उपासना सिद्ध होती है। उपासना में भगवान् से सीधा सम्पर्क होता है।

उपस्थान के चतुर्थ मन्त्र में शत शरद ऋतुओं तक जीवन धारण करने, आँखों से देखते रहने, कान से सुनते रहने और वाणी से बोलने की शक्ति रखने और अदीन रहने की प्रार्थना की गई है। इससे अधिक भी जीवन प्राप्त होने पर यह अवस्था बनी रहे—यह प्रार्थना भी की गई है।

प्रमाणसन्दर्भ

१—यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥
अ० १०।८।३७

२—भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वं संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ मुण्ड०

दशम प्रकरण

पुरोडाश और पशु

बड़े यज्ञों में आंटे आदि से पुरोडाश पकाया जाता है। इसकी
भी ब्राह्मण ग्रन्थों में विधि बताई गई है। पुरोडाश और पशु आदि
यज्ञ की प्रक्रिया में पारिभाषिक पद हैं। पारिभाषिक पदों का अर्थ
वही होना चाहिए जो परिभाषा में अभिप्रेत है। प्रचलित अर्थ होने
पर अनर्थ हो जाता है। 'दलिताशय' एक पद है। यह समस्त है।
आशय का साधारण भाषा में अभिप्राय अर्थ होता है। इस प्रकार
समस्त पद का साधारणतया अर्थ यह निकला कि दलित अर्थात्
निकृष्ट वा नष्ट आशय अर्थात् अभिप्राय वाला। परन्तु यह एक
प्रकार से उस प्रसंग में अनर्थ होगा जिसका यह शब्द है। "योगेन
दलिताशयः" अर्थात् योग द्वारा नष्ट हुई वासना वाला। आशय पद
योग की फिलोसोफी में एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ कर्म-
फल की वासना है। कर्म का फल होता है जिसे विपाक कहा जाता
है और विपाक के अनुरूप वासना होती है उसे आशय कहा जाता
है।

इस बात को जाने दीजिए और दूसरे भी उदाहरण लीजिए।
'लिङ्ग' पद को ही ले लीजिए। इसका अर्थ पुरुषेन्द्रिय है। परन्तु व्या-
करण शास्त्र में स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग का इससे ग्रहण
होता है। न्यायशास्त्र में इसका अर्थ अनुमानसूचक हेतु है। साहित्य में
वस्त्र, वेषभूषा आदि चिन्हों के लिए इसका प्रयोग है। यदि इसका
अर्थ उस उस विषय की परिभाषा के अनुसार न लिया जावे तो
अनर्थ होगा। मीमांसा की परिभाषा में लिङ्ग पद का और ही अर्थ
है। इसी प्रकार गुण पद को लिया जा सकता है। गुण पद से पाणिनि
के व्याकरण शास्त्र में 'अदेङ् गुणः' अ, ए और ओ को गुण कहा
जाता है। व्यवहार में गुण पद का अर्थ विशेषता लिया जाता है।
परन्तु न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों में गुण वह है जो द्रव्य में रहता है

और जिसमें गुण नहीं रहता। ये २४ गिनाये गये है। इस प्रकार शास्त्रों की अपनी परिभाषाओं के अनुसार ही अर्थ लेना चाहिए। अन्यथा घोर अनर्थ हो सकता है। पुरोडाश आदि को भी यही स्थिति है। शतपथ ब्राह्मण १।६।२।५ में इसे 'पुरोडाश' अर्थात् यज्ञ आदि में पहले दिया जाने वाला होने से पुरोडाश कहा है। ऐतरेय[१] २।२३ में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि पुरोडाश का यही पुरोडाश-पना है कि यज्ञ में देवों ने इसे पहले किया। तैत्तिरीय ३।२।८[२]।९ में यज-मान को पुरोडाश कहा है। यहां पुरोडाश का अर्थ यजमान है। कौसीतकी १३[३]।५,६ में आत्मा को यजमान का पुरोडाश कहा गया है। तैत्तिरीय ३।२[४]।८।८ में पशु की प्रतिमा मूर्ति को पुरोडाश कहा गया है। शतपथ १।२[५]।३।५ में लिखा गया है कि यह जो कुछ पुरो-डाश है वही पशु का आलंभन है। अर्थात् पशु मारने का काम यज्ञ में नहीं होता है बल्कि पुरोडाश का निर्माण करना ही पशु का आल-म्भन है। ताण्ड्य ब्राह्मण २१।१०[६]।१० में कहा गया है कि पशु ही पुरोडाश है। अर्थात् पुरोडाश पशु का भी वाचक है। पुनः तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।२[७]।८।७ में मस्तिष्क को पुरोडाश कहा गया है।

इन प्रमाणों के आधार पर पुरोडाश पद के अनेक अर्थ होते हैं। कोई यदि इन अर्थों में प्रसंग आदि को न देखकर उलट फेर कर अर्थ कर लेवे तो अनर्थ हो सकता है। यही कारण है कि कुछ लोग पुरो-डाश के बनाने की विधि और वास्तविक पुरोडाश द्रव्य को न जान कर 'पशु' अर्थ लेकर उसे ही यज्ञ में मारकर यज्ञ करने का विधान कल्पित कर लेते हैं। वस्तुतः पुरोडाश गोधूम (गेहूं) के आटे का बनता है। इसमें दूग्ध आदि डालकर पर्याप्त खमीर पैदा की जाती है। पकाने के बाद यह शहद के छत्ते की तरह छिद्रोंवाला हो जाता है। मस्तिष्क का भेजा भी इसी प्रकार का होता है। अतः पुरोडाश को मस्तिष्क भी कहना—एक वैज्ञानिक रहस्य ही है। पुरोडाश का पशु अर्थ लेकर अनर्थ लोग करते हैं। ऊपर के प्रमाणों में पशु की प्रतिमा का नाम पुरोडाश है। अथवा पुरोडाश की शक्ल तैयार होने पर पशु के आकार की हो जाती है। यह भी हो सकता है कि याज्ञिक लोग कलात्मक ढंग पर पुरोडाश पकाते हुए उसे किसी पशु का आकार कभी दे देते रहे हों। परन्तु उससे यह तो नहीं कहा जा सकता है कि पुरोडाश वस्तुतः पशु है जो यज्ञ में डाला जावे। आज-

कल भी चीनी की मिठाईयाँ दीपावली आदि पर्वों पर पशुओं के आकार की बनती हैं। हाथी, घोड़े, सिंह आदि आकार की भी होती हैं। परन्तु उनके खाने से हाथी घोड़े आदि का खाना तो नहीं सिद्ध होता है। पुरोडाश बनाने की जो विधि है उसे भी पशुगत विविध वस्तुओं से आहूत किया गया है। पुरोडाश बनाने की विविध अवस्थाओं की वह पारिभाषिक संज्ञा है। यदि पशु ही अर्थ पुरोडाश का लेना चाहिए, ऐसा कोई हठ करे तो फिर यजमान का मस्तिष्क इसका अर्थ क्यों न किया जावे। और ऐसा करने से फिर यज्ञ कोई कभी करेगा ही नहीं। क्योंकि जब यह ज्ञात होगा कि यजमान का मस्तिष्क यज्ञ में डालना पड़ेगा तो कोई यज्ञ करेगा ही क्यों? फिर ऋत्विज् ही क्यों छोड़ दिए जावेंगे? उनका मस्तिष्क ज्यादा अच्छा पुरोडाश समझा जावेगा। अतः यह व्यर्थ की कल्पनायें नहीं करनी चाहिए।

पुरोडाश पकाने में विविध अवस्थाओं में जो पशु के शरीर के पदार्थों की संज्ञा उसकी अवस्थाओं की दी गई हैं उसे देखने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि पुरोडाश ही यज्ञ का पशु है जहां तक अग्नि में उसकी आहुति आदि का सम्बन्ध है। जहां यज्ञ में पशु का दान देने और प्रदर्शन आदि का सम्बन्ध है वहां पर पशुओं का ग्रहण होता ही है।

ऐतरेय ब्राह्मण २।६ में लिखा है कि वह यही पशु का आलंभन है जो पुरोडाश का तैयार करना है। (अर्थात् पुरोडाश तैयार करने के अतिरिक्त और कोई पशु का आलंभन नहीं)। पुरोडाश पकाने के अन्न के जो किशारु हैं वही रोम हैं, जो तुष है वही त्वग् है, जो फलीकरण है वही असृग् है, जो पिष्ट किक्नस है वही मांस है, जो किंचित्क सार है वही अस्थि है। जो पुरोडाश से यज्ञ करता है वह सभी पशुवों के मेध से यज्ञ करता है। अर्थात् पुरोडाश का यज्ञ ही पशु-यज्ञ है। पशु मारकर यज्ञ करने का नाम पशु-यज्ञ नहीं। यहाँ पर पुरोडाश ही वस्तुतः पशु है। यहाँ पशु को मारकर यज्ञ करने का विधान नहीं है। अन्यथा एक पशु का मेध तो सारे पशुवों का मेध हो नहीं सकता है। वह तो फिर सभी पशुवों का होना था। परन्तु ऐसा नहीं। यह इस पुरोडाश की ही यज्ञ सम्बन्धी संज्ञा है।

यहां पर प्रश्न उठता है कि ऐसे संदेह में डालने वाले शब्दों का

प्रयोग ही क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि विज्ञान का क्षेत्र जितना बढ़ता जाता है शब्दों का प्रयोग उतना ही विस्तृत होता जाता है। शब्दों को फिर गढ़ा जाता है। परन्तु वैदिक भाषा में यौगिकता के कारण शब्दों का अर्थ बहुत विस्तृत है। इसलिए जो नाम पशु आदि के हैं वही औषधियों और अन्न आदि के भी हैं।

कई लोग यह कहते हैं कि पशु की प्रतिमा को भी पुरोडाश कहा गया है। फिर जहां यज्ञ में पशुदान आदि की आवश्यकता पड़े वहाँ पर इस पुरोडाश का ही दान आदि भी कर दिया जाना चाहिए। वास्तविक पशु लाने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि उपलक्षण उपलक्ष्य के समस्त कार्यों को पूरा नहीं करता है। शब्द में केवल व्यक्ति, केवल आकृति और केवल जाति की प्रधानता नहीं। प्रसंग से सबकी प्रधानता है। यदि कहा जावे कि 'गौ' बैठी है तो यहां पर गौ व्यक्ति को प्रधानता है जाति और आकृति की नहीं। यदि कहा जावे कि सोने की गौ लावो तो फिर आकृति की ही प्रधानता होगी। परन्तु यदि कहा जावे कि ब्राह्मण को गौ दो तो वहां पर जाति की प्रधानता है। काष्ठ वा मिट्टी आदि गौ देने से वह कार्य पूरा नहीं होगा।

इसी प्रकार पशु पद का प्रयोग भी अनेक अर्थों में होता है। इसका विस्तार से वर्णन मेरी पुस्तक वैदिक युग और आदि मानव तथा अंग्रेजी की पुस्तक Gems Of Aryan Wisdom में लिखा है पशुवों के वाचक शब्द अन्न के भी नाम हैं। अथर्व १८।४।३२ और १८।४१।३४ में धान को धेनु और तिल को वत्स कहा गया है। धानों का नाम ऐनो, हरिणी, रोहिणी आदि कहा गया है। अथर्व ११।३।५-७ में कणों को अश्व और चावलों को गौ कहा गया है। तुषों को मशक कहा गया है। काकडासिंघी, अश्वगन्धा, गावजवां आदि भी लोक में औषधियों के ही नाम हैं। इसी दृष्टि से वैदिक शब्दों पर जो यज्ञ में पारिभाषिक हैं—समझना चाहिए। उनको उनके वास्तविक रूप में ही लेना चाहिए।

प्रमाणसंदर्भ

१—पुरो वा एतान् देवा अक्रत यत्पुरोडाशास्तत्पुरोडाशानां पुरोडाशत्वम् ॥ऐ. २।२३

२—यजमानो वै पुरोडाशः ॥ तै० २।२।८।६

३—आत्मा वै यजमानस्य पुरोडाशः ॥ कौ० १३।५-६

४—पशोर्वै प्रतिमा पुरोडाशः ॥ तै० ३।२।८।८

५—पशुर्ह वा एष आलम्यते यत्पुरोडाशः ॥ श० १।२।३।५

६—पशवो वै पुरोडाशाः ॥ ता० २१।१०।१०

७—मस्तिष्को वै पुरोडाशः ॥ तै० ३।२।८।७

८—स वा एष पशुरेवालम्यते यत्पुरोडाशस्तस्य यानि किंशारूणि तानि रोमाणि ये तुषाः स्युः त्वग्ये फलीकरणास्तदसृग् यत्पिष्टं किक्नसास्तन्मासं यत्किंचित्कं सारं तदस्थि सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते। ऐ० २।६

एकादश प्रकरण

यज्ञ और वायुशुद्धि एवं वृष्टि आदि

शतपथ ब्राह्मण काण्ड ५ और अध्याय[1] तीन में यह लिखा है कि अग्नि से धूम्र वाष्प पैदा होती है, उससे मेघ पैदा होता है और उससे वृष्टि होती है। इसी कारण इसे तपोजा अर्थात् अग्नि से उत्पन्न माना गया है। यज्ञ में सभी प्रकार के पुष्ट और सुगन्धियुक्त पदार्थ आहुति में डाले जाते हैं। अग्नि उन्हें जला कर सूक्ष्मीभूत करके वायु में पहुंचा देता है। ये तत्व वायु को भी शुद्ध करते हैं और मेघ को भी बनाते हैं। इससे वृष्टि भी होती है।

यज्ञप्रक्रिया में अग्नि और मरुत् देवों का बहुत बड़ा भाग है। मरुत् और अग्नि दोनों ही वृष्टि में आकाशीय क्षेत्र में महान् कार्य करते हैं। यज्ञ का विचार करते समय इनका विचार भी किया जाना आवश्यक है। मरुतों के विषय में मैंने अपनी पुस्तक 'साइंसेज इन दि वेदाज' में किया है। यहां पर यज्ञ की प्रक्रिया में इन पर विचार किया जाता है। कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा दूसरा काण्ड[2] चौथे प्रपाठक में लिखा है कि अग्नि इस पृथ्वी से वृष्टि को ऊपर वाष्प रूप में ले जाता है। मरुद्गण उसका निर्माण करते हैं और आकाश में फैलाते है। सूर्य की किरणें जब न्यङ् होती हैं तब वर्षा होती है। तैत्तिरीय आरण्यक[3] के दशवें प्रपाठक के ६२वें अनुवाक में लिखा है कि जिन रश्मियों से आदित्य सन्तप्त होता है उन्हीं से मेघ वर्षा भी करता है। मनुस्मृति २।७६[4] में लिखा है कि आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और उससे प्रजायें होती हैं।

यज्ञ-सम्बन्धी कुछ आवश्यक बातें यजुर्वेद के मन्त्र में जो पूर्व प्रकरण में उसके प्रसंग में दिया जा चुका है, लिखी गई हैं। मन्त्र का प्रारम्भ होता है—सप्त ते अग्ने अमिधः सप्त जिह्वाः। इसमें सात सप्तकों का वर्णन है जो यज्ञ के विविध उपकरणों आदि से सम्बन्ध

रखते हैं। ये यज्ञ की अग्नि के उपकरण आदि हैं। ये सात सप्तक वस्तुतः ४९ संख्या पूर्ण करते हैं। मरुत जो कि वायुएं हैं और प्रकाश से युक्त हैं और जिन्हें वेद में 'वयः' भी कहा जाता है, वे भी ४९ की संख्या में हैं और इनका भी सात ही सप्तक है। यज्ञ की अग्नि के सप्तक निम्न प्रकार हैं:—

१—सप्त समिधः—बिल्व, बड़, पीपल, खदिर, आम्र, उदुम्बर और पलाश।

२—सप्त जिह्वाः—अग्नि की सात ज्वालायें—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, विस्फुलिङ्गिनी और रूपवती।

३—सप्त ऋषयः—ब्रह्मा, होता, उद्गाता, अध्वर्यु, यजमान, यजमानपत्नी और आग्नीध्र।

४—सप्तधाम—गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् जगती, बृहती, शक्वरी और ककुप्।

५—सप्त होत्राः—होता, प्रशस्ता, ब्राह्मणांच्छसी, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र और अच्छावाक्।

६—सप्तधा—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र, आप्तोर्याम और वाजपेय।

७—सप्तयोनीः—भूः, भुवः, स्वः, महः, वायु, अग्नि और आदित्य।

अग्नि का रुद्रों से सम्बन्ध माना जाता है। ये रुद्र भी वर्षा आदि कार्यों में सहायक हैं। मरुत् इन्द्र के सहायक हैं। वस्तुतः अग्नि नव भेद के नाम हैं। वे वही हैं जो नव रुद्र हैं। रुद्र के नाम ही अग्नि के नाम भी हैं। शतपथ ६।१।३।१८ में ये नाम इस प्रकार हैं—रुद्रः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, अशनिः, भवः, महान्देवः और ईशान तथा कुमार नवम नाम हैं। ये अग्नि के रूप हैं। पुनः शतपथ १।७।३।८ में लिखा है कि अग्नि ही वह देव है जिसके ये नाम हैं। शर्व नाम को पूर्व के लोग, भव वाहीक लोग प्रयुक्त करते हैं। वस्तुतः यह अग्नि ही पशुपति है। इस प्रकार अग्नि रुद्र है।

मरुतों का काम वृष्टि आदि का करना है। ये मरुत् जल से अग्नि को तान्त करते हैं और तान्त अग्नि के हृदय का भेदन करते हैं और उससे अशनि पैदा होती है। ऐसा तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।१२ में लिखा है। ४९ मरुतों का सात सप्तक निम्न प्रकार है—

१—शुक्र ज्योतिः
२—चित्र ज्योतिः
३—सत्य ज्योतिः
४—ज्योतिष्मान्
५—शुक्रः
६—ऋतपा
७—अत्यंहाः [१]

८—ईदृङ्
९—अन्यादृङ्
१०—सदृङ्
११—प्रतिसदृङ्
१२—मितः
१३—समितः
१४—सभराः [२]

१५—ऋतः
१६—सत्यः
१७—ध्रुवः
१८—धरुणः
१९—धर्ता
२०—विधर्ता
२१—विधारयः [३]

२२—ऋतजित्
२३—सत्यजित्
२४—सेनजित्
२५—सुषेण

२६—अन्तिमित्र
२७—दूरे अमित्र
२८—गणः [४]

२९—ईदृक्षासः
३०—ऊपुणः
३१—एतादृक्षासः
३२—सदृक्षासः
३३—प्रतिसदृक्षासः
३४—मितासः
३५—समितासः [५]

३६—समरसः
३७—स्वतवान्
३८—प्रघासी
३९—सांतपन
४०—गृहमेधी
४१—क्रीडी
४२—शाकी [६]

४३—उज्जेषी
४४—उग्रः
४५—भीमः
४६—ध्वान्तः
४७—धुनिः
४८—सासह्वान्
४९—अभियुग्वा विक्षिपः [७]

इस प्रकार ये मरुद्गण वर्षा में सहायक हैं। यज्ञ की प्रक्रिया में मरुतों का और यज्ञसम्बन्धी देवों का जिनमें अग्नि प्रधान है—परिज्ञान आवश्यक है। शास्त्रों में कभी-कभी १० प्राणों को ही मरुत्

कह दिया जाता हे। ये दस प्राण भी बाह्य-जगत् में और आन्तरिक जगत् शरीर आदि में कार्य करते हैं—ये दस प्राण इस प्रकार हैं:—

प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय हैं। ये शरीर में रहकर निम्न प्रकार कार्य करते है।

प्राण—श्वास को बाहर निकालता है।

अपान—श्वास को भीतर लेता है।

व्यान—समस्त शरीर में रक्त का संचार करता है।

समान—नाभिस्थ शरीर में रस पहुंचाता है।

उदान—कण्ठस्थ अन्न-पान को भीतर पहुंचाता है।

नाग—वान्ति तथा मल को निकालता है।

कूर्म—निमेष उन्मेष का कारण है।

कृकर=भोजन-पान की इच्छा पैदा करता है।

देवदत्त—जम्हाई आदि का कारण है।

धनंजय=बेसुध, मूर्च्छा, खुर्राटा लेना आदि का कार्य करता है।

इन्हीं प्राणों पर इन्द्रिय-व्यापार आधारित है। ये अन्तः प्राण होकर इन कार्यों को शरीर में करते हैं। ये ही बाह्य जगत् में विभिन्न कार्यों के संचालक हैं।

इसी प्रकार सप्तशीर्ष्ण प्राणों का भी वर्णन है। सात शिरस्थ इन्द्रियों को भी सप्त प्राण कहा जाता है। मरुतों के कार्य का विस्तार बहुत है। इस पर विशेष वैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता है।

भगवान् की सृष्टि में यज्ञ हो रहा है। वह वैज्ञानिक यज्ञ है। उसी का अनुकरण कर यज्ञ किया जाता है। वस्तुतः यज्ञ उस महान् यज्ञ को समझने का साधन भी है। मनु जो आदि पुरुष माना जाता है, उसने यज्ञ किया। शतपथ ब्राह्मण १।५।१।७ में[८] लिखा है कि मनु ने प्रथम यज्ञ से यज्ञ किया और उसका अनुकरण करके ये प्रजायें यज्ञ करती हैं।

प्रमाणसन्दर्भ

१—अग्नेर्वै धूमो जायते धुमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वाएता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति।

२—अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुतः सृष्टां नयन्ति यदा खलु वा असौ आदित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्तते ऽथ वर्षति।

३—याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति।

४—आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः। मनु० २ श्लोक ७६

५—तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि कुमारो नवमः। श० ६।१।३।१८

६—अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि, शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते, भव इति यथा वाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति।

श० १।७।३।८

७—मरुतोऽद्भिरग्निमतमयन्। तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिन्दन् सा अशनिरभवत्॥ तै. १।१।३।१२

८—मनुर्हवाऽअग्रे यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते॥

श० १।५।१।७

द्वादश प्रकरण

'इदन्न मम' और पात्र में घी छोड़ना

पर्याप्त विवाद इस विषय पर है कि 'इदन्नमम' से स्रुवा में बचे हुये घी को जल पात्र में पृथक् छोड़ना चाहिए वा नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा करना चाहिए और कुछ का विचार है कि नहीं। महर्षि दयानन्द ने अपनी संस्कार विधि में कई संस्कारों में ऐसा करने को लिखा है परन्तु यज्ञ आदि में सर्वत्र ऐसा करने का विधान नहीं किया। यदि यज्ञ आदि में सर्वत्र ऐसा करना अभीष्ट होता तो वे अवश्य ही लिखते। जहां पर बचे हुए घी को जलपात्र में डालने का विधान किया है वहां पर उस घी का उपयोग भी लिखा हैं। कहीं पर उस घी से आहुति देने का विधान नहीं किया है। यहाँ पर उसी प्रसंग में कुछ विचार किया जाता है परन्तु इसके पूर्व और उसी अनुच्छेद में अन्य यज्ञ सम्बन्धी बातें भी आ जाती हैं।

यह नियम है कि 'यजति' क्रिया का अर्थ द्रव्य, देवता और त्याग है। याग भी इसीलिए ऐसे अर्थ को देता है। याग वह है जिसमे हविः आदि द्रव्यों से इन्द्रादि देवताओं के निमित्त प्रक्षेप अर्थात् त्याग किया जावे। इस त्याग को जताने के लिए ही प्रक्रिया वर्ती जाती है कि 'इदं जातवेदसे इदन्न मम' आदि अर्थात् यह आहुति जातवेदस् आदि के लिये है—मेरी नहीं। यही वस्तुतः आहुति दिये जाने वाले मंत्र में आए देवता का नाम लेना है। मंत्र में आये देवता का मंत्र से कर्मान्त में नाम लेना—यह प्रथा यहीं से पड़ी है। ऐसा मालूम पड़ता है। इसलिए कात्यायन श्रौतसूत्र १।२।१-२ में लिखा है कि 'यज्ञं व्याख्यास्यामः' अर्थात् अब यज्ञ की व्याख्या करेंगे, वह यज्ञ द्रव्य, देवता और त्याग से सम्बद्ध है। सूत्र में लिखा है 'द्रव्यं देवता त्यागः।' पुनः आगे चलकर १।६।६ में लिखा है 'न देवता—अग्नि शब्द क्रिया परार्थत्वात्'—अर्थात् देवता आहवनीय आदि अग्नि, मंत्र और क्रिया के स्थान में कोई प्रतिनिधि नहीं हो सकता। इन्हें तो ऐसा ही करना

पड़ेगा। पुनः २।२।२७ पर टीकाकार लिखता है कि होमपक्ष में 'इदं जातवेदसे इदन्नमम'—इस प्रकार त्याग करना चाहिए और मंत्र सर्वत्र स्वाहान्त पढ़ना चाहिए। पक्षान्तरों में उनके याग न होने से त्याग करने की आवश्यकता नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि त्याग का द्योतक ही यह 'इदन्न मम' का व्यवहार है।

शतपथ ब्राह्मण मूल अच्युत ग्रंथमाला काशी से प्रकाशित की भूमिका में श्री विद्याधर शर्मा लिखते है—

उसमें याग उसका नाम है जो देवता के उद्देश्य से अग्नि मे प्रक्षेप-विशिष्ट द्रव्यत्याग है। सभी प्रेरणा के स्थलों में जहां पर कि 'यजति' का विधान है अर्थात् सोमेन यजेत आदि में यज् धातु का कोई विशेष अर्थ है। उसी वाक्य में उसके उद्देश्य से किसी द्रव्य का भी विधान मिलता है। वाक्यान्तर से देवता का भी विधान रहता है। उसी देवता को लक्ष्य में रखकर वहाँ पर 'इदं इन्द्राय इदन्न मम' से जो द्रव्य का त्याग है अर्थात् मानसिक व्यापार वही याग पद का अर्थ है। मीमांसा ४।२।२८-२६ पर जैमिनी ने याग का यही अर्थ किया है। जैमिनी के सूत्र इस प्रकार हैं—यजति चोदना द्रव्य देवता क्रियं समुदायं कृतार्थत्वात् तदुक्तेः श्रवणाज्जुहोति रासेचनाधिकः स्यात्। इन सूत्रों से जहां जैमिनि ने यज्ञ का स्वरूप बतलाया है वहाँ याग और होम का भेद भी दिखलाया है।

यहाँ पर ऐसा समझना चाहिये कि आहवनीय आदि में छोड़ी हुई हवि का जो प्रक्षेप है वही होम कहा जाता है। वह दो प्रकार का है प्रधान होम और अङ्ग होम। 'अग्निहोत्रं जुहोति' प्रधान होम है और अपने अपने फल उद्देश्य से विहित है। इनमें प्रक्षेप मात्र ही धातु का अर्थ नहीं है किन्तु प्रक्षेप, उद्देश और त्याग तीनों ही अर्थ है। होम में भी ये तीनों अंश होते हैं। परन्तु याग में तीनों अंशों के होते हुए प्रक्षेपविशिष्ट द्रव्यत्याग की विशेषता है। होम में तीनों अंशों की समप्रधानता है परन्तु याग में प्रक्षेप की अङ्गता है और शेष दोनों की समप्रधानता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि इदन्न मम त्याग का सूचक है और याग में इसकी प्रधानता है।

ऋषि दयानन्द इन पर क्या कहते हैं, यहां पर थोड़ा सा विवेचन किया जाता है। प्रश्न यह रहता है कि यदि 'इदन्नमम' से घृतपात्र में स्रुवा का शेष घृत छोड़ा जावे तो फिर बाद में उसका उपयोग भी

तो कहीं पर होना चाहिए। जहां पर उपयोग है वहाँ पर महर्षि ने घृत छोड़ने की बात भी लिखी है। जैसे कि गर्भाधान संस्कार विधि। संस्कार विधि के शताब्दी संस्करण पृष्ठ ३५ पर यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिच मंत्र से एक स्विष्टकृत् आहुति घृत की देवे। जो इन यज्ञों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुए कांसे के एक पात्र में इकट्ठा करते गये हों—जब आहुति हो चुके तब उस आहुतियों के शेष घृत को वधू लेके स्नान के घर में जाकर उस घी का पग के नख से लेके शिर पर्यन्त सब अङ्गों पर मर्दन करके स्नान करे। यहाँ पर यह भी स्पष्ट है कि यह घी हुतशेष नहीं है।

पृष्ठ ३३ पर लिखते हैं कि "बीस आहुति करने से यत्किंचित् घृत बचे वह कांसे के पात्र में ढाक के रख देवें। इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिए यह विधि करना। अर्थात् एक चाँदी व कांसे के पात्र में भात रखके उसमें घी, दूध और शक्कर मिला करके कुछ थोड़ा देर रखके जब घृत आदि भात में एक रस हो जाय पश्चात् नीचे लिखे एक एक मन्त्र से एक एक आहुति अग्नि में देवें और स्रुवा में का शेष आगे धरे हुए कांसे के उदक पात्र में छोड़ता जावे।

पृष्ठ २५ पर लिखते हैं। सब को विदा कर स्त्री पुरुषहुत शेष घृत, भात वा मोहन भोग को प्रथम जीम के पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें। यहाँ पर हुतशेष का तात्पर्य इदन्नमम पात्र वाले से नहीं अपितु हवन के पात्र में बचे हुए घृत आदि से है।

यदि हुतशेष का अर्थ इदन्नमम से एकत्र किया हुआ घृत ही होता तो विवाह में लिखा महर्षि का निम्न संदर्भ संगत न होता। विवाह संस्कार में पृष्ठ १४८-१४६ पर लिखते हैं "तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन अर्थात् भात है उनको एक पात्र में निकाल कर उसके ऊपर स्रुवा से घृत सिंचन करके घृत और भात को अच्छे प्रकार मिला कर दक्षिण हाथ से थोड़ा थोड़ा भात दोनों जने ले के इनमें से प्रत्येक मन्त्र से एक एक करके चार स्थालीपाक अर्थात् भात की आहुति देनी। तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकाल उस पर घृत सेचन कर दक्षिण हाथ में रखके इन तीन मन्त्रों को मन में जप कर वा उस भात में से प्रथम थोड़ा सा

भक्षण करके जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिए खाने को देवे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इदन्नमम से कांसे के पात्र में स्रुवा से बचे घी को वहीं पर छोड़ना चाहिए जहां पर ऐसा करने को लिखा गया हो। सर्वत्र नहीं तथा इस प्रकार एकत्र किया गया घी हुतशेष नहीं है। बल्कि घी के पात्र में बचा हुआ घी या अन्य प्रकार आहुति से शेष रह गया भात आदि हुतशेष है।

'इदन्नमम' का आधार देवता के निमित्त त्याग है। यज्ञ में देवता के नाम से आहुति दी जाती है अथवा मंत्र से दी जाती है। जहां देवता का नाम आता है वहाँ पर चतुर्थी विभक्ति लगा कर आहुति दी जाती है और 'इदन्नमम' का भी अन्त में प्रगोग होता है। जहां देवता का नाम नहीं है केवल मंत्र है वहाँ पर चतुर्थी विभक्ति नहीं लगती है। केवल मंत्र के अन्त में स्वाहा लगा कर आहुति दी जाती है। कभी देवता मंत्र में ही स्पष्ट होता है वहां पर भी स्वाहा के बाद देवता के साथ इदन्नमम लगता है। इस विषय में भी कुछ नियम है।

आश्वलायन १।३।७ में निम्न सूत्र है—

'अमुष्मै स्वाहा'

यह इस बात पर प्रकाश डालता है कि कहीं पर नाम से होम कहा गया है जैसा कि 'सावित्र्यै ब्रह्मणे स्वाहा' और कहीं पर मंत्र से होम कहा गया है जैसा कि "अग्नेनय सुपथा राये०"। जहां पर दोनों ही नहीं वहां पर नाम से किस प्रकार होम होवे, इस अवस्था में यह सूत्र है जो इस प्रकार है—

अग्निरिन्द्रः प्रजापतिर्विश्वे देवा ब्रह्मेत्यनादेशे। आ० १।३।८

अर्थात् जहां पर होम का आदेश न हो और कार्य का आदेश हो वहां पर इस सूत्र में कहे गये अग्नि, इन्द्र आदि देवता होतव्य हैं।

उपांशुयाज में इन्द्र, महेन्द्र को छोड़ कर अग्नि और अग्निसोम, पौर्णमासी में और अमावस्या में अग्नि तथा इन्द्राग्नी देवता हैं। इसी विषय पर यह सूत्र है—

देवताश्चोपांशुयाजे इन्द्रमहेन्द्रवर्जम्। आ० गृ० १।१०।४

पुनः आगे दूसरे सूत्र में कहा गया है कि उपांशुयाज में देव काम्य हैं।

'अष्टका' के विषय में देवताओं का निम्न विकल्प पाया जाता है :—

एक मत में विश्वेदेव उसके देवता हैं, दूसरे मत से अग्नि उसका देवता है, तीसरे मत से सूर्य उसका देवता है और चतुर्थ मत में प्रजापति देवता है, पंचम विचार में रात्रि देवता है और छठे विचारानुसार नक्षत्र देवता है, सातवें विकल्प के अनुसार ऋतु देवता है, अन्य मत के अनुसार पितृ देवता है तथा दूसरे मत में पशु देवता अष्टका का है। आश्वलायन गृह्यसूत्र २।४।१२ पर टीकाकार दिव्यसागर ने यह विचार व्यक्त किया है और निरुक्त का मत भी दिखलाया है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र २।४।१४ के अनुसार-अग्नेनय सुपथा राये०, से स्थालीपाक देने का विधान है। इसी प्रकार जहां पर स्थालीपाक के लिए देवता का होम हो वहां पर उस देवता वाला ही मन्त्र बोला जाना चाहिए। इस विषय पर आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ३।७।५ पर टीकाकार हरिदत्त आपस्तम्ब ३।४ का उदाहरण देते हुए लिखता है कि 'जुहोति' की विधि स्वाहाकार प्रदान पूर्वक है। अर्थात् जुहोति की प्रेरणा होती ही है, चतुर्थी विभक्ति देवता के साथ लगाकर स्वाहा करके आहुति देने के लिए। वहीं पर वह पुनः लिखता है कि किसी के मत में 'अमुष्मै स्वाहा' बोल कर अथवा उस देवता वाली ऋचा से आहुति का विधान है।

ऐसे प्रसंगों में जहां पर शास्त्र का जैसा उपदेश है वैसा ही देवता की कल्पना करनी चाहिए। परन्तु स्विष्टकृत् अग्नि को छोड़ कर यह कल्पना की जानी चाहिए। वैश्वदेव कर्म में विश्वेदेव देवता हैं।

बलि के देवता पृथिवी, वायु, प्रजापति, विश्वेदेव, आपः, ओषधि, वनस्पति, आकाश, काम, मन्यु, रक्षोगण, पितर तथा रुद्र हैं। द्राह्यायन गृह्यसूत्र १।५।३३ तथा २।२।१-४ सूत्रों में इसका पल्लवन किया गया है। दर्शपौर्ण मास के देवता का अधिक विस्तार दिखाया गया है।

इदन्न मम के विषय को बहुत ही गलत तरीके पर उपस्थित किया जाता है। कुछ पौराणिक बातें इसमें घर कर गई हैं। बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति पार० १।२।१२ पर हरिहर लिखते हैं। अर्थात् अग्नि में प्रक्षेप करके पुनः खाता है—ऐसा समझना चाहिए। यहां पर खाने का विधान करने से खाने की वस्तु भी आकांक्षित है। तो फिर वह हवन करके बचा हुआ पदार्थ अथवा कुछ और है? पाक यज्ञों में ग्रहण किये हुये की सम्पूर्ण की आहुति नहीं दी जाती है, क्यों कि हवन के बाद शेष के खाने का भी विधान है। ऐसा मत कात्यायन का है। स्रुवा से ग्रहण किये होम द्रव्य का सम्पूर्ण का होम नहीं होता, क्यों कि हुत शेष के खाने का विधान भी है। सभी आहुतियों का होमद्रव्यं स्रुवा से बचाया गया संश्रव कहा जाता है। वह दूसरे पात्र में डाला जाता है। उसी के खाने का विधान है।

इसी पर गदाधर भाष्य इस प्रकार है :—

परिस्तरणबर्हि का उससे हवन करके पात्रान्तर स्थापित होमशेष द्रव्य का भक्षण होता है। खाने के विधान की प्राप्ति से इसे होमोत्तर काल में समझना चाहिए। शेष का सुरक्षित करना भी ज्ञापित होता है। खाना तो इसका श्रौतसूत्र में कहा ही गया है। जैसा कि 'पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमः, हुत्वा शेषप्राशनम्। अर्थात् स्रुवा आदि से जो ग्रहण किया गया उसका होम करके कुछ बचा कर पात्रान्तर में रखे।

पुनः अपनी पद्धति में हरिहर कहते हैं कि प्रजापतये स्वाहा—ऐसा मन में ध्यान करता हुआ आघार करता है। इदं प्रजापतये—ऐसा त्याग करके हुत शेष को दूसरे पात्र में डाल दे। इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय—ऐसा त्याग करके भी ऐसा ही करे।

यहां पर पुनः पद्धति में गदाधर इससे बहुत ही विलक्षण लिखता है कि मन से पूर्वाघार करना। ओं प्रजापतये स्वाहा—इदं प्रजापतये न ममेति, ऐसा त्याग करके अग्नि में द्रव्य छोड़ना चाहिए। पुनः उसी स्थल पर कहता है। बर्हिहोम करना चाहिए। इदं प्रजापतये न ममेति—ऐसा करके त्याग करना चाहिए।

यहां पर हरिहर भाष्य में पात्र में छोड़ने को लिखा है। यह इदन्न मम रूपी त्याग पर आश्रित है। क्योंकि यज्ञ का अर्थ ही

कात्यायन ने और मीमांसा ने द्रव्य, देवता और त्याग लगाया है। परन्तु पात्र में घी का छोड़ना प्रामाणिक नहीं। यह पौराणिक कल्पना ज्ञात होती है। वस्तुतः जहां पर छोड़ने का विधान है, वहां पर ही छोड़ना चाहिए, सर्वत्र नहीं। हुतशेष का यह अर्थ नहीं है। हुतशेष वह है जो हवन करने के बाद हवन द्रव्य वाले पात्र में बचा हुआ है। कात्यायन श्रौतसूत्र ६।१०।२६-२७ सूत्रों का उद्धरण वह देता है। ये सूत्र पाकयज्ञ और अग्निहोत्र में लागू है। यद्यपि अग्निहोत्र श्रौतकर्म है।

गृहाग्नि में जो स्मार्त यज्ञ होते हैं वे सब पाक यज्ञ हैं। उनमें होमार्थ स्रुवा में लिए हुये का सम्पूर्ण का होम नहीं करना चाहिये। किन्तु प्रतिहोमं भक्षणार्थं किंचित्परिशेषनीयम्—यह पौराणिक अर्थ मालूम पड़ता है। वस्तुतः यज्ञ से बचे हुये को हुतशेष समझना चाहिए। उसे ही श्रवभाग भी कहते हैं। कई लोग 'स ँ स्रवभागा' यजुः २।१८ से इस इदन्न मम से एकत्र किये हुये घी की आहुति भी देते हैं। वस्तुतः स्रवभाग का अर्थ कात्यायन इस प्रकार देते हैं। इदन्न मम के बाद पृथक् पात्र में एकत्र घी को न हुतशेष कहा जाता है और न उसको स्रवभाग कह सकते हैं। उससे स्रवभाग की आहुति देना सर्वथा गलत है।

कात्यायन कहते हैं—स्रुचो प्रगृहणाति स ँ स्रवभागा इति संस्रवान् जुहोति। का० श्रौ० ३।६।१६। यहाँ पर यह विधान है कि यदि स्रुवा आदि में घी लगा हुआ रह गया हो तो इस मंत्र से स्रवभाग की आहुति देवे। इसके देवता विश्वे देव हैं। परन्तु यहाँ पर यह समझना चाहिये कि यदि संश्रवान् हो अर्थात् घी लगा हो तभी संस्रवभागा०' से आहुति देनी चाहिए। न लगा हो तो नहीं। अतः टिप्पणी में टीकाकार लिखता है कि 'अतश्च यत्र कर्मणि पूर्वकृतहोमसम्बन्ध्याज्यं पात्रे सलग्नं भवति तत्र सर्वत्रापि अयं होमो भवत्येव। अर्थात् जिस कर्म में पूर्वकृत होम सम्बन्धी घी पात्र में सलग्न हो उसमें सर्वत्र ही यह होम होता है।

वह आगे पुनः कहता है कि स्रुक् में स्थित घी के पहले ही निरवशेषित हो जाने से संस्रवों को याग की अङ्गता नहीं प्राप्त है। इस प्रकार यहां पर यह स्पष्ट है कि हरिहर द्वारा कहा गया 'इदन्न मम' से पात्र में अलग प्रक्षिप्त घी आदि स्रवभाग नहीं है। यदि वह स्रवभाग होता तो उसकी तो आहुति दे दी जाती फिर खाया क्या जाता? विधि में गदाधर ने इदन्न मम के बाद आहुति डालना लिखा है—इदन्न मम पात्र में छोड़ना नहीं। इससे भी मालूम पड़ता है कि यह कल्पित है। अतः जहाँ पर इदन्नमम के बाद पृथक् पात्र में घी छोड़ने को लिखा गया हो वहाँ पर ही छोड़ना चाहिये अन्यत्र नहीं।

अग्न्याधेय देवता जब यह श्रौत होता है तब अग्नि, पवमान अग्नि, शुचि अग्नि और अदिति होते हैं। पारस्कर २।७ पर हरिहर ने ऐसा लिखा हैं।

यहां एक प्रश्न है कि होम करते समय चतुर्थी विभक्ति लगाकर आहुति दी जाती है परन्तु जयाहोम जो विवाह में होता है उसमें 'चित्तं च चिति च स्वाहा' लिखा है। वहाँ पर चतुर्थी विभक्ति नहीं है। १।५।६ पर हरिहर इसका उत्तर देता है कि 'न ह्येतानि देवतापदानि किन्तु मंत्रा एते। मन्त्राश्च ये ते यथाम्नाता एव प्रयुज्यन्ते'। अर्थात् ये देवतापद नहीं हैं। ये तो मंत्र हैं। देवता पद में ही चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है। मंत्र तो जैसा पढ़े गये हैं वैसे ही प्रयुक्त किये जाते हैं। इनमें चतुर्थी विभक्ति नहीं लगती है।

कुछ और भी यज्ञ—गोभिल गृह्यसूत्र ३।७।११-१४ में 'गोयज्ञ' का विधान है। इसमें गोपालन की विधि वर्णित है। इस प्रसंग में ये सूत्र है :—अग्निं यजेत पूषणमिन्द्रमीश्वरम्। ऋषभ पूजा, यज्ञे नैवाश्वयज्ञो व्याख्यातः। यमवरुणौ देवतानामत्राधिकौ। अर्थात् अग्नि में यज्ञ करे अग्नि, पूषा, इन्द्र और ईश्वर देवता निमित्तिक। बैल को पूर्ण सत्कार दे। इस यज्ञ से ही अश्वयज्ञ=अश्वपालन यज्ञ का भी विधान समझना चाहिये। परन्तु इस अश्व यज्ञ में यम और वरुण देवता की भी आहुति दी जावे पूर्व कहे गोयज्ञ के देवताओं के साथ।

लौगाक्षि गृह्यसूत्र कण्डिका ४८।१ में पुत्रेष्टि का वर्णन है। न्याय दर्शन में इस पर विचार करते हुए यह लिखा गया है कि यह पुत्रेष्टि यज्ञ अपने उद्देश्यों में सफल कब होता है और कब नही? उत्तर दिया गया कि 'कर्मकर्त्तृ साधनवैगुण्यात्' अर्थात् कर्म, कर्त्ता और साधन में कोई दोष हो तब तो यह सफल नहीं होता है परन्तु निर्दोष अवस्था में सफल होता ही है।

गोयज्ञ, गोसव—बहुत समय पूर्व हैदराबाद आर्य सम्मेलन के अवसर पर एक गोमेध यज्ञ का आयोजन वैदिक रीति से करने का

प्रयत्न किया गया था। परन्तु उस समय जो विधि बनाई गई थी उससे यह ज्ञात होता था कि इससे पूर्व यह यज्ञ कहीं शास्त्रों में पाया ही नहीं जाता। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि गोमेध और अश्वमेध यज्ञों के विकृत रूप की वीभत्सता और दूसरा यज्ञों के विषय में आर्य समाज के पण्डितों की जानकारी का अधूरा पन। जो लोग इन विषयों को जानते हैं उनको तो सम्मेलन आदि का संयोजन करने वाले अधिकारी और सभाओं के सत्तारूढ़ व्यक्ति पूछते नहीं। ऐसे जानकार लोग अपनी प्रतिष्ठा के संकोच में स्वयं सामने आते नहीं। अब कर्मकाण्ड और वेदविद्या आदि के सम्बन्ध में आर्यसमाज के नामधारी अनभिज्ञ अनपढ़ चढ़ा उपरी और पार्टी बाजीसे आगे आए हुये नेता बनने वाले पार्टीबाजी से कार्य लेते हैं। वे मूर्खों को पंडित बनाकर खड़ा कर देते हैं। कई अवसरों पर ऐसा देखा गया है। जिन्हें वे सामने और आगे लाना चाहते हैं वे न संस्कृत, न कर्मकाण्ड न वेदज्ञान और न किसी विद्या में ही निपुण होते हैं। वे केवल लोगों की चापलूसी करके जीवित रहना चाहते हैं। जब कोई उनके कृत्यों की गलती दिखाता है तो अनुशासन के बहाने वा किसी बड़े विद्वान् के नाम से उनका नाम लेकर जान बचाते हैं। यही कारण है कि पौराणिक पने वाले यज्ञ भी आर्य समाज के लोग करते हैं। गायत्री महायज्ञ से कुछ लोग गूंगापन दूर करने का ढोंग भी करते हैं। मृतात्मा की शान्ति का भी यज्ञ किया करते हैं। यह अन्धकार तब तक दूर नहीं होगा जब तक आर्य समाज योग्य विद्वानों के हाथ में नहीं आता है। विद्वान् लोग इससे दूर होते जा रहे हैं और स्वार्थी, धूर्त, मूर्ख, राजनीतिक लिप्सु और पद लिप्सा एवं नेता बनने वाले आगे आने की होड़ में हैं।

यज्ञ का कार्य सम्पन्न कराने और योग्यतापूर्वक संपन्न कराने और शास्त्र की मर्यादा का पालन कराते हुये उसके रूप को समृद्ध कराने का कार्य महर्षि दयानन्द और उनकी वैदिक आर्ष पाठ विधि के भक्त माननीय स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी संस्थापक श्री शूर जी आर्य गुरुकुल एटा और उनके सहयोगी पंडित करते हैं। परन्तु उनसे यह डर इन ढोंगी नामधारी अयोग्य नेताओं को रहता है कि वे इनके माने हुये किसी मूर्ख को ब्रह्मा का स्थान नहीं देते। बम्बई में श्री सेठ प्रताप सिंह शूरजी वल्लभदास के द्वारा लाखों रुपये व्यय करके भारत के वैदिक पण्डितों द्वारा होने वाले चतुर्वेद पारायण यज्ञ के

अवसर पर दण्डी स्वामी और उनके पंडितों ने इसी दृढ़ता से कार्य लिया। इस समय उन पंक्तियों के लेखक ने 'ब्रह्मा' का कर्त्तव्य पूरा किया था। स्वामी जी और उनके पंडितों ने स्पष्ट कह दिया कि वे ब्रह्मा उसी विद्वान् को बनावेंगे जो भारत और उसके बाहर योग्यतम वैदिक विद्वान् है और शास्त्रज्ञ है और महर्षि का अनन्य भक्त और वेद की विद्याओं का महान् ज्ञाता है। चुनांचे ऐसा ही हुआ और उस यज्ञ की भव्यता की कहानी अमर है।

गोमेध का विचार करते समय मुझे शास्त्रों में इस प्रकार के यज्ञ मिले। लौगाक्षि गृह्यसूत्र की ७१वीं कण्डिका में 'गोयज्ञ' का वर्णन है। यह 'गोयज्ञ' ब्याई हुई गाय के स्वास्थ्य और पुनः सद्गर्भ ग्रहण निमित्त किया जाता है। यह बसन्त में सम्पन्न किया जाता है। ऐसा ही देवपाल टीकाकार ने लिखा है। इस यज्ञ में सीरायुंजन्ति० आदि आदि मन्त्रों का विनियोग है। ये मंत्र कृषि आदि से सम्बन्ध रखते हैं। इसी में 'सीतायज्ञ' जो कि खेती सम्बन्धी है उसके मंत्रों का भी विनियोग है। यह बहुत ही उपयोगी है। इस यज्ञ में निम्नलिखित मंत्रों से भिन्न-भिन्न कर्मों का संपादन किया जाता है :—

१. न ता अर्वा रेणुकाटो अश्नुते
२. सीरा युंजन्ति
३. पूषा युनक्त सविता
४. युनक्तु सीरा वियुगा तनोत
५. शुनं सुफाला वितुदन्तु भूमिम्
६. लांगलं पवीरवम्
७. घृतेन सीता मधुना समज्यताम्
८. विमुच्यध्वमध्न्या देवयानी:
९. त्रातारमिन्द्रम्
१०. उग्रो जज्ञे
११. उदुत्तमं मुमुग्धि
१२. उदुत्तमं वरुणपाशम्
१३. स वरत्रा दधातन
१४. हिरण्यकोशमवटम्
१५. प्रवां दंसास्याश्विना
१६. देवेभ्यो वनस्पते

१७. वनस्पते वीड्वङ्ग
१८. धन्वना गाः
१९. वक्ष्यन्ती वेदाः
२०. रात्री व्यख्यदायती
२१. उप ते गा इवाकरम्

इसके अतिरिक्त ताण्ड्य ब्राह्मण के १९वें अध्याय में १३वें खण्ड में 'गोसव' यज्ञ का वर्णन है। यहां पर लिखा है कि 'अथैष गोसवः स्वाराज्यो वा एष यज्ञः। यह गोसव कात्यायन श्रौतसूत्र २२।१२।१७ में भी वर्णित है। षड् एकाहों में 'गोः' नामी भी एक एकाह है। इसका वर्णन ताण्ड्य १६।२, कात्यायन श्रौतसूत्र २२।१।५ और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २२।१।६ में भी है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में २।७।७।१ में भी 'गोसव' का वर्णन है। इसी को पशुस्तोम भी कहा जाता है।

भैषज्ययज्ञ—ऋतुओं की सन्धि के समय में व्याधियों का प्रकोप होता है अतः इनके निवारणार्थ भी यज्ञ किये जाते हैं। ऐसे यज्ञों को भैषज्ययज्ञ कहा जाता है। गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्ध[1] १।१९ और कौषीतकी[2] ५।१ में यह लिखा है कि चातुर्मास्य आदि भैषज्य यज्ञ हैं और ये ऋतुओं की सन्धि में प्रयुक्त किये जाते हैं क्यों कि ऋतु-सन्धियों में व्याधि उत्पन्न होती है। दोनों ब्राह्मणों के वाक्यों का अर्थ एक ही है। शतपथ ब्राह्मण १।३।४।७[3] में लिखा है कि ऋतुएं समिद्ध होकर प्रजा को उत्पन्न करती हैं और औषधियों को पकाती हैं। इसलिये ऋतुओं की सन्धि में यज्ञ लाभकारी है।

प्रमाणसन्दर्भ

१—भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते ॥ गो. उ. १।१९
२—भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते ॥ कौषी० ५।१
३—ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति ओषधीश्च पचन्ति ॥ श० १।३।४।७

त्रयोदश प्रकरण

यज्ञरहस्यों के उद्घाटक ब्राह्मण ग्रन्थ

ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथादि ब्रह्म अर्थात् वेद के ब्रह्मादि ऋषियों द्वारा किये गए व्याख्यान हैं। जहां ये मन्त्र की व्याख्या करते हैं वहां ये एक विज्ञान हैं। जहां तक इनके विज्ञान होने का सम्बन्ध है ये यज्ञ के द्वारा विविध विज्ञानों को खोलते हैं। मन्त्रों में आये शब्दों, यज्ञ की विशेष क्रियाओं के रहस्य को खोलते हैं। यज्ञ में उसकी विशेष प्रशंसा और स्वरूपोक्ति से श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। निरुक्त-कार ने ठीक कहा है कि ब्राह्मण के द्वारा यज्ञों की रूपसमृद्धि आदि होती है। किस प्रकार ये रूपसमृद्धि करते हैं इसके क्रमशः कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

१—शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड मे दर्शपौर्णमास का वर्णन है। चूंकि दर्शपौर्णमास ही सब यज्ञों की प्रकृति हैं अतः इनका वर्णन किया जा रहा है। यजुर्वेद 'इषे त्वोर्ज्जे' से प्रारम्भ होता है, परन्तु शतपथ 'अथ व्रतमुपैष्यन्—अग्ने व्रतपते' से प्रारम्भ करता है। बिना व्रत लिये यज्ञ का अधिकारी नहीं होता अतः पहले यजमान का व्रती होना आवश्यक है। ऐसा क्यों? इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—अमानुष अर्थात् देव के समान हो जाता[1] है वह जो व्रत धारण करता है। पुनः ऐतरेय कहता है कि 'अव्रतो' की आहुति को देवलोग नहीं ग्रहण करते[2] हैं। अतः इससे यह ज्ञात है कि यज्ञ में दी गई आहुति को देव लोग ग्रहण करें इसलिए यजमान को व्रत रखकर देवत्व प्राप्त करके पुनः यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहिए, इसलिए 'अग्ने व्रतपते व्रतम्' मन्त्र से यजमान यज्ञ करने के पूर्व व्रत अर्थात् नियम को धारण करता है। वह व्रतधारण उसे मनुष्य से देव बनाता है। व्रत मन्त्र में क्या है—'अनृतात्सत्यमुपैमि' अर्थात् में अनृत से उठकर सत्य को प्राप्त होऊं। इस अनृतात्सत्यमुपैमि के रहस्य को खोलते हुए यज्ञवल्क्य शतपथ में कहते हैं कि सत्य ही देव है और अनृत मनुष्य[3]

है। इस प्रकार अनृत से सत्य को प्राप्त होने का अर्थ है कि अनृत अर्थात् मनुष्य से सत्य अर्थात् देवत्व को प्राप्त होऊं। इस प्रकार व्रत धारण करके यजमान मनुष्यत्व से उठकर देवत्व को प्राप्त हो जाता है और यज्ञ करने का अधिकारी बन जाता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि शतपथ ब्राह्मण ने जहाँ यज्ञ में व्रत धारण करने रूप कर्म की उपयोगिता और रहस्य को खोला वहाँ मन्त्र में आये अर्थ सत्य और अनृत के भाव को भी प्रकट कर दिया। इस प्रकार यज्ञ के रूप समृद्धि का यह स्वरूप उपस्थित किया।

२—यज्ञ में आचमन किया जाता है। आचमन जल से होता है। इसमें क्या रहस्य है—इस पर गोपथकार कहते हैं कि चूंकि जलों द्वारा ही पहले यज्ञ विस्तारित होता हुआ चालू होता है अतः सर्वप्रथम आचमनीय का ग्रहण किया जाता है।

३—यजमान जब व्रत धारण करके देव बन जाता है तब पुनः जब विसर्जन करता है तब यह नहो बोलता कि 'सत्यादनृतमुपैमि' अर्थात् मैं पुनः सत्य से अनृत को वापस होता हूं। क्यों कि यह बोलना ठीक नहीं। अतः वह विसर्जन के समय ऐसा बोलता है—इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि अर्थात् यह जो मैं हूं वही मैं हूं। यहाँ भी क्रिया और मन्त्र के रहस्य को याज्ञवल्क्य ने खोला है।

४—यजुर्वेद १।१५ में 'हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि' पद पड़े है। अतः यज्ञ की क्रिया में जहाँ हविष्कृत् अर्थात् वाणी का विसर्जन होता है वहां उसका आह्वान् भी होता है। हविष्कृत् वाणी का नाम है, अतः वाणी को आहूत किया जाता है। इस वाणी के पुकारने का प्रकार यह है—ब्राह्मण का 'एहि' क्षत्रिय का 'आद्रव' वैश्य का 'आगहि' और शूद्र का 'आधाव'। सो जो इसमें ब्राह्मण का आवाहन प्रकार है वही यहाँ पर बोला जाता है। यही सबसे अधिक उपयोगी है। यही वाणी का शान्तमय प्रकार है कि 'एहि' कहा जावे। अतः 'एहि' ऐसा ही करना चाहिए। यहां पर याज्ञवल्क्य ने पुनः रहस्य का भली प्रकार उद्घाटन किया है।

५—हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि—ऐसा पुकारने के पीछे एक क्रिया की जाती है जिसका नाम पात्राहनन है। अर्थात् एक ऋत्विज् उठ कर सिलबट्टे को शम्या से टकराकर शब्द उत्पन्न करता है। इस

क्रिया के रहस्य को खोलने के लिए याज्ञवल्क्य ने एक गाथा दी है जो इस प्रकार है :—

मनु के एक ऋषभ था। उसमें असुरों को नष्ट करने वाली और शत्रुओं का नाश करने वाली वाणी प्रविष्ट थी। असुर लोग उसके रव को सुनकर व्याकुल होकर भागते थे। सोचने लगे कि किसी प्रकार इससे बचें। असुरों के पुरोहित थे दो जिनका नाम किलाता-कुली था। किलात आकुली ने कहा कि कोई चिन्ता की बात नहीं, मनु तो श्रद्धा का देव भोलानाथ है। वे मनु के पास गये और कहा कि आपके निमित्त यज्ञ करेंगे। मनु ने कहा किससे, उत्तर मिला कि ऋषभ से। ऐसा ही हो—कह कर मनु ने माना। असुरों के उसके समीप जाने से वह वाणी मनु की स्त्री मनावी में प्रविष्ट हो गई। उसकी आवाज से असुर लोग फिर परेशान हुए और किलात आकुली मनु से बोले कि हम आपके लिए यज्ञ करना चाहते हैं। मनु ने कहा किससे, उत्तर मिला—मनावी से। ऐसा ही हो कह कर मनु ने स्वीकार किया। मनावी के पास जाते ही वह वाणी उसमें से निकल कर यज्ञ और यज्ञपात्रों में प्रविष्ट हो गई। इसलिए इसे असुर लोग अब नहीं समाप्त कर सके। असुर का यज्ञ से विरोध है और यज्ञ उनका नाशक है। इसलिए सिलबट्टे को शम्या से टकरा कर ऋत्विज् जो पाक प्रत्युद्वादन करता है वह उसी वाणी को प्रत्युद्वादित करता है।

मनु वस्तुतः मन है। ऋषभ अर्थ से बैल का तात्पर्य नहीं अपितु धर्म का तात्पर्य है। मनावी बुद्धि है। धर्ममयी भावना पहले धर्म में थी जो शब्द और अर्थ तथा विचार में था। वह बुद्धि में आया और पुनः वह यज्ञ में प्रविष्ट हो गई। अर्थात् यज्ञ कर्मों के करने में ही सच्चे धर्म का पालन है। इसी बात को प्रत्युद्वादन के द्वारा प्रकट किया जाता है। यहां पर आख्यायिका से इस क्रिया के रहस्य को खोला गया है।

६—अष्टकपालों को संस्थापित करके पुरोडाश पकाने की विधि पूर्ण करने के लिए अङ्गारों का अभ्यूहन अर्थात् समूहन किया जाता है। ये अष्टकपाल जिस क्रम से बैठाये जाते हैं उनका वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि अष्टकपालों में तीन ऐसे हैं जो ध्रुव, धरुण और धर्त्र है। यजुर्वेद के मंत्रों में ये तीनों ही पद आए हैं। ये लोकों

के लिए हैं। परन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जितने यहाँ पर कपाल हैं पुरुष के भी उतने ही कपाल हैं। पुरुष का मस्तिष्क जो है वही पुरुष कपालों में पिष्ट है। जैसा कि पुरोडाश पकाने के कपालों में पिष्ट होता है। इस प्रकार इस यज्ञ क्रिया से याज्ञवल्क्य यह बतला देना चाहता है कि पुरुष के शिर में भी तीन मुख्य कपाल हैं जो लघु मस्तिष्क, दीर्घ मस्तिष्क और मेरु-दण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं।

७—ऋग्वेद में ओषधिसूक्त में एक प्रसिद्ध मंत्र है—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा। मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥

इस मंत्र से अग्निचयन में क्षेत्र में विभिन्न ग्राम्य और आरण्य ओषधियों से वपन किया जाता है। अथवा यज्ञ में दीक्षितों को ज्वर आदि आ जावे तो इन ओषधियों द्वारा निवारण किया जाता है। महीधर आदि के अनुसार सीतायज्ञ में वेदिक्षेत्र में ये ओषधियां बोई जाती हैं। मंत्र में बहुत स्पष्ट शब्द 'शतं धामानि सप्त च' और 'बभ्रूणाम्' पड़े हैं। प्रयोक्ता ऋत्विग् यह कहता है कि मैं इन ओषधियों के जो कि भूरे रंग के पत्तों वाली हैं १०७ नाम, १०७ प्रयोग स्थान और उत्पत्ति स्थानों को जानता हूं। ये १०७ ओषधियां कौन सी हैं किसी भी याज्ञिक को ज्ञात नहीं। फिर ये इनका विनियोग किस प्रकार करते हैं—यह पता नहीं। यह केवल शब्दों में शेष है—विधि का किसी को पता नहीं है। यज्ञ में यदि क्षेत्र में ये वपन की जाती है तो क्षेत्र कौन सा होगा। वेदी ही क्षेत्र हो सकती है। खेत में जाकर तो १०७ औषधियें नहीं लगायी जा सकेंगी। वेदी भी तब क्षेत्र बनेगी जब १०७ स्थान उसमें इनके लिये बने हुए हों। फिर वेदी का भी क्या आकार हो? आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि की तीनों वेदियां जो गोल, अर्ध चन्द्राकार और सम चतुष्कोण हैं एकत्र बनाई जावें तो वेदि पुरुष के आकार की बन जाती है। पुरुष यदि दीक्षित होकर ज्वर आदि से पीड़ित हो गया तब भी तो शरीराकार ही है। गोल कुण्ड सर है। अर्ध गोल चन्द्राकार उसके बाद का अंग और समचतुष्कोण तदनन्तर का शरीर भाग है। इस प्रकार इन वेदियों से एक उत्तान लेटा हुआ शरीर सा बन जाता है। उनमें एक सौ सात स्थानों पर इस मंत्र से १०७ ओषधियां प्रयुक्त की जाती हैं। पुरुष शतायु है और सप्त शीर्षन् प्राण है अतः इन्हें ही लोगों ने समझ

रखा है। परन्तु शतायु और सप्तप्राणो से इन १०७ का प्रयोग क्या सम्बन्ध रखता है कुछ भी ज्ञात नहीं। ज्वरादि १०७ ओषधियों से किस प्रकार शान्त होंगे जब नाम और प्रयोग के स्थान ही ठीक ज्ञात नहीं हैं। रहस्य ज्यों का त्यों बिना उद्घटित किए ही रह जाता है। निरुक्तकार ने इस मंत्र की व्याख्या दैवतकाण्ड में की है। वहाँ पर वह 'बभ्रूणाम्' का अर्थ करते हुए 'बभ्रुवर्णानाम्' का प्रयोग करता है। इससे ज्ञात होता है कि ये भूरे पत्ते वाली होती हैं। ये १०७ हैं और इनके १०७ प्रयोग के स्थान हैं। धाम का अर्थ नाम, जन्म और स्थान है। विनियोग का पूंछ पकड़ने वालों से तो कुछ पता नहीं लगता है। परन्तु वेदि पुरुषाकार हो अथवा दीक्षित के रोग का उपचार हो १०७ प्रयोग के स्थान और १०७ ओषधियों के नाम और जाति का महत्त्व है।

वाजसनेय ब्राह्मण में इस मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार किया गया है—

'पुरा' ऐसा कहने से यह कहा जा रहा है कि ऋतुवें देव हैं और ये औषधियां तीन ऋतुवों अर्थात् वसन्त, प्रावृट् और शरद में उत्पन्न होती हैं। बभ्रु सोम है। ये ओषधियाँ सोम्य हैं। पुरुष शतायु और शतवीर्य है। सप्त शीर्षन प्राणों का यह वर्णन है। इत्यादि। सप्त शीर्षन् प्राणों की विस्तृत व्याख्या शतपथ अध्याय १२ में की गई है। इससे इतना तो संकेत मिल जाता है कि ये १०७ स्थान ओषधियों के प्रयोग के पुरुष में ही है।

परन्तु अभी भी बात स्पष्ट नहीं हो पा रही है। सुश्रुत शरीर स्थान के छठें अध्याय में पुरुष के शरीर में १०७ मर्म स्थानों का वर्णन है। ये एक सौ सात मर्मस्थान ही हैं जिनमें चोट रोग आदि शीघ्र प्रभाव पहुंचाते हैं। यदि इनके इलाज का ज्ञान हो जावे तो रोगों की उत्पत्ति का प्रश्न ही निपट जावे। इन १०७ मर्मस्थानों पर एक सौ सात ओषधियां प्रयुक्त की जाती हैं। यह कार्य पुरुषाकार वेदि पर १०७ स्थानों की कल्पना करके किया जाता है। वे १०७ स्थान पुरुष में कहाँ पर हैं याज्ञिक लोग इसका ज्ञान रखते थे। सुश्रुत में स्पष्ट लिखा है 'सप्तोत्तर मर्मशतं भवति' अर्थात् १०७ मर्मस्थान होते हैं। सुश्रुत में इनके नाम आदि सब गिनाए गये हैं। यज्ञ की प्रक्रिया का ज्ञान लुप्त होने से इन १०७ ओषधियों के नाम ज्ञात नहीं

यदि इनका परिज्ञान हो जावे तो मानव का महान् कल्याण हो। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार वेद मंत्रों के शब्दों और क्रियाओं के अनेकों रहस्य खोले गये हैं जो विज्ञान पूर्ण हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ विज्ञान की गुत्थियां इन यज्ञ की क्रियाओं के द्वारा सुलझाते हैं। यज्ञ और विज्ञान के प्रकरण में इस पर विचार किया जायेगा।

प्रमाणसन्दर्भ

१—अमानुष इव वा एतद्भवति यद्व्रतमुपैति । श० १।६।३।२३
२—न ह वा अव्रतस्य देवा हविरदन्ति ॥ ऐ० ७।११ कौ. ३।१
३—सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । श० १।१।१।४; १।१।२।२७
४—अद्भिर्यज्ञः प्रणीयमानः प्राङ् तायते तस्मादाचमनीयं पूर्वमाहारयति—गो० पू० १।३९

चतुर्दश प्रकरण

यज्ञपद और विविध विज्ञान

वेदों में यज्ञ पद से विविध विज्ञानों का ग्रहण होता है। इस प्रकरण में इस पर प्रकाश डाला जावेगा। वेद में प्रयुक्त यज्ञ पद का ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसी भावना से विविधार्थ दिखलाया है। शतपथ गोपथ एवं ऐतरेय आदि ब्राह्मणों में यज्ञ पद के नीचे लिखे अर्थ मिलते हैं :—

यज्ञ, नमस्, भुज्युः, भग, गतु, महान् देव, अर्यमा, तार्क्ष्य, वसु, विदद्वसु, संयद्वसु, सुतर्मा, सूर्म्य, सुम्न, श्रेष्ठतम कर्म, विट्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, विष्णु, शिपिविष्ट विष्णु, अग्नि, वाक्, वायु, संवत्सर, सविता, आदित्य, यजमान, आत्मा, पुरुष, भुवन, अन्न, आप्, विराट्, आहुति, और स्वर्लोक।

इसी प्रकार यजुर्वेद के १८वें अध्याय के १-२७ मंत्रों में आये यज्ञ पदों से विविध विज्ञानों का ग्रहण होता है। इस अध्याय के इन २७ मन्त्रों में प्रत्येक के अन्त में "यज्ञेन कल्पन्ताम्, अर्थात् 'यज्ञ से सिद्ध हों' लिखा मिलता है। इस यज्ञ पद से यहां पर किस प्रकार विविध विद्याओं का ग्रहण होना है इसका उल्लेख उन मंत्रों के अर्थ को क्रमशः देकर दिखाया जाता है :—

१. मंत्र—धन, ऐश्वर्य, प्रयत्न, प्रबन्ध क्रिया, धारण शक्ति, क्रतु=श्रेष्ठ बुद्धि वा कर्म, स्वातन्त्र्य, काव्यमयी वाणी, यश, विद्याओं को श्रवण करने की प्रवृत्ति, ज्ञान तथा सुख मुझे यज्ञ से सिद्ध हो। **यहां पर यज्ञ पद' का अर्थ विविध व्यवहारों और विज्ञानों में निपुणता है।**

२—प्राण, अपान, व्यान, असु, चित्त, आधीत, वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र, तेज और बल मुझे यज्ञ से प्राप्त हो। यहां पर यज्ञ पद आहार विहार खान-पान, शरीर सम्बन्धी, विज्ञानों के अर्थ में प्रयुक्त हैं।

३—ओज, सह, आत्मा, तनु, शर्म, वर्म, अङ्ग, अस्थियां, पर

शरीरावयव, आयु और शारीरिक परिपक्वता मुझे यज्ञ से सिद्ध हो। यहां पर शरीर विज्ञान तथा आयुर्वेद आदि विज्ञानों के लिए यज्ञपद का प्रयोग है।

४—श्रेष्ठता, आधिपत्य, मन्यु, भाम, न्याय से प्राप्त आप अन्न आदि, विजय, महत्ता, वरिष्ठता, विस्तार परिपक्वता, और वृद्धि मुझे यज्ञ से सिद्ध हों। यहां पर राजव्यवहार आदि अर्थों में यज्ञ का प्रयोग है।

५—सत्य, श्रद्धा, जगत्, धन, विश्व, महः, क्रीडा, मोद, जात, जनिष्यमाण, सूक्त और सुकृत मुझे यज्ञ से प्राप्त हों।, यहां पर धर्म-नियम, अध्यात्मदर्शन आदि के अर्थ में यज्ञ पद का प्रयोग है।

६—ऋत, अमृत, नीरोगता, यक्ष्मा आदि का न होना, जीवन-शक्ति, दीर्घायुत्व, अनमित्रता, अभय, सुख, शयन, सूषा और सुदिन मुझे यज्ञ से सिद्ध हो। यहां पर यज्ञ पद विविध वैज्ञानिक व्यवहारों के लिए प्रयुक्त है।

७—यन्ता=नियामक, धर्त्ता, क्षेम, धृति, विश्व, महस्, संवित्, ज्ञात्रं, सूः, प्रसूः, कृषि की दक्षता और एकाग्रता मुझे यज्ञ से सिद्ध हो। यहां पर उत्तम व्यवहार, मनोविज्ञान और कृषिविद्या के लिए यज्ञ पद का प्रयोग है।

८—सुख, भय, प्रिय, अनुकाम, काम, सौमनस, ऐश्वर्य, द्रविण, भद्र, श्रेयस्, वशता और यश मुझे यज्ञ से सिद्ध हो। यहां योग आदि की विविध क्रियाओं के अर्थ में यज्ञ पद का प्रयोग है।

९—ऊर्क, सूनृता, पय, रस, घी, मधु, सुन्दर भोजन, उत्तमपेय, कृषि, वृष्टि, विजय और वनस्पति संपत्ति मुझे यज्ञ से सिद्ध हो। यहां पर यज्ञ पद पाक व्यवहार, वनस्पतिविज्ञान आदि अर्थों में प्रयुक्त है।

१०—मुझे यज्ञसे सिद्ध हो—रयि, राय, पुष्ट, पुष्टि, विभु, प्रभु, पूर्ण, पूर्णतर, उत्तम अन्न, अक्षित, अन्न और क्षुधा की तृप्ति। यहां पर भी विविध व्यापारिक आदि व्यवहारों के अर्थ में यज्ञ पद का प्रयोग है।

११—ज्ञात, ज्ञेय, भूत, भविष्यत्, सुग, सुपथ्य, ऋद्ध, ऋद्धि, क्लृप्त, क्लृप्ति, मति और सुमति मुझे यज्ञ से सिद्ध हों। यहां पर यज्ञ पद दर्शनविज्ञान, मनोविज्ञान आदि अर्थों में प्रयुक्त है।

१२—धान, यव, उड़द, तिल, मूंग, चने, काकुन, अणु=सूक्ष्म चावलें आदि सावां, मकरा आदि छोटे अन्न, नीवार=साठी अथवा तीनी, गेहूं और मसूर आदि यज्ञ से सिद्ध हो। यहां पर यज्ञ पद कृषि विज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त है।

१३—मुझे यज्ञ से प्राप्त हो—अश्मा, मृत्तिका, गिरि, पर्वत, सिकता, वनस्पतियां, हिरण्य, अयस्, श्याम=चन्द्रकान्तमणि, लोहा, सीसा और जस्ता। यहां पर यज्ञ पद खनिज विद्या और धातुविज्ञान आदि के लिए प्रयुक्त है।

१४—अग्नि, आप्, वीरुध्, ओषधियां, जुते खेतों से पके अन्न, बिना जुती हुई जमीन से उत्पन्न अन्न, ग्राम्य पशु, आरण्य पशु, प्राप्त, प्राप्ति प्राणी और पदार्थ तथा ऐश्वर्य यज्ञ से मुझे प्राप्त हों। यहां पर यज्ञ पद अग्निविद्या, वनस्पतिविद्या, पशुविज्ञान, कृषि-विज्ञान आदि अर्थों में प्रयुक्त है।

विविध वस्तु, निवास, कर्म, शक्ति, अर्थ, यत्न, विविध व्यवहार और गति मुझे यज्ञ से सिद्ध हों। यहां पर यज्ञ पद विविध उपयोगी कर्म और व्यवहारों के अर्थ में प्रयुक्त है।

१६—मुझे यज्ञ से सिद्ध हो ज्ञान—अग्नि का, इन्द्र का, सोम का, सविता का, सरस्वती का, पूषा का और बृहस्पति का। यहां यज्ञ पद का अर्थ भौतिकी आदि विज्ञान से है।

१७—मुझे जानकारी मिले यज्ञ से मित्र—उदानवायु, वरुण=प्राण वायु, धाता, त्वष्टा, मरुत् और समस्त दिव्य पदार्थों एवं शक्तियों की। यहां यज्ञ पद भौतिकी और रसायन विज्ञान आदि के लिए प्रयुक्त है।

१८—यज्ञ से ज्ञात हो—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, वर्ष, नक्षत्र और दिशायें। यहां पर नक्षत्रविज्ञान, खगोल आदि विज्ञानों का यज्ञ पद से ग्रहण है।

१९—यज्ञ से ज्ञान हो—अंशु, रश्मि, अदाभ्य, अधिपति, उपांशु, अन्तर्याम, ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, अश्विन व्याहार और प्रतिप्रस्थान और शुक्र यहां पर विज्ञान के लिए यज्ञपद का प्रयोग है।

२०—यज्ञ से सिद्ध हो—आग्रायण, वैश्वदेव, अटल व्यवहार, वैश्वानर, ऐन्द्र, महावैश्वदेव, मरुत्वतीय, निष्केवल्य, सावित्र, सार-

स्वत, पात्नीवत और हारियोजन। यहां यज्ञप्रक्रिया और उसके विज्ञान के अर्थ में यज्ञपद प्रयुक्त है।

२१—यज्ञ से ज्ञात हो—स्रुच्, चमस, वायव्य, द्रोणकलश, ग्रावा, अधिषवण, पूतभृत्, आधवनीय, वेदि, बर्हि, अवभृथ और स्वगाकार। यहाँ पर यज्ञविज्ञान के अर्थ में यज्ञपद का प्रयोग है।

२२—अग्नि, घर्म, अर्क, सूर्य, प्राण, अश्वमेध, पृथिवी, अदिति, दिति, द्यौः, अंगुलियां, शक्वरियें और दिशायें यज्ञ से ज्ञात हों। यहाँ पर भी विविध विज्ञानों के अर्थ में यज्ञ पद का प्रयोग है।

२३—व्रत, ऋतुएं, तप, सम्वत्सर, अहोरात्र, ऊर्वष्ठीव और वृहद्रथन्तर यज्ञ से ज्ञात हों। यहां पर यज्ञ पद धर्मविज्ञान आदि विज्ञानों के लिए प्रयुक्त है।

२४—मुझे ज्ञान प्राप्त हो यज्ञ से—एक, तीन-तीन, पांच-पांच, सात-सात, नव-नव, एकादश-एकादश, त्रयोदश-त्रयोदश, पन्द्रह-पन्द्रह, सत्तरह-सत्तरह, उन्नीस-उन्नीस, इक्कीस-इक्कीस, तेईस-तेईस, पच्चीस-पच्चीस, सत्ताईस-सत्ताईस, ऊनत्तीस-उनत्तीस, इकत्तीस-इकत्तीस और तैंतीस-तैंतीस आदि संख्याओं का और उनके गणित प्रकारों का। यहां पर गणित विद्या के अर्थ में यज्ञ पद का प्रयोग है।

२५—मुझे ज्ञान प्राप्त हो यज्ञ से—चार, आठ आठ, बारह बारह, सोलह सोलह, बीस बीस, चौबीस चौबीस, अट्ठाईस अट्ठाईस, बत्तीस बत्तीस, छत्तीस छत्तीस, चालीस चालीस, चौवालीस चौवालीस और अड़तालीस अड़तालीस आदि का। यहां पर गणित विज्ञान के लिए यज्ञ पद का प्रयोग है। किस प्रकार इन दो मन्त्रों में गणित विज्ञान का प्रयोग है, इस विषय के विस्तार को मेरी प्रसिद्ध पुस्तक 'साइंसेज इन द वेदाज' में देखें।

२६—मुझे यज्ञ से प्राप्त हो—तीन प्रकार की भेड़ों का वाला व्यक्ति, तीन प्रकार की भेड़ों वाली स्त्री, गाय वाला और गाय वाली, पांच प्रकार को भेड़ों वाला और पांच प्रकार की भेड़ों वाली, तीन बछड़े वाला और तीन बछड़े वाली तथा चौथे वर्ष को प्राप्त बैल और चौथे वर्ष को प्राप्त गौ। यहां पर पशुपालन आदि व्यवहारों के लिए यज्ञ पद का प्रयोग है।

२७—प्राप्त हो यज्ञ से—पीठ से भार उठाने वाले घोड़े आदि और घोड़ी आदि, साँड, शक्तिशाली बैल, गाय, धेनु और अनड्वान्।

यहां भी पशुविज्ञान और पशुपालन-विज्ञान के अर्थ में यज्ञ पद का प्रयोग है।

प्रसंगतः यहां पर दो यज्ञ की प्रक्रियावों का उल्लेख करके पुनः इस विषय पर आगे बढ़ा जावेगा। इनमें से प्रथम विधि है 'महावीर-पात्र' का निर्माण। महावीर पात्र मिट्टी का बनाया जाता है। वह भी बहुत चिकनी और सारभूत मिट्टी का। वह मिट्टी है बल्मीकि अर्थात् सफेद चीटियों द्वारा ऊपर को उठाई गई मिट्टी। यह पात्र मेखला वाला भी होता है और आकार कुछ कछुए से मिलता सा होता है। इसमें घी भरकर पूर्णाहुति के समय सहस्रधार की क्रिया में यह ऊपर को टांगा जाता है जिससे पूर्णाहुति हो जाने पर भी घी कुण्ड में पड़े हुये आहुति आदि पदार्थ पर पड़ता रहे और वह पूर्णतया जल जावे। इस पात्र में सैकड़ों सहस्रों छिद्र होते हैं। इन छिद्रों से घी कुण्ड के मध्य में गिरता रहता है। इन्हीं छिद्रों से धारा-बद्ध घी गिरता है अतः यही शतधार और सहस्रधार है।

इस पात्र की रचना का वर्णन शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र में पाया जाता है। शतपथ में तो बड़े विस्तार से इसके निर्माण का प्रश्न है। वहां पर लिखा है कि यदि यह काष्ठ का बनाया जावे तो जल जावे। यदि लोहे आदि धातुओं का बनाया जावे तो पिघल जावे। इसलिए मिट्टी का ही बनाया जावे। मिट्टी को भी बहुत पोषा जाता है। पात्र तैयार हो जाने पर अजाक्षीर आदि से उसे पोषा जाता है कि वह मजबूत रहे। यह पात्र घोड़े की लेंड़ी आदि में बनने के बाद पकाया जाता है। इसी विषय में 'अश्वस्य त्वा शकला धूपयानि देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे०' आदि यजुर्वेद ३७।९ मंत्र विनियुक्त है। यह महावीरपात्र के बनाने आदि का वैनियोगिक अर्थ है। परन्तु ऋषि दयानन्द ने इसका अर्थ किया है कि 'हे विद्वान् तुझे घोड़े की लीद से तपाता हूं, यहाँ पर साधारण व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार उपहास करते पाये जाते हैं। परन्तु यह समझना चाहिये कि रोग तो वीर, विद्वान् और महावीर सभी को होता है। यदि कोई अर्श अर्थात् बवासीर आदि के रोग से पीड़ित है तो उसे इस अश्व की लेंड़ी आदि का धुंआ अर्श के स्थान पर दिया जाता है। चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों में यह विधि एवं उपचार बताया गया है। इस प्रकार विशिष्ट अर्थों का उन्नयन यज्ञपद और उसकी क्रियावों आदि से होता है।

इसी प्रकार यज्ञ में वेदी के निर्माण में इष्टका—चयन होता है। यह इष्टका—चयन क्या है ? ईंटों का चयन है। कितनी ईंटे यज्ञ की वेदी में आकार के परिमाण से लगाई जावें, इसका नाम इष्टका—चयन रखा गया है। इष्टका ईंट का साधारणतया संस्कृत नाम है। परन्तु वेद के शब्द यौगिक होते हैं। इस यौगिकता को लेकर और यज्ञ की क्रिया के विधान के भाव को लेकर शतपथ ब्राह्मण ६।१।२।२२; ६।३।१।२; ६।२।१।१०; तथा ६।१।२।२३ में क्रमशः निम्न व्याख्या की गई है :—

१—सो यह इष्ट से हुई इसलिये यह इष्टका है।

२—यजमान वा यज्ञकर्त्ता ने यज्ञ करके इसे देखा अतः यह इष्टका है।

३—सो उसने यज्ञ करके पशु के साथ देखा इसलिए इष्टका है।

४—सो इसके लिए जो यज्ञ किया जाता है उससे सुख, समृद्धि वा इष्ट होता है इसलिये यह इष्टका है।

यहां पर इष्ट पद का अर्थ मिट्टी का लोंदा भी हो सकता है परन्तु उसके गाम्भीर्य को लेकर 'इष्ट' का वास्तविक अर्थ अभीप्सित भी लिया गया है। यज्ञ इष्ट की सिद्धि के लिए किया जाता है। इष्टका इसकी पूर्ति में साधन है अतः उसका नाम भी सार्थक है। इस इष्टका चयन का यजुर्वेद का निम्न मंत्र वर्णन करता है :—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं च नियुतं नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं न्यर्बुदं समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रा लोके ॥ यजुर्वेद १७।२

इस मंत्र में इष्टकाचयन के प्रसंग में ईंटों की गणना के विषय को लेकर इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, दस हजार, लाख आदि का परिगणन करते हुए अन्त तक की संख्याओं का वर्णन किया है। यह लगभग २० शून्य तक के अंकों की संख्याओं का वर्णन वस्तुतः अङ्कगणित के महान् विस्तार को बताता है। यहाँ पर बीस अदद तक की संख्यायें बन सकती हैं।

इसके अतिरिक्त 'अमुत्रा लोके' कहकर यह भावना भी व्यक्त कर दी गई है कि यह यज्ञ केवल इसी लोक में सुख देने वाला है ऐसा नहीं है। यह दूसरे जीवन में भी फल देता है। अतः यज्ञकर्म का फल

दूसरे जीवन में भी मिला करता है। यज्ञकर्म के जो अदृष्ट बनते हैं वे अगले जीवन में फलीभूत होते हैं। जब यह सिद्धान्त है कि सभी अच्छे बुरे कर्मों का अच्छा बुरा फल मिलता है तो यह यज्ञ भी तो एक कर्म है। तथा अच्छा और उत्तम कर्म है। इसका फल क्यों नहीं मिलेगा। यहाँ इष्टका को 'धेनवः' की उपमा दिया जाना ठीक ही है। जिस प्रकार धेनु दूध देती है वैसे ही ये यज्ञ की इष्टकायें इष्ट की पूर्ति में साधन बन सुख की वर्षा करेंगी।

यज्ञ में डाले गये पदार्थों के सारभूत तत्त्व का जहां आठों दिशाओं में फैलने और इस लोक में सुख देने का वर्णन यजुर्वेद ८।६२ वें मंत्र में वर्णित है। वहां पर इस मंत्र में अमुत्र लोक में होने वाले फल का भी वर्णन है।

ऋग्वेद १०म मण्डल का १३० वां सूक्त यज्ञ द्वारा सृष्टिरचना का वर्णन करता है। यज्ञ की प्रक्रिया इस प्रकार इस सृष्टिविज्ञान की उन्नायिका है। एक मंत्र जो ऋग्वेद के उक्त मण्डल और सूक्त में है यजुर्वेद ३४।४९ में भी उपलब्ध है। यहाँ पर वह उद्धृत किया जाता है।

सहस्तोमा सहच्छन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः। पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥ यजुः ३४।४९॥

इस मंत्र में सृष्टिप्रक्रिया के कारण भूत सात प्राकृतिक तत्त्वों का वर्णन है जिन्हें 'दैव्य ऋषि' कहा गया है। दैव्य ये इसलिए है कि देवी अदिति=प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। अदिति के भी सात पुत्र माने जाते हैं। प्रकृति अदिति है अतः उसके सात पुत्र आदित्य प्रकृति की सात प्रकृति-विकृतियाँ हैं। ये ही सप्त प्रकृति-विकृतियां सप्त दैव्य ऋषि भी हैं। ऋषि शब्द भौतिक प्राकृतिक पदार्थों के लिए भी प्रयुक्त होता है। परन्तु प्रक्रिया और शैली का भेद करके वर्णन किया जाता है। अतः ये भेद वाले प्रतीत होते हैं। ऋषि सात माने जाते हैं। सप्तर्षिमण्डल सात तारों का भी होता है। अतः ज्योतिष में ये सात तारे हैं। शरीर में सात प्राण कार्य करते हैं और सप्त बौद्धिक इन्द्रियाँ आदि हैं उन्हें भी सप्तऋषि कहा जाता है। इसी प्रकार भौतिक संसार में भी सप्त प्रकृति विकृतियों को सप्त ऋषि कहा जाता है। ये सप्तऋषि नाम से तो ऐतिहासिक सप्तर्षि ज्ञात होते हैं परन्तु

ऐसा है नहीं। वेदों में इन्हीं ऋषियों से भौतिक पदार्थों और इन्द्रियों आदि का भी ग्रहण है। ये सप्तऋषि हैं—भरद्वाज, कश्यप, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि पौर वसिष्ठ। वेदों में ये सभी भौतिक पदार्थों के अर्थ में भी प्रयुक्त हैं और चेतन पदार्थों के अर्थ में भी। परन्तु ये कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। देखें इसके लिये मेरी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैदिक-इतिहास-विमर्श'। इस प्रकार सप्त प्रकृति-विकृतियां ही ये सप्तऋषि हैं।

ये सप्त प्रकृति-विकृतियां जगत् की रचनारूपी भगवान् के यज्ञ को आगे ले चलती हैं। इनके लिए जहां ऋषि की पदवी दी गई है वहां ये सहस्तोम=अपनी परिभाषाओं से युक्त, 'सहच्छन्दस' गुणों आदि से युक्त, परमेश्वर के ज्ञान से सहावृत और सहप्रमा अर्थात् समस्त शक्तियों सहित कही गई हैं। इनको दिये गये विशेषण बहुत ही सार्थक हैं। ये धीर कही गई हैं क्योंकि ये जहां विकार है और विकार को प्राप्त होती हैं वहाँ कारण रूप होने से कार्य में अपनी स्थिति को कायम भी रखती हैं। ये पूर्व सृष्टि के पदार्थों के मार्ग का अनुसरण कर कार्यात्मक जगत् को उत्पन्न करती हैं। इससे कार्य-कारण का सम्बन्ध और सृष्टि की प्रवाहानादिता का बोध होता है। इस प्रकार 'सृष्टि' का सर्जन इन सात से होता है। भगवान् इस यज्ञ का कर्त्ता है और वही जगत् की रचना करता है।

अग्नि का यज्ञ से विशेष सम्बन्ध है। बिना अग्नि के यज्ञ होता नहीं जिसमें हवि आदि दी जाती हो। अग्नि के विषय में शतपथ ७।१।२।४ में लिखा है कि देव शक्तियाँ अग्नि के द्वारा वा अग्नि के मुख से अन्न को खाती हैं और कौषीतकी ३।६ में लिखा है कि अग्नि देवों का मुख है। जब यजुर्वेद के मंत्रों में बोला जाता है कि 'स्वर्णधर्मः स्वाहा, स्वर्णार्कः स्वाहा' तब इस अग्नि का ही यह नाम बोला जाता है। शतपथ ६।४।२।२५ में लिखा है कि धर्म, अर्क, शुक्र, ज्योति और सूर्य—ये अग्नि के ही नाम हैं। अग्नि, इन्द्र और विष्णु का यज्ञ से बहुत बड़ा सम्बन्ध है। यज्ञ में अग्नि का विज्ञान विशेष अपेक्षित है। यज्ञ की इस वैज्ञानिक विशेषता का यजुर्वेद २९।२६ मंत्र सइ प्रकार वर्णन करता है। पहले मंत्र और पश्चात् उसका अर्थ दिया जाता है।

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः। अस्य

होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः। यजुर्वेद २९।३६।

सृष्टि में पदा होते ही अग्नि यज्ञ को सिद्ध करता है। वही इस यज्ञ में देवों का अग्रगण्य होता है। इस सत्यभूत अदनशील अग्नि के मुख में स्वाहा कहकर डाली गई हवि को अन्य यज्ञदेव ग्रहण करते हैं।

यज्ञ को विष्णु कहा गया है। उसका विक्रमण वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण ६।१५ में बताया गया है कि विष्णु का विक्रमण इन समस्त लोकों, वेद और वाणी में होता है। ये लोक ही विष्णु के क्रम हैं। समस्त लोक विष्णु के क्रम हैं। यजुर्वेद में विष्णु के क्रमों का उल्लेख है। विष्णु का अर्थ यदि पूर्णतया विचारा जावे तो बहुत से विज्ञानों की बात स्वयं समक्ष उपस्थित हो जाती है। विष्णु समस्त लोकों को किस प्रकार मापता है—यह भी एक गूढ़ विषय है। यह दर्शन, विज्ञान और गणित की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। मैंने इसका वर्णन अपनी पुस्तक 'साइंसेज इन द वेदाज' में किया है।

यज्ञ शब्द अनेक क्रियाओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसकी प्रक्रियाओं से अनेक ज्ञान-विज्ञान जाने जाते हैं। इसी बात को दिखाने के लिए यह प्रकरण चालू किया गया था। ऊपर के वर्णन से वह सुतराम सिद्ध है।

प्रमाणसन्दर्भ

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। १८।१

प्राणश्च मे ऽपानश्च मे व्यानश्च मे ऽसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२॥

ओजश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मे ऽङ्गानि च मे परूंषि च मे शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥३॥

ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥४॥

सत्य च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीड़ा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥५॥

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयञ्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥६॥

यन्ता च मे धर्त्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥७॥

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥८॥

ऊर्क च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसाश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मे औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥९॥

रयिश्च मे रायश्च मे पष्टं च मे पुष्टिश्चमे विभु च मे प्रभु च मे पूर्ण च मे पूर्णतरं च मे कुयवं च मेऽक्षितं च मेऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१०॥

वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच्च सुगं च मे सुपथ्यं च म ऋद्धं च म ऋद्धिदश्च मे क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥११॥

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च में मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१२॥

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपुश्च च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१३॥

अग्निश्च मे आपश्च मे वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्चमे पशव आरण्याश्च मे वित्तं च मे वित्तिश्च मे भूतंच मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१४।

वसु च मे वसतिश्च मे शक्तिश्च मेऽर्थ च म एमश्च म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१५॥

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च में सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१६॥

मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१७॥

पृथिवी च म इन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे द्यौश्च म इन्द्रश्च मे समाश्च म इन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१८॥

अꣳशुश्च मे रश्मिश्च मेऽदाभ्यश्च मेऽधिपतिश्च म उपाꣳशुश्च मेऽन्तर्यामश्च म ऐन्द्रवायवश्च मे मैत्रावरुणश्च म आश्विनश्च मे प्रतिप्रस्थानश्च मे शुक्रश्च मे मन्थी च म यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१९॥

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्चमे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च म ऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२०॥

स्रुवश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणं च मे पूतभृच्च म आधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२१॥

अग्निश्च मे धर्मश्च मेऽर्कश्च मे सूर्यश्च मेऽश्वमेधश्च मे पृथिवी च मेऽदितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मेऽङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२२॥

व्रतं च म ऋतवश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२३॥

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्चच मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽएकादश च मऽएकादश च मे

त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽएकविꣳशतिश्च मऽएकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मऽएकत्रिꣳशच्च मऽएकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२४॥

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वरिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२५॥

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२६॥

पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च म उक्षा च मे वशा च म ऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वांश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२७॥

पंचदश प्रकरण

यज्ञ के साधन

१—यज्ञ का स्थान सुन्दर, साफ और सुसज्जित होना चाहिये। यह यदि वृक्षों वाले अथवा बगीचे वाले स्थान पर हो तो अति सुन्दर है। वहाँ पर वायु का संचार हो और किसी प्रकार की अशुद्ध हवा का आना न होता हो।

२—कुण्ड आहुतियों के प्रमाण से भूमिगत हो अथवा धातु के बने हों।

३—आसन ऋत्विजों की संख्या और यजमान और उसकी पत्नी का विचार कर रखने चाहिए। यदि ये कुश के हों तो सर्वोत्तम है। अन्यथा उन और शण आदि के भी हो सकते हैं।

४—बड़े यज्ञों में यज्ञोपवीत, कलश आदि की व्यवस्था रहनी चाहिए।

५—यज्ञ के पात्र में—घृतपात्र, सामग्रीपात्र, ऋत्विजों अथवा आहुति देने वालों की संख्या की दृष्टि से आचमन पात्र और आचमनी ऋत्विजों और आहुति देने वालों की संख्या के अनुसार, जलपात्र स्रुवा जिसमें छः माशे से कम घी न आता हो, जल छिड़कने का पात्र और चिमटा। ये पात्र सोने, चांदी, तांबे वा लकड़ी के यथाशक्ति और यथारुचि हो सकते हैं। पंखा भी होना चाहिए। संस्कार विधि में दिखाये गये पात्रों का संयोजन रखना चाहिए। विशेष बड़े यज्ञों में जो महावीर आदि विशेष पात्रों का उल्लेख है वह भी होने चाहिए।

६—यज्ञसमिधा—पलाश (ढाक) शमी, पीपल, गूलर, बड़, आम, देवदारु, चीड़, बेल तथा बांभ आदि की होनी चाहिए। ये सड़ी गली और घुनी हुई न हों। चन्दन यद्यपि सामग्री में लिखा गया है परन्तु यदि चन्दन की समिधा से यज्ञ किया जावे तो और भी

उत्तम है। खदिर की लकड़ी भी प्रयुक्त की जा सकती है। परन्तु बबूल आदि कोयला अधिक उत्पन्न करने वाली समिधाओं का प्रयोग यज्ञ मे बचाना चाहिए। जो समिधायें जितनी ज्यादा कोलसंपत्ति रखती हैं वे जलने पर उतनी ही अधिक मात्रा में कार्बन-डाइ-आक्साइड बनाती हैं। यह हानिकारक गैस है। संस्कार विधि में जो समिधायें लिखी हैं उन्हीं का प्रयोग करना चाहिए। न मिलने की स्थिति में उनके गुण दोष का विचार करके समिधायें प्रयुक्त करनी चाहिए।

७—यज्ञसामग्री—सामग्री औषधि आदि, फल सूखे जिन्हें मेवे कहा जाता है, सुगन्धित द्रव्य और अन्न एवं उसके पाक आदि केभेदों से कई प्रकार की बन जाती है। संस्कारविधि में इसका वर्णन कर दिया गया है। यहाँ पर ऋतु के अनुसार सामग्री का वर्णन किया जाता है।

बसन्त—छलीरा, तालीस पत्र, पत्रज, दाख, लज्जावती, शीतल चीनी, कपूर, चीड़, देवदारु, गिलोय, अगर तगर, केसर, इन्द्रजव, गुग्गुल, कस्तूरी, तीनों चन्दन, जावित्री, जायफल, धूप, सरसों, पुष्करमूल, कमलगट्टा, मजीठ, बनकचूर, दालचीनी, गूलर की छाल, तेजफल, शंखपुष्पी, चिरायता, गोखरू, खांड, गोधृत, ऋतुफल, भात वा मोहन भोग तथा जंड़।

ग्रीष्म—मुरा, बायबिड़ंग, कपूर, चिरौंजी, नागरमोथा, पीला चन्दन, छलीरा, निर्मल, सतावर, खैर, गिलोय, धूप, दालचीनी, लवंग, कस्तूरी, सफेद चन्दन, तगर, भोजपत्र, भात, कुश की जड़, तालीस पत्र, पद्माख, दारु हल्दी, लाल चन्दन, मंजीठ, शिलारस, केसर, जटामाँसी, नेत्रबासा, इलायची बड़ी, उन्नाव, आमले, मूँग के लड्डू, ऋतुफल और चन्दनचूर।

वर्षा—काला अगर, पीला अगर, यव, चीड़, धूप, सरसों, तगर, देवदारु, गुग्गुल, नकछिकनी, राल, जायफल, मुण्डी, गोला, निर्मल, कस्तूरी, मखाने, तेजपत्र, कपूर, बनकचूर, बेल, जटामाँसी, छोटी इलायची, बच, गिलोय, तुलसी के बीज, बायबिडंग, कमलडण्डी, शहद, चन्दन श्वेत का चूरा, ऋतुफल, नागकेसर, ब्राह्मी, चिरायता, उड़द के लड्डू, छुहारे, शाखाहूली, मोचरस, विष्णुकांता, ढाक की समिधा, गोधृत, खाँड और भात।

शरद—चन्दन सफेद, चन्दन लाल, चन्दन पीला, गुग्गुल, नागकेसर, इलायची बड़ी, गिलोय, चिरोंजी, विदारीकंद, गूलर की छाल, ब्राह्मी, दालचीनी, कपूरकचरी, मोचरस, पितपापड़ा, अगर, भारंगी, इन्द्रजव, रेणुका, मुनक्का, अष्टगन्ध, शीतल चीनी, जायफल, पत्रज, चिरायता, केसर, कस्तूरी, किशमिश, खाँड, जटामांसी, तालमखाना, सहदेवी, ढाक की समिधा, धान की खील, खीर, विष्णुकान्ता, कपूर, गोधृत और ऋतुफल।

हेमन्त—कुट, मुसली, गन्धकोकिला, गुडवाच्छ, पितपापडा, कपूर, कपूर कचारी, नकछिकनी, गिलोय, पटोलपत्र, दालचीनी, भारंगी, सौंफ, मुनक्का, कस्तूरी, बीड, गुग्गुल, अखरोट, रासना, शहद, पुष्करमूल, केसर, छुहारे, गोखरू, कौंच के बीज, काँटेदार गिलोय, पर्पटी, बादाम, मुलहट्टी, काले तिल, जावित्री, लाल चन्दन, मुदकवाला, तालीसपत्र, रेणुका, खोया, बिना नमक की खिचड़ी, आम या खैर की समिधा, गोधृत और देवदारु।

शिशिर—अखरोट, बायविडंग, कचूर, राल, मुण्डी, मोचरस, गिलोय, मुनक्का, रेणुका, काले तिल, कस्तूरी, तेजपत्र, केसर, चन्दन, चिरायता, छुहारे, तुलसी के बीज, गुग्गुल, चिरौजी, काकड़ा सिंघी, खांड, सतावर, दारु हल्दी, शंखपुष्पी, पद्माख, कौंच के बीज, जटामांसी, भोजपत्र, गूलर, बड़ समिधा और मोहन भोग।

८—स्थालीपाक—मोहन भोग (हलवा), खीर, भात, लड्डू आदि भी यज्ञ में प्रयुक्त होते हैं। परन्तु कोई चीज जो नमकीन, खटाई वा मिर्च से सम्बद्ध हो यज्ञ के लिए निषिद्ध है। पुरोडाश पकाने की विधि विशेष है और वह जिन यज्ञों में उपयोग में लाया जाता है उन्हीं में उसका प्रयोग होना चाहिए। आमिक्षा आदि की विधि पूर्व प्रकरण में बताई जा चुकी है।

खिचड़ी, चावल, उड़द, मूंग और तिल की बनती है। इसमें नमक और मसालों आदि का प्रयोग नहीं होता है। इसमें मीठा भी नहीं पकाया जाता है।

इन सभी पदार्थों के गुण धर्मों का वर्णन करना बहुत विस्तार की अपेक्षा रखता है। आयुर्वेद में इनके गुण धर्म भली प्रकार वर्णित हैं। वहां पर देखना चाहिए। संस्कारविधि में जिन पदार्थों का वर्णन है उन्हें भी यहां पर संगृहीत समझना चाहिए।

६—यज्ञ में दक्षिणा के जो सामान हैं उनका वर्णन संस्कारविधि में किया गया है। वे नहीं भुलाए जाने चाहिए। यज्ञ बिना दक्षिणा के कभी सिद्ध नहीं होता। स्वर्ण आदि धातु, वस्त्र, खान-पान की सामग्री, गौ आदि दक्षिणा में दी जाती है। विना इसके पुरोहित प्रथा स्थापित नहीं हो सकती और पुरोहित के विना यज्ञ और संस्कारों का प्रचार-प्रसार और कराना नहीं हो सकता है। पौरोहित्य प्रथा के गड़बड़ हो जाने से ही आज यज्ञों की परिपाटी लुप्त हो गई है। कर्म काण्ड का एक प्रकार से लोप सा होता जा रहा है।

आये हुये आगन्तुकों का सत्कार सम्मान आदि करना भी यज्ञ और संस्कारों के अवसर पर विशेष अपेक्षणीय है। सामर्थ्य के अनुसार उनका सत्कार किया जा सकता है।

षोडश प्रकरण

हमारा यज्ञ संसार-यज्ञ के दर्शन से समन्वय स्थापित करता है

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञ में यजमान द्वारा डाली गई आहुतियां सूर्य की किरणोंके साथ जाकर उसे स्वर्गलोक में मानो बुलाती हैं। यह स्वर्गलोक क्या है? जहां तक रसायन विद्या के प्रभाव और भौतिकी का सम्बन्ध है 'स्वः' शब्द सूर्य के लिए प्रयुक्त होता है। यह स्वः सूर्य है और उसका स्थान आकाश स्वर्ग वा स्वर्लोक है। सूर्य की किरणों के साथ आहुतियों का सार यजमान के साथ सौर प्राणों का सम्बन्ध स्थापित कर देता है। परन्तु वह स्वर्ग जो सुख-सामग्री विशेष की प्राप्ति की अवस्था है वह भी इस यज्ञ से प्राप्त होती है। ज्ञान की किरणें यजमान के किये यज्ञकर्म के साथ उस सुख को भी प्राप्त कराती है चाहे वह इस जन्म में प्राप्त हो अथवा इस जन्म के बाद अगले जन्म में। प्रश्न होगा कि आहुतियें अगले जन्म में प्राप्त होने वाले सुख के लिए यजमान को किस प्रकार समर्थ करेंगी? इसका उत्तर है कि ये आहुतियाँ यज्ञ कर्म की संपादिका हैं। कर्म अदृष्ट उत्पन्न करता है और अदृष्ट द्वारा वह सुख प्राप्त होगा। क्योंकि वही परमात्मा की व्यवस्था में फल उत्पन्न करेगा।

जब यजमान यह कहता है और व्रत करता है कि मैं 'अनृतात् सत्यमुपैमि' अर्थात् मनुष्यत्व से देवत्व को प्राप्त होकर यज्ञ का संपादन करता हूं तब वह वस्तुतः देव होकर ही यज्ञ को कर रहा है। देवत्व को प्राप्त ही इस यज्ञ का अधिकारी बनता है। यह देवत्व भौतिक दृष्टि से भौतिक देवों से सम्पर्क स्थापित करना है अर्थात् वह सूर्य लोकस्थ प्राण और यज्ञ के देवों से सम्पर्क कर लेता है और कर्म-मीमांसा की दृष्टि से वह नैतिकता के द्वारा मनुष्यपने से ऊपर उठकर देव बन जाता है। दोनों ही प्रकार से यह देवत्व-प्राप्ति यजमान को यज्ञ क्रिया के योग्य बनाती है।

प्रस्तुत विषय यहां पर संसार यज्ञ का आता है। जब हम यजुर्वेद के अध्यायों को प्रथम अध्याय से पढ़ना प्रारम्भ करते हैं तब ऐसा ज्ञात होता है कि यहां इनमें कोई क्रम बैठाया गया है। वह क्रम यज्ञ का है। यदि उस क्रम को समझा जावे तो फिर हमारे यज्ञ और भगवान् के संसारी यज्ञ का समन्वय और दार्शनिक पृष्ठभूमि खुल जावेगी। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन वेद के शब्दों और क्रमों को खोलने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु आजकल इन ग्रन्थों को न कोई पढ़ता है और न पढ़कर इनके अन्तस्तल में पैठने का प्रयत्न करता है। कारण यह है कि इसके लिए विशेष ज्ञान की पृष्ठभूमि चाहिए जो है नहीं। आर्यसमाज में कुछ विद्वान्नामधारी इन ग्रन्थों का नाम अपने को चमकाने के लिये लेते अवश्य हैं परन्तु इनके ज्ञान से तनिक भी सम्पर्क उनका होता नहीं। यहां पहले हम संसार में चल रहे यज्ञ को देखें। संसारयज्ञ का वर्णन यजुर्वेद में इस प्रकार मिलता है—

(१) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
यजु० ३१।१६

(२) सप्तास्यासन् परिधयः त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवध्नन् पुरुषं पशुम्॥य० ३१।१५

(३) यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो ऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः॥
यजु० ३१।२४

इस यज्ञ का वर्णन शतपथ १२।८।२।३६ में मिलता है। शतपथ ब्राह्मणकार इस यज्ञ का संकेत करते हुए हमारे पार्थिव यज्ञ की भूमिका स्थापित करते हुए कहता है "कि प्रजापति[1]=परमेश्वर ने इस यज्ञ कर्म को पहले किया और तदनन्तर देवोंने इसे किया।" यहां पर प्रश्न यह उठता है कि प्रजापति के बाद देवों के इस कर्म के करने का विधान है। मनुष्यों का तो संकेत नहीं है। इसका उत्तर यह है कि देव भी तो मनुष्य ही हैं। जब यज्ञ कर्म मनुष्य करता है तब देव बनकर ही करता है। ऊपर पहले ही पंक्तियों में इस विषय को बता दिया गया है। इसलिए ठीक ही वर्णन किया गया है। इस विस्तार किये जाने वाले हमारे यज्ञ में तीन प्रकार की अग्नियां होती हैं। वे हैं आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। कभी कभी इन तीनों को त्रेता भी कहा जाता है। चूंकि हमारा यज्ञ प्रजापति के महान् यज्ञ

की पार्श्वभूमि पर है अतः प्रजापति के महान् यज्ञ की भी तीन वेदियां हैं और उन्हीं पर हमारी भी संस्थापित हैं। प्रजापति के महान् यज्ञ की तीन वेदियां हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार गार्हपत्याग्नि पृथिवी स्थानीय है, दक्षिणाग्नि आन्तरिक्ष्य और आहवनीय द्युलोकस्थानीय है। इस प्रकार इन तीनों लोकों में प्राकृतिक नित्य यज्ञ चल रहा है। यह वस्तुतः अग्निषोमीय और वितानयज्ञ है। हमारा यज्ञ प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति है। सूर्याग्नि में सोम की आहुति हो रही है इसीलिए यह अग्निषोमीय है। हम पृथिवी पर यज्ञकुण्ड में सोमलता=गिलोय आदि की आहुति डालते हैं—यही हमारा पार्थिव यज्ञ है। इस हमारे यज्ञ का सम्बन्ध उस महान् यज्ञ से रहना चाहिये। उस महान् यज्ञ तक पहुंचने के लिए यह हमारा यज्ञ एक प्रकार का रथ है। सूर्य की रश्मियां ही इन दोनों का सम्बन्ध जोड़ती हैं।

जिस मंत्र को अग्नि जलाते हुए हम पढ़ते हैं वह इन वेदियों का स्मरण कराता है। वह बताता है कि महान् वेदी तो द्यौः में है। हम उसे प्रदीप्त नहीं करते हैं वह तो भगवान् ही करता है। हम देवयजनी पृथिवी पर अन्नाद अग्नि को स्थापित करते हैं।

द्युलोक के यज्ञ को देखें। यह हमारी पृथिवी से २१ वें स्तोम=अहर्गण पर है। यह सूर्य हमसे ९ करोड़ मील की दूरी के लगभग ऊपर विद्यमान है। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि यह २१ स्तोम[1] पर है। यह सूर्य अग्निमय है और इसके चारों तरफ सोम का समुद्र भरा हुआ है। इस इन्द्र अर्थात् सूर्य के अग्नि और सोम भाई हैं। इस सोम के सम्बन्ध से सूर्य में प्रकाश है। इस 'सोम समुद्र' को ही पारमेष्ठ्य मण्डल कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण इसका वर्णन करते हुए कहता है कि 'यह जो परम स्थान में स्थित है इसी से इसे परमेष्ठी कहा जाता'[2] है। यह सोम वस्तुतः विशेष शक्ति वाला भौतिक पदार्थ है जो सूर्य में प्रकाश भी उत्पन्न करता है और ज्ञात होता है कि यह सूर्यस्थ अग्नि को खुराक भी देता है। सूर्य का वेदों में एक नाम संवत्सर भी है। जैमिनीय और शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जो प्रकाश है वह सम्वत् है और जो प्रकाश नहीं है वह सर है। इस प्रकार सूर्य में भी धब्बे=कालेपन की कल्पना की गई है।

इस सोमतत्त्व का वर्णन ऋग्वेद १।६१।२२ में निम्न प्रकार मिलता है।

यह सोम इन ओषधियों को उत्पन्न करता है। यह जलों को उत्पन्न करता है। यह किरणों में प्रकाश पैदा करता है। यह विस्तृत आकाशीय समुद्र को फैलाता है और प्रकाश से अन्धकार को विनष्ट करता है।

अतः यह स्पष्ट है कि इस सोमरूप समुद्र से ही सूर्य की स्थिति है। इसीलिए इस सोम-समुद्र को पारमेष्ठ्य समुद्र कहा जाता है। इसी कारण से सूर्य का नाम ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्निहोत्र भी है।

मनोता

इस प्रकाशमान सूर्य में ज्योति, गौ और आयु—ये तीन मनोता रहते हैं। इन्हीं में मन, प्राण और वाङ्मय सूर्य का मनोभाग ओत-प्रोत रहता है। यह मनोभाग हमारी तरह का मनोभाग नहीं बल्कि तद्वत् सौरतत्व है। देवों के तीन मनोता माने जाते हैं। वे हैं मन, प्राण और वाक्। मन, प्राण और वाक् से अपने को आप्यायित करने के लिए यजमान को क्रमशः ज्योतिष्टोम, गोष्ठोम और आयुष्टोम—ये तीन यज्ञ करने चाहिए। जिस प्रकार द्युलोक के परमेष्ठी मण्डल को यज्ञ कहा गया है इसी प्रकार सम्वत्सर भी एक महान् यज्ञ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस सम्वत्सर यज्ञ के ऋत्विज् ऋतु आदि बनाये गये हैं। इस प्रकार यजमान जब पृथिवी पर अन्नाद अग्नि की स्थापना कर यज्ञ करता है और देवत्व को प्राप्त करता है तब इन सभी से उसके यज्ञ और उसका सम्पर्क स्थापित होता है।

यज्ञ करता हुआ यजमान दैवी शक्तियों से सम्पर्क कर देव होता है और मानो वह अब स्वर्ग अर्थात् सौरलोक में स्थित है अथवा सुख में स्थित है। इस यज्ञ में यजमान यज्ञ में डाली गई आहुतियों द्वारा वा सूर्य किरणों द्वारा प्राकृतिक देवों से सम्पर्क करता है और यजमान के यज्ञ में ये यज्ञ देवता भी सम्पृक्त रहते हैं। यही देवों और यजमान का सम्बन्ध मानो यजमान का स्वर्ग प्राप्त करना और देवों कायज्ञ में आना है। इस अवस्था को प्रकट करने वाले ये ऋग्वेद के निम्न मन्त्र हैं :—

अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे। देवां आसादयादिह ॥

ऋ० ६।३।३६

यहाँ मंत्र में निम्न बातें कही गई हैं :—

१—यजमान अग्नि को दूत बनाता है देवों तक पहुंचने के लिए।

२—वह अग्नि हव्यवाद् अर्थात् हवि को लेजा कर देवों तक पहुंचाता है और वही वस्तुतः इसका माध्यम है।

३—वह देवों को यज्ञ में प्राप्त कराता है। क्योंकि सभी यज्ञ के देव अग्नि के मुख से आहुति आदि प्राप्त करते हैं।

देवता यज्ञ में जड़ और चेतन दोनों प्रकार के हैं। जिन्हें आहुति दी जाती है वे भौतिक पदार्थ जड़ हैं। यज्ञमान ऋत्विज् आदि चेतन हैं। किस प्रकार ये उपर्युक्त ढंग पर यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं, इस पर विचार किया जाता है।

जिस सौर यज्ञ का परमेष्ठीमण्डल नाम से वर्णन किया गया है उसके और यजमान द्वारा किये जाने वाले यज्ञ के स्थानों का नाम 'देवयजन' है। अर्थात् इसमें देवता के निमित यज्ञ किया जाता है इसलिए यह देवयजन है। इसीलिए अग्न्याधान के प्रथम मन्त्र में पृथिवी को देवयजनी कहा गया है।

पहले यह बताया जा चुका है कि यह परमेष्ठीमण्डल सोम का महान् समुद्र है जो सूर्य के चारों तरफ भरा है। यह महान् सोम आप्, वायु और सोम तीन प्रकार का है। इसी दृष्टि से पदार्थ भी आप्य, वाय्वय और सौम्य भेद वाले होते हैं। सोम वस्तुतः देवताओं का अन्न है। यह सोम रूप देवान्न सूर्य की किरणों के द्वारा सर्वत्र फैलता है और पृथिवी तक आता है। पृथिवी तक आने में इस सोम की कई अवस्थायें हो जाती हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि इस सोमरूप देवान्न में आसुर प्राण मिल जाते हैं। ये आसुर प्राण ही राक्षस नाष्ट्रा आदि नामों से विख्यात हैं। ये आसुर प्राण क्या हैं? वस्तुतः आप्य प्राण ही आसुर हैं। मेघ सम्बन्धी प्राण आसुर हैं ही।

पहले यह भी कहा जा चुका है कि सूर्य में तीन मनोता है—ज्योतिः, गौः और आयुः। सोम के भृगु, अङ्गिरा और अत्रि—ये तीन मनोता हैं। भृगु के भी तीन भेद हैं—अप्, वायु और सोम। इनमें सोम के अतिरिक्त ये सारे ही तत्वांश वैकारिक हैं। सोम को प्राण कहा जाता है। यही प्राण ऋषि भी कहा जाता है। इन्हीं प्राणों को पितर को भी संज्ञा दी जाती है। ये नाम प्राण के गुण और कर्मों के कारण हैं। अग्नि में डाले गये पदार्थ से ये शुद्ध होकर संसार के लिए

सुखदायक होते हैं। प्राण जहां गुण और कर्म के आधार पर ऋषि और पितर हैं वहां ये ही देव भी हैं। आप्यप्राण असुर हैं। सौर प्राण देव हैं। चान्द्र प्राण गन्धर्व हैं। ऋषि प्राण सात प्रकार के हैं। पितर प्राण आठ हैं। देवता ३३ हैं। आसुर प्राण अपनी गतियों से ९९ प्रकार के हो जाते हैं। गन्धर्व २७ प्रकार के होते हैं। वैश्वानरपार्थिव अग्नि एक ही है। सूर्य को छोड़ कर सभी चन्द्रमा पृथिवी आदि में आसुर=आप्यप्राण रहते है। सूर्य में केवल देवता, ज्योतिः ही रहती है।

जिस पृथिवी पर हम रहते हैं यह आसुर प्राणमयी है। ये आसुर प्राण ही सारे रोगों की जड़ हैं। इनको दूर करने का कार्य यज्ञ से किया जाता है। ये ९९ प्रकार के आसुर प्राण दो कोटियों में बांटे जा सकते हैं। एक निर्जीवगत और दूसरे सजीवगत। कुछ आसुर प्राण वायु के सहारे पदार्थों में समष्टि रूप से रहते हैं और कुछ क्षुद्र जन्तुओं एवं कृमियों के आश्रित रहते हैं। जो आप्य या आसुर प्राण क्षुद्र जन्तुओं में नहीं रहते हैं—सामान्य वायु के सहारे रहते हैं उनका वर्णन शतपथ ब्राह्मण निम्न प्रकार करता है :—

अमूलं वा इदमुभयतः परिच्छिन्नं रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति ॥
श० ३।१।३।१३

तथा वे आसुर प्राण जो शरीरों वा जीवों के आश्रय से विचरते हैं और रोग आदि उत्पन्न करते हैं उनके विषय में यजुर्वेद निम्न प्रकार वर्णन करता है :—

ये रूपाणि प्रति मुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात् ॥ यजु २।३०

ऐसे जन्तुओं को यज्ञाग्नि दूर कर सकता है। इस प्रकार रहे ऋषि प्राण और पितर प्राण। ऋषि प्राण मौलिक है। पितर प्राण कई प्राणों के संयोग से बनने से यौगिक प्राण है। कुछ के संयोग से आसुर प्राण भी बन जाते हैं। इन आसुर प्राणों को यज्ञ द्वारा यजमान अपने से और पृथिवी लोक से बाहर निकालता है।

सूर्य में आसुर प्राण नहीं है। वहां पर केवल एक मात्र सोम की स्थिति होने से वहां पर देव प्राण है। यज्ञाग्नि आसुर प्राणों को भगा कर देवप्राणों को अग्नि द्वारा पृथिवी पर ला देता है। इससे पृथिवी देवयजन और वह देव बन जाता है। यज्ञ में जो औषधियां आहुति

रूप में डाली जाती हैं वे सोमयुक्त होने से देवों के हव्य हैं। यज्ञाग्नि उन्हें परमेष्ठीमण्डल में देवों के पास पहुंचाता है और वहां से देवों को अर्थात् किरणों को यहां पृथिवी पर सम्बद्ध कर देता है। इस प्रकार यज्ञ का वास्तविक अर्थ संगतिकरण, देवपूजा और दान तीनों ही सुसंगत हो जाते हैं।

अग्नि के द्वारा सूक्ष्मीकृत यज्ञनिक्षिप्त पदार्थ किस प्रकार सूर्य लोक के यज्ञ तक पहुंचता है और देवों को प्राप्त होता है—इसका भी विचार किया जाता है।

हमारी पृथिवी से सम्बद्ध वायु १२ योजन तक है। यह वायु यज्ञीय पदार्थों के सूक्ष्म भाग को यहां तक तो पहुंचा ही देता है। वहां से सूर्य किरणें इसे परमेष्ठीमण्डल तक ले जाती हैं। जिस परमेष्ठी-मण्डल की चर्चा चलती आ रही है वह १७ वें अहर्गण से आरम्भ होता है। यही स्वर्गलोक अर्थात् सूर्यलोक कहाता है। इसको पृथिवी से दूरी के विषय में एक सहस्र आश्वीन मार्ग की कल्पना की गई है। यह 'आश्वीन' क्या है? 'अश्व' पद सूर्य के प्रकाश वा किरणों के अर्थ में आता है। यह यहां पर घोडे के अर्थ में नहीं है। अतः सबसे गतिमान् पदार्थ प्रकाश (Light) है। प्रकाश की गति बहुत ही अधिक है। उसी गति को यहां पर पैमाना मानकर परमेष्ठी-मण्डल को सहस्राश्वीन कहा गया है। यहाँ पर घोड़ों की चाल का कोई तात्पर्य नहीं।

मारुत प्राण अन्तरिक्ष में रहते हैं। ये देवों की विश् अर्थात् प्रजा हैं। ये वायुओं के ही प्रकार हैं। वायु अग्नि की सहायता से द्रव्य पदार्थ सब ओर ले जाता है। अपनी सीमा तक हवि को वायु ले जाकर विष्णु=सूर्य को सुपुर्द कर देता है। सूर्य अपनी तीन स्थितियों अर्थात् उदय, मध्याह्न और अस्त के द्वारा सर्वत्र दिशाओं में इस तत्व को फैला देता है। यह विष्णु अर्थात् सूर्य देवों का द्वारपाल" है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि यज्ञ में जिन देवताओं का सम्बंध है उनमें से कुछ यज्ञीय भाग को ग्रहण करते हैं और कुछ नहीं। जो ग्रहण करते हैं वे सोमपा हैं और जो नहीं ग्रहण करते हैं वे असोमपा हैं"। देवों तक सोम के भाग को बांटने वा पहुंचाने का कार्य पूषा करते हैं।

यह पूषा कौन है ? यह एक प्रकार का पवित्र प्राण है जिसे हम साधारणतया वायु कह दिया करते हैं। शतपथ १।१।३।१५ में कहा गया है कि पूषा ऐश्वर्य का स्वामी है। वह यज्ञ में ऐश्वर्य मुझे प्राप्त करावे। यह पूषा आहुति भाग को ग्रहण करके चला जाता है। पूषा इस आहुति भाग को देवों में बांटकर ही ऐश्वर्य प्रदान करता है। इसी दृष्टि से यजुः १।२१ और १।२४ में क्रमशः कहा गया है "पूष्णो हस्ताभ्यां संवपामि" "पूष्णो हस्ताभ्यामाददे"। यही पूषा = वायु ३३ देवों में हवि बाँटता है।

जो देवता हवि ग्रहण नहीं करते हैं वे हैं छन्दोभाग और स्तोम। जो आहुति ग्रहण करते हैं वे आहुतिभाग कहाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार छन्दोभाग और स्तोमभाग के ३३ कारण गण हैं। इन पर यज्ञ का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। सोम, आकाश और विद्युत् तीनों अन्य प्राणों के संसर्ग से ग्यारह ग्यारह जगह विभक्त होकर ३३ बन जाते हैं। इन्द्र विद्युत् है। यह असोमपा है। इसमें आसुर प्राण नहीं। इसका असुरों से संसर्ग नहीं होता। कारण रूप से यह असोमपा और कार्यरूप में सोमपा है। उदाहरण के लिए अग्नि सौर्यप्राण रखने से आप्यप्राण असुरों से अलिप्त रहता है। अतः वह असोमपा है। परन्तु वही जब रुद्रप्राण से संसर्ग करता है तब सोमप बन जाता है। अतः कहना पड़ेगा कि कारण देवता असोमप और कार्य देवता सोमप हैं। पूषा इन सबको विभाग करके देता है। सूर्य और सोम के सम्बन्ध से जो शक्ति प्रकाश उत्पन्न करती है वही पूषा है। यह स्वयं कुछ नहीं लेता। इसे ब्राह्मण ग्रन्थों में अदन्तक कहा गया है। स्वयं कुछ न लेकर औरों को बांटता है। इस बाँटने के कार्य को देखकर ही इसके हाथ की कल्पना की गई है जिसका द्योतक है—यह मंत्र भाग—पूष्णो हस्ताम्याम्। इस प्रकार यह पूषा सूर्य की किरणों को हवन का तत्व दे देता है।

यह भी स्मरण रहे कि यज्ञ करने से शिव वायु की उत्पत्ति होती है। वह कृमियों आदि का नाश करके यजमान को द्युलोकस्थ संपर्क साध देता है। द्युलोक में जो सोम स्थित है उसकी रक्षा के लिए दो वायुवें हैं। उनका नाम अंधारि और बम्भारि है। यजुर्वेद में 'अङ्घारिरसि बम्भारिरसि' इस प्रकार से इनका वर्णन है। इन्हीं का दूसरा नाम अच्छावाक् और धिष्ण्य है। ये सभी प्राण वस्तुतः देवता है और यज्ञ के भाग को ग्रहण करते हैं।

इन्द्र और उसका सोमपान

इन्द्र शब्द के अनेकार्थ हैं। परन्तु यहाँ पर उन सभी पर विचार नहीं करना है। इस समय तो यज्ञ के देव इन्द्र का वर्णन अपेक्षित है जो यज्ञ में सोमपान करता है। यह इन्द्र एक प्रकार का वायु है। सोम क्या वस्तु है यह भी समझ लेना चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार यह सोम इस पृथ्वी से तृतीय द्यु में रहता है। इसे ही सूर्य का चक्षु = प्रकाशक कहा गया है। पहले परमेष्ठीमण्डल का वर्णन करते हुए भी यह बतलाया गया है कि सोम सूर्य के चारों तरफ भरा है। श्येन भी एक प्रकार का वायु है जो सोम का सहायक है। यह सोम के बढ़ाने और फैलाने में सहायक है।

यह सोम जिसका अनुचर वाहक श्येन है चार प्रकार का है—राजा, वाज, ग्रह और हविः। ग्रह भी एक प्रकार का वायु है। यह ग्रह भी ३० प्रकार का होता है। इनके उपांशु, अन्तर्याम, उपांशुसवन, ध्रुव, दक्ष, ऋतु, माहेन्द्र, आश्विन, शुक्रामन्थी और आग्रायण आदि नाम है। ये सब अत्यन्त सूक्ष्म वायु हैं।

वायु का यदि विश्लेषण सूक्ष्मरूप से किया जावे तो ऐसा ही परिणाम सामने आयेगा। यदि १०० भाग मारुत वायु लिया जावे तो ८० अंश साधारण वायु और २० अंश इन्द्रवायु का होगा। वायु के इस प्रकार ४९ भेद पहले कहे गये हैं। इसीलिए कहा गया है कि "इन्द्रतुरीयग्रहाः गृह्यन्ते" अर्थात् इन्द्र है चतुर्थ जिनमें ऐसे ग्रहों का ग्रहण किया जाता है। यही इन्द्र वायु सोम को पीता है। कपूर कस्तूरी, तथा उड़नशील पदार्थों को यह वायु चट कर लेता है। यही यज्ञ के सूक्ष्म तत्व को ले लेता है। यही इन्द्र का सोमपान हैं।

वेद मंत्रों के पाठ से दैवी वाणी का संगमन

आकाश वाणी से व्याप्त है। वाणी में ही सारे भुवन अर्पित हैं। ऐसा वेदों का कथन है। "ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम" तथा वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता—आदि वाक्य इसका ही संकेत करते हैं। वाणी परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी भेद से चार प्रकार की है। मैंने अपनी पुस्तक वैदिक ज्योति में इसका विस्तार से वर्णन किया है। ससर्पंरी और सूर्यावाक् का वर्णन मैंने अपनी अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक-इतिहास-विमर्श में किया है। वैदिको वाक् को चार लोकों में

विभक्त किया जाता है। ये चार लोक हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः और आप। पृथिवी लोक का अधिपति अग्नि है। अन्तरिक्ष लोक का वायु और द्युलोक का आदित्य है। आप् लोक का अधिपति चन्द्रमा है। वेद वाणी छन्दो मयी है। छन्दो से ही सभी लोक और ज्ञान बंधे हैं। प्रत्येक पदार्थ की परिधि छन्द है। छन्द भी मूलरूप वा वैज्ञानिक रूप से चार हैं और इन चारों लोको में व्याप्त हैं। पृथिवी के छन्द को 'मा' कहा जाता है। अन्तरिक्ष के छन्द को 'प्रमा' और द्युलोक के छन्द को 'प्रतिमा' कहा जाता है। आप् लोक के छन्द को 'अस्तीव' कहा जाता है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में इस प्रकार का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है[१२]। इन चारों लोकों के अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमा क्रमशः लोकपाल हैं। इस विषय की प्रेरणा का देनेवाला ही यह वेद मंत्र का वाक्य है—कासीत्प्रमा प्रतिमा किम्। वैदिक छन्दों का इन चारों लोकों से सम्बन्ध है। जब यज्ञ में छन्दोमय मंत्र शुद्ध पढ़े जाते हैं तब इनका चूल दैवी वाक् जो आकाश वा द्युलोक में है उसके साथ मिल जाता है। यजमान इस छन्दोमय वेद मंत्रों के शब्द का द्युलोकस्थ वाणी के साथ चूल मिलने पर मानो स्वर्ग का अनुभव करता है। इस प्रकार हमारा यज्ञ संसार यज्ञ से एक प्रकार का संगतिकरण अथवा समन्वय स्थापित करता है। यज्ञ के इस रहस्यमय दर्शन वा विज्ञान का परिज्ञान होना चाहिए। यजुर्वेद के अध्यायों को यदि इस प्रकार मिलाया जावे और यज्ञ की समस्त प्रक्रिया की जांच पड़ताल की जावे तो बहुत बड़े-बड़े यज्ञ सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है। महर्षि दयानन्द ने यज्ञ को अग्नि होत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त बताया है परन्तु साथ में अन्य विज्ञानों को भी यज्ञ कहा है। वे शिल्पविद्या का भी ग्रहण करते हैं।

प्रमाणसन्दर्भ

१—प्रजापतिर्वा एतदग्रे कर्माकरोत्ततो देवा अकुर्वन्। श० ६।२।३।११

२—अयं वै लोको गार्हपत्यः। श० ७।१।१।६; स्वर्गो वै लोक आहवनीयः। श० ६।३।२।१२

३—एकविंशो वा इतः स्वर्गलोकः। ऐ० ४।३।१८

४—यत्परमे स्थाने तिष्ठति तस्मात्परमेष्ठी नाम। श० ११।१।६।१६

५—त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वंगाः। त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ॥ ऋ० १।६१।२२

६—तिस्रो देवानां मनोतास्तासु हि तेषां मनांस्योतानि, वाग्वै देवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि, गौर्वै देवानां मनोता तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि अग्निर्वै देवानां मनोता तस्मिन् तेषां मनांस्योतानि।

७—एष वै सोमो राजा देवानामन्नम्॥ श० १।६।३।५

८—सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गोलोकः। ऐतरेय २।७

९—मरुतो हवै देवविशस्तेऽन्तरिक्षभाजनाः॥ ऐत० १।१०; मरुतो देवानां विशः॥ ऐतरेय २।१६

१०—विष्णुर्वै देवानां द्वारपः। ऐतरेय १।३०

११—त्रयस्त्रिंशद्वै सोमपाः त्रयस्त्रिंशदसोमपाः। अष्टौवसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिः वषट्कारश्चैते देवाः सोमपाः। ऐत० २।१८

१२—मा छन्दः तत् पृथिवी अग्निर्देवता, प्रमा छन्दः तदन्तरिक्षं वातो देवता, प्रतिमाछन्दः तद्द्यौः सूर्योदेवता, अस्तीव छन्दः तद्दिशः सोमो देवता। आप० श्रौ० १६।२८।१

सप्तदश प्रकरण

यजुर्वेदीय ऋत्विक्संवाद

यज्ञों में ऋत्विक् हुआ करते हैं। इन ऋत्विजों का चयन बहुत विचार के साथ किया जाता है। ये ऋत्विज् योग्यता और आचार विचार और कर्म की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट कक्षा के होने चाहिए। सभी एक वेद विद्या के विद्वान् होने चाहिए और ब्रह्मा चतुर्वेद-विद् होना चाहिए। यज्ञ वस्तुतः जितना उत्तम कर्म है और विज्ञानपूर्ण है उसी तरह उसके ऋत्विज् भी उच्चैः कोटि के होते हैं। यजुर्वेद के तेतीसवें अध्याय के ४५ वें मन्त्र से ६२ वें मन्त्र तक 'ब्रह्मोद्यम्' है। ब्रह्मोद्यम् क्या है? ऋत्विजों का परस्पर विद्या संवाद ब्रह्मोद्य है। यज्ञ में होता अध्वर्यु आदि सम्वाद करते हैं। ये मंत्र वस्तुतः यज्ञ के ऋत्विजों के सम्वाद हैं। इस सम्वाद का अध्ययन करने से यज्ञ के स्तर और उससे ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति के विषय पर उत्तम प्रकाश पड़ता है। यहां पर उन मन्त्रों को देकर उनके अर्थ भी जानकारी के लिए दिए जाते हैं:—

१—कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः। कि꣡ꣳस्विद्धि-मस्य भेषजं किंवापनं महत्। यजुः २३।४५

होता अध्वर्यु से पूछता है—

हे अध्वर्यो! कौन अकेला अपनी कीली पर बिना किसी की परिक्रमा किए घूमता है? कौन है जो लोकों के चारों तरफ घूमता है? ठण्डी वा जाड़े की दवा क्या है? बीज बोने का महान् क्षेत्र क्या है?

२—सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥४६

अध्वर्यु उत्तर देता है—

हे होतः! सूर्य अकेला बिना किसी लोक की परिक्रमा किए अपने स्थान पर घूमता है। चन्द्रमा सूर्य और पृथ्वी के चारों तरफ घूमता है। अग्नि ठण्डी की दवा है। पृथिवी सबसे बड़ा क्षेत्र है जिसमें बीज आदि बोए जाते है।

३—कि꣡ꣳस्वित्सूर्यसमं ज्योतिः कि꣡ꣳसमुद्रसमं सरः। कि꣡ꣳस्वि-त्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥ ४७

अध्वर्यु होता से पूछता है—

हे होतः! सूर्य के समान प्रकाशमान वस्तु क्या है? समुद्र के समान् महान् तालाब क्या है? पृथिवी से बड़ा क्या है? और किस की मात्रा अर्थात् तोल नहीं है?

४—ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसम꣡ꣳसरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तुमात्रा न विद्यते ॥४८॥

प्रत्युत्तर देता है—

सूर्य के समान प्रकाशमान ज्योति ब्रह्म है। अन्तरिक्ष समुद्र के समान विशाल तालाब है। इन्द्र अर्थात् सूर्य पृथिवी से बहुत बड़ा है। वाणी की मात्रा वा तोल नहीं होती है।

५—पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेषु विश्वं भुवनमाविशाँ३ ॥४९॥

ब्रह्मा उद्गाता से पूछता है—

हे उद्गातः! मैं तुमसे जानकारी के लिए पूछता हूं यदि आपने मन से इस विषय को जाना हो यज्ञ के उन तीन पदों को जिनमें समस्त भुवन प्रविष्ट है अथवा व्यापक भगवान् के तीन क्रमों को जिनमें सारा भुवन प्रविष्ट है।

६—अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश।
सद्यः पर्येमि पृथिवीमुतद्यामेकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम् ।५०

प्रत्युत्तर—

हे ब्रह्मन्! यज्ञ के उन्हीं तीन पदों गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि अथवा भगवान् के तीन क्रमो पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक में मैं और आप दोनों विद्यमान हैं जिनमें कि सारा भुवन स्थित है। अपने एक अङ्ग अर्थात् मन से मैं सद्यः पृथिवी को देखता हूं, फिर द्यु लोक को देखता हूं और देखता हूं समस्त लोकों के विभाग को।

७—केष्वन्तः पुरुष आविवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतद्ब्रह्मन्नुपवल्हामसि त्वा किꣳस्विन्नः प्रतिवोचास्यत्र ।५१॥

उद्‌गाता ब्रह्मा से पूछता है—

हे ब्रह्मन् ! कौन से वे पाँच हैं जिनमें जीवात्मा ने प्रवेश किया है ? कौन से हैं जो उस पुरुष=जीवात्मा में दिये गए हैं ? यह आप से हम पूछते हैं कि जिससे इस विषय में हमें जानकारी हो । आप इस रहस्य को हमारे प्रति बतावें ।

८—पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआनिवेश तान्यन्तः पुरुषेऽर्पितानि ।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरोमत् ५२॥

प्रत्युत्तर—

पांच तत्त्वों में अर्थात् इनसे बने शरीर में जीवात्मा प्रविष्ट है। वही इन्द्रिय आदि के रूप में इस जीवात्मा को मिले हैं । मैं इस विषय में इसी प्रकार का ज्ञान रखता हूं । आप मुझसे स्यात् इस विषय के ज्ञान में अधिक नहीं हैं ।

९—का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किस्विदासीद्बृहद्वयः ।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥५३॥

होता अध्वर्यु से पूछता है—

सर्वप्रथम ज्ञान का विषय क्या है ? सबसे बड़ा वयः क्या है ? पिलपिली वा कार्योत्पादनक्षम तत्त्व क्या है ? और समस्त कार्यों को निगल जाने वाला तत्त्व क्या है ?

१०—द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरश्व आसीद्बृहद्वयः ।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशगिला ॥५४॥

प्रत्युत्तर—

प्रतिभा नामी तत्त्व सर्वप्रथम चिन्तन का विषय है, महत्तत्त्व तदनन्तर सबसे बड़ा प्रकृति का कार्य है, समस्त जगत् के कार्य पदार्थों के रूप में परिवर्तन होने में प्रकृति पिलिप्पिला है और प्रलय की रात्रि समस्त कार्य पदार्थों को खा जाने वाली प्रकृति की अवस्था है ।

११—काईमरे पिशंगिला का ईं कुरुपिशंगिला ।
कईमा स्कन्द मर्षति कईं पन्थां विसर्पति ॥५५॥

अध्वर्यु होता से पूछता है—

अरे हे होतः ! पिशंगिला क्या है ? कुरु पिशंगिला क्या है ? कुदक कर कौन चलता है और विसर्पण कौन करता है ?

१२—अजारे पिशंगिला श्वावित्कुरु पिशंगिला ।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां विसर्पति ॥५६॥

प्रत्युत्तर—

हे अध्वर्यो ! नित्य प्रकृति पिशंगिला है । सेधा के समान वही किये रूपों को खाने वाली भी है । शश के समान वायु प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त करता हुआ कुदक कर चलता है और सर्प के समान मेघ विसर्पण करता है ।

१३—कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः ।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतार ऋतुशोयजन्ति ॥५७॥

हे उद्‌गातः ! इस संसार रूपी यज्ञ के कितने उपादानभूत तत्त्व हैं ? कितने इसके अक्षर अर्थात् व्यापनशील क्रियायें वा शक्तियाँ हैं? कितने इसके प्रकाशक कारण है ? कितने प्रकार से यह समक्ष प्रकाशित है और तुम इस यज्ञ के विषय में जानते हो अतः पूछता हूँ कि कितने होता इसका ऋतुशः संगतिकरण आदि करते रहते हैं ?

१४—षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः ।
यज्ञस्य ते विदथा प्रब्रवीमि सप्तहोतार ऋतुशो यजन्ति ।५८।

प्रत्युत्तर—

छः—अर्थात् अहंकार और पांच तन्मात्रायें इस जगत् की छः विष्ठा हैं । शत प्रकार की दैवी शक्तियां इसमें कार्य कर रही हैं । अस्सी इसके प्रकाशक पदार्थ हैं । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ अथवा भौतिक, दैविक और आध्यात्मिक रूप में यह प्रकाशमान स्थित है । यज्ञ के विषय के ज्ञान के द्वारा आपके प्रति यही बता रहा हूँ और सात प्राण अथवा सप्त प्रकृति विकृतियां इसका सभी ऋतुओं में संगतिकरण आदि करती रहती हैं ।

१५—को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम् ।
कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥५९॥

उद्‌गाता ब्रह्मा से पूछता है—

कौन जानता है इस भुवन के बन्धन भूत नियंत्रक कारण को ? कौन जानता है द्यु और पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को ? महान् सूर्य के निमित्त कारण को कौन जानता है ? कौन जानता है जिसकीनिमित्त कारणता से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और स्वयं चन्द्रमा को ?

१६—वेदाहमस्य भुवनस्य नाभि वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
वेद सूर्यस्य वृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥६०॥

ब्रह्मा उत्तर देता है—

जानता हूं मैं इस भुवन के नियंत्रक कारण (ब्रह्म) को। जानता हूं मैं द्यु और पृथिवी लोकों को तथा अन्तरिक्ष को। महान् सूर्य के निमित्तकारण (ब्रह्म) को जानता हूं और जानता हूं ब्रह्म को जिसकी निमित्तता से चन्द्रमा प्रकाशित है और चन्द्रमा के स्वरूप को।

१७—पृच्छामि त्वा परो अन्तः पृथिव्या पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामित्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमंव्योम ॥६१॥

यजमान अध्वर्यु से पूछता है—

हे अध्वर्यो! मैं पूछता हूं आप से कि इस पृथिवी का मध्य क्या है? पूछता हूं कि भुवन की नाभि=बन्धन कहां है? पूछता हूं आप से शक्तिशाली बीज को और पूछता हूं वाणी के परम उद्गम स्थान को।

१८—इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः
अयंऽसोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥६२॥

प्रत्युत्तर—

यह वेदि अर्थात् यज्ञवेदि वा कोई भी विन्दु पृथिवी का मध्य है क्योंकि भूमि गोल है। यह यज्ञ=पूजनीय भगवान् ही भुवन की नाभि है। यह सोम=विद्युत् ही शक्तिशाली अग्नि का बीज है। आकाश एवं ब्रह्म वाणी के परम उद्गम स्थान हैं।

इन मंत्रों से यज्ञ के वातावरण पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है—यह विदित है।

अष्टादश प्रकरण

मीमांसा और वैदिक यज्ञ

व्यास और जैमिनि ने अपने दर्शनों में यज्ञ का उल्लेख किया है। व्यास और जैमिनि का मत एक सा ही था। जैमिनि ने यज्ञों को दार्शनिक दृष्टि से विचारा। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि वैदिक यज्ञ-दर्शन बहुत ही प्राचीन दर्शन है। सभी दर्शनों में यज्ञानुष्ठान का वर्णन है। उपनिषदें भी इसी प्रकार यज्ञ की प्रक्रिया का वर्णन करती हैं। यज्ञ प्रक्रिया का दार्शनिक स्तर पर विचार करने का कार्य जैमिनि का है। इसीलिए पूर्वमीमांसा को छः दर्शनों में एक दर्शन स्वीकार किया गया है। लोग कहते हैं कि मीमांसा की दार्शनिकता क्या है? इस प्रकरण में इस पर थोड़ा सा विचार किया जायेगा। मीमांसा के कुछ वैज्ञानिक विचारों को दिखाया जायेगा जिससे उसका दार्शनिकपना स्वयं सिद्ध हो जावेगा।

कुछ ऐसे विद्वान् हैं जो यज्ञ प्रक्रिया के इतिहास लिखने में ही अपने को गौरवान्वित समझते हैं। उनका विचार ऐसा है कि यज्ञ-प्रक्रिया में वेद का अर्थ बहुत प्राचीन नहीं है। परन्तु उनकी यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। जब से वेद हैं तभी से यज्ञ प्रक्रिया और यज्ञ परक मंत्रार्थ भी हैं, जैमिनि, व्यास और निरुक्तकार यज्ञप्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। लगभग सभी दर्शन इसे मानते हैं। व्याकरण आदि में इस आधार पर व्याकरण के सूत्र रचे गए हैं। शाखाओं में यह प्रक्रिया पाई ही जाती है। अतः यह महाभारत काल में तो थी ही।

इसके अनन्तर शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ प्रक्रिया का पूरा विधान है और वेदार्थ भी उस ढंग पर किया हुआ है। इससे यह काल कई लाख वर्षों का हो जाता है। याज्ञवल्क्य जो शतपथ ब्राह्मण के कर्त्ता हैं महाराज जनक के काल के हैं। वह काल बहुत ही पुराना है।

वाल्मीकि रामायण में दो यज्ञों का प्रसंगतः वर्णन किया गया है। एक दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ और दूसरा जनक का वृष्टिकामेष्टि-यज्ञ। इस आधार पर भी यज्ञप्रक्रिया का समय बहुत प्राचीन बैठता है।

मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—मन्त्रेषु यानि कर्माणि कवयोऽपश्यं-स्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि" अर्थात् मंत्रों में जिन कर्मों को ऋषियों ने साक्षात् किया उनका त्रेता में बहुत ही विस्तार था। ऐसे ही आधारों को लेकर यज्ञप्रक्रिया का इतिहास त्रेता पर गिराया जाता है। परन्तु पूछना यह है कि इस उपनिषद् में किस त्रेता का वर्णन है यह तो बताइए। यह सबसे बाद वाली त्रेता है अथवा सबसे पूर्ववाली चतुर्युगी की प्रथम त्रेता है। इससे काल का निर्णय किस प्रकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उपनिषद् तो बहुत ही प्राचीन हैं। उन से तो यह काल बहुत आगे जाता है। यज्ञ-सम्बन्धी ग्रन्थ वेद के षडङ्गों में आते है। इनसे यज्ञ विज्ञान एक प्रकार की विद्या सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त मुण्डक का वाक्य यह बतला रहा है कि मंत्रों में ऋषियों ने जिन कर्मों को देखा उनका त्रेता में बड़ा विस्तार था। फिर तो मंत्र में ही यज्ञ आदि कर्म सिद्ध हुए। इस प्रकार वेदों में ही यज्ञ की प्रक्रिया का वर्णन है। अतः यह सिद्ध है कि जबसे वेद और उनके मंत्र हैं तभी से यह प्रक्रिया भी है। पाश्चात्यों का अनुकरण कर व्यर्थ में प्रत्येक वस्तु का इतिहास दिखाना ठीक नहीं है।

१—यज्ञ के अदृष्ट फल के विषय में वेद की प्रामाणिकता

सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि यज्ञ जिन उद्देश्यों को लेकर किए जाते हैं—वे स्वर्ग आदि प्रत्यक्ष तो हैं नही। फिर उनकी प्रामाणिकता कैसे मानी जावे कि यज्ञ उनके लिए किए ही जावें। साथ ही यज्ञ में वेद मंत्रों के द्वारा ही समस्त कर्म किए जाते हैं। वेद की प्रामाणिकता क्या है? और वे वेद क्या हैं? इन प्रश्नों का विचार बहुत ही महत्व रखता है। इस पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करते हुए जैमिनि ने सर्वप्रथम यज्ञ-धर्म को लेकर इन प्रश्नों का समाधान किया। यज्ञ आदि जिसके पालनार्थ किए जाते हैं वह धर्म क्या है? इसका उत्तर जैमिनि ने दिया कि कर्म करने की प्रेरणा के द्योतक विधान जिसमें पाए जावें वह धर्म है। यह प्रश्न उठ सकता है कि जो वेद मंत्र कर्म

करने का विधान वा विधि वाक्य नहीं है क्या वे धर्म में नहीं आवेंगे? इसका उत्तर यह है कि वे भी धर्म में आवेंगे और प्रेरणामय माने जावेंगे क्योंकि वे प्रेरणा का ज्ञान देते हैं और उसके विज्ञान को खोलते हैं।

इस धर्म की परीक्षा का प्रकरण उठाकर जैमिनि कहते हैं कि वेद इसके प्रतिपादक हैं अतः इनको प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है। उसके लिए किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं। यज्ञ के उद्देश्य और फल आदि भी भले ही हमें प्रत्यक्ष नहीं हैं परन्तु वेद से उनका प्रतिपादन होने से उनका होना और उनकी प्रामाणिकता में कोई भी बाधा नहीं आती है। इस विषय में जैमिनि का प्रसिद्ध सूत्र निम्न प्रकार है :—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यति-रेकश्चार्थे अनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्।। मी० १।१।५

साधारणतः यह सिद्ध है कि पुरुष की इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। परन्तु धर्मादि के फलों आदि के विषय में यह प्रत्यक्ष है नहीं। ऐसी स्थिति में ऐसे विषयों में वेद की प्रामाणिकता है और वह स्वतः प्रमाण है उसके प्रमाण के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जैमिनि के इस सूत्र को हम निम्न प्रकार उद्घाटित कर सकते हैं :—

१—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।
२—तस्य ज्ञानमुपदेशः
३—अव्यतिरेकश्च
४—अर्थे अनुपलब्धे तत्प्रमाणम् बादरायणस्य
५—अनपेक्षत्वात्।

इनका अर्थ क्रमशः निम्न प्रकार होगा—

१—वेद के शब्दों का सृष्टिगत पदार्थों एवं अर्थ के साथ औत्प-त्तिक एवं नित्य सम्बन्ध है।

२—इसका ज्ञान उपदेश है।

३—वेद का ज्ञान सत्य है और उसका किसी अन्य से बोध नहीं होता है। अथवा वेद का ज्ञान नित्य सत्य है उसका सृष्टिगत नियमों और पदार्थों के साथ बाध नहीं देखा जाता।

४—अतः बादरायण आचार्य (व्यास) के अनुसार और मुझ जैमिनि के अनुसार प्रत्यक्ष से न उपलब्ध होने वाले धर्म आदि अर्थ के विषय में वेदज्ञान प्रमाण है।

५—वेदज्ञान की प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं—क्योंकि वह स्वतःप्रमाण है।

यहां साधारणतः यह तथ्य स्पष्ट है कि शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध नित्य अर्थात् स्वाभाविक है। यहां पर सम्बन्ध नित्यता का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि शब्द में अर्थ विद्यमान है। बल्कि यह अर्थ लेना चाहिए कि शब्द का अर्थ अवश्य होता है। और शब्द से अर्थ का बोध होता है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक है वह किसी निमित्त से स्थापित किया हुआ नहीं हैं।

यहां सूत्र में उत्पत्ति शब्द का अर्थ है भाव और भाव का अर्थ है स्वभाव। यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मनुष्यकल्पित नहीं है। शब्द का उच्चारण वाणी से होता है। वाणी मनुष्य के शब्द उच्चारण का स्वाभाविक साधन है। यह ईश्वर प्रदत्त है। इसे किसी मनुष्य ने अपनी कल्पना से शब्द के उच्चारण का साधन नहीं बनाया। इसी प्रकार कान शब्दों का ग्रहण करता है। वह भी शब्द ग्रहण का स्वाभाविक साधन है। वह भी ईश्वर प्रदत्त है। उसे भी किसी मनुष्य ने ऐसा नहीं बनाया। ध्वनिप्रसारक यन्त्र और फोन का रिसीवर मनुष्य के द्वारा निर्मित यन्त्र हैं। वे क्रमशः बोलने और सुनने के साधन तो हो सकते हैं परन्तु वे वाणी और कान का कार्य नहीं कर सकते हैं। बोलने वाला किसी शब्द को इसलिए नहीं बोलता कि वह ध्वनि मात्र उत्पन्न करे। सुनने वाला भी ध्वनि मात्र का ग्रहण करने के लिए नहीं सुनता है। बल्कि बोलने वाला अर्थ के प्रकाश के लिए बोलता है और सुनने वाला अर्थ का ग्रहण करने के लिए सुनता है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है। इसी को नित्य कहा जाता है।

परन्तु नित्य का अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि शब्द में अर्थ विद्यमान है। यदि ऐसा होता तो मोदक कहते समय मोदक मुंह में आना चाहिए और अग्नि कहते हुये मुख जल जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता।

औत्पत्तिक शब्द का एक दूसरा भी अर्थ है। वह है उत्पत्ति सम्बन्धी। उत्पत्ति का अर्थ है सृष्टि के पदार्थों की उत्पत्ति। वैदिक शब्दों से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। जैसा कि प्रजापति ने 'भूः' कहा और पृथिवी को उत्पन्न किया। भुवः कहा और अन्तरिक्ष को बनाया तथा स्वः कहा और द्युलोक को उत्पन्न किया। इस प्रकार वेद-शब्द-पूर्विका यह सृष्टि है। इस सम्बन्ध का नाम औत्पत्तिक सम्बन्ध है। व्यास के सूत्रों से भी यह सिद्ध है।

दूसरे वाक्य का अभिप्राय है कि वेद के ज्ञान का नाम ही उपदेश है। यह ज्ञान भगवान् के उपदेश से मानव पर आया है।

तीसरे वाक्य में स्पष्ट कर दिया गया कि वेद का ज्ञान सृष्टि के नियमों और पदार्थों के अनुरूप है। जैसा वेद में सृष्टि के पदार्थों का वर्णन है वे वैसे ही हैं। उसके विपरीत नहीं। जैसा वेद में वर्णन है सृष्टि के नियमों का उससे विरोध नहीं। अतः वेद शाश्वत सच्चाइयों (Eternal Truths) का ज्ञान देते हैं। इस ज्ञान का कभी बाध नहीं हो सकता है। इसलिए धर्म के विषय में भी इनका जो उपदेश है वह तथ्य है और उसका बाध नहीं हो सकता है।

चतुर्थ वाक्य में आचार्य जैमिनि ने अपने गुरु का नाम प्रतिष्ठा ज्ञापन और प्रामाणिकता के प्रतिपादन के लिए लिया है। इस वाक्य में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष से जो पदार्थ उपलब्ध नहीं हैं उनके विषय में वेद की साक्षी अकाट्य है। वेद में इन तथ्यों के विषय में जो कुछ भी कहा गया है वह सत्य है। उसका किसी प्रकार बाध नहीं हो सकता। यदि वेद में कहे गये सृष्टि के पदार्थों का वर्णन सत्य उतरता है तो फिर अप्रत्यक्ष का जो वर्णन है वह भी तथ्य ही है। उसमें किसी प्रकार की अतथ्यता हो नहीं सकती है। व्यास का दर्शन वेदान्त और जैमिनि का दर्शन मीमांसा समकालिक हैं। जैमिनिकृत मीमांसा पूर्व मीमांसा है और व्यासकृत मीमांसा या वेदान्त उत्तर मीमांसा है। जैमिनि ने धर्म की जिज्ञासा में शास्त्र का प्रारम्भ किया और व्यास ने ब्रह्म की जिज्ञासा में शास्त्र का प्रणयन किया। दोनों का सम्बन्ध है। शास्त्र अर्थात् वेद की योनि वा कारण ब्रह्म है। वही नित्य वेद ज्ञान का दाता है। वेद का ज्ञान ही धर्म के विषय में परम और स्वतःप्रमाण है।

पांचवां वाक्य हेतुवाक्य है। वह सभी प्रतिज्ञाओं का हेतु है।

यह सिद्ध करता है कि वेद के स्वतः प्रमाण होने से उसके लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वेद की स्वतः प्रमाणता है। इसके लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता रह नहीं जाती है। वैशेषिक दर्शनकार ने भी धर्म के विषय में इसी प्रकार का विचार प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि धर्म का वचन एवं ईश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता अकाट्य है।

इस प्रकार वेद के प्रमाण को सिद्ध करके वैदिक कर्मों, यज्ञ आदि को करने के विषय में उठने वाले ऊपर लिखे गये प्रश्नों का समाधान कर दिया। पुनः वेद मन्त्रों की संज्ञा बाँध दी। ऋक्, यजुः और साम। यद्यपि वेद चार हैं। परन्तु यज्ञ को परिभाषा में जैमिनि ने चारों वेदों के मन्त्रों का तीन ही प्रकार माना है। चारों वेदों के मन्त्र इन्हीं तीन प्रकारों में हो सकते हैं।

वेद की प्रामाणिकता अन्य शास्त्रों में प्रधान और अनिवार्य एवं श्रेष्ठ है। अन्य शास्त्र वेदानुसार होने पर ही प्रामाणिक हैं। अन्यथा नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हैं। जैमिनि ने इसका पूरा निर्णय किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वर भाषिक होता है जब कि वेद मन्त्रों का स्वर त्रैस्वर्य है। अतः दोनों पृथक् हैं।

शाखाओं के विषय में भी इसी प्रकार निर्णय दिया है। मीमांसा के अनुसार भी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी नियत नहीं है जबकि वेद-मन्त्रों की वर्णानुपूर्वी नियत है। अतः दोनों में भेद है। इस प्रकार शाखा और ब्राह्मणग्रन्थ वेद न होकर वेदों के व्याख्यान हैं। किन शास्त्रों और स्मृतियों की प्रामाणिकता किस कोटि में मानी जावे इसका भी विचार जैमिनि ने किया है। वेद की प्रामाणिकता स्वतः और सर्वोपरि है। यह स्थापना जैमिनि ने की है।

२—धर्म के भेद और अपूर्व

धर्म पर यज्ञ आधारित है। अतः धर्म क्या है इसका प्रतिपादन होने पर भी इसके भेदों का जानना आवश्यक है। मीमांसा ने इसका विचार दार्शनिक स्तर पर किया है। ये धर्म के भेद तीन प्रकार के हैं। वे हैं—मनुष्य धर्म, ऋतुधर्म और व्यवहार धर्म। मनुष्य धर्म वह है जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। कर्म का करना मनुष्य के अधिकार में है परन्तु

सुख दुःख रूप फल ईश्वर के हाथ में है जो मनुष्येतर लोकोत्तर शक्ति है। अग्निहोत्र, पंचयज्ञ और विशेष यज्ञों का करना ऋतु धर्म है। खेती व्यापार आदि की प्रवृत्तियां व्यवहार धर्म हैं। इन सब के मौलिक सिद्धान्त हैं और धर्म में एवं मनुष्य धर्म में ये सभी सम्मिलित हैं।

अब अपूर्व पर विचार करना अपेक्षित है। जब मनुष्य कोई कर्म करता है तो कर्म नष्ट हो जाते हैं। सकर्मक कर्म कुछ परिणाम पैदा करके नष्ट हो जाते हैं—यह प्रत्यक्ष है। यज्ञकर्म किया गया। वायु शुद्ध हुई अथवा वृष्टि हुई। ये परिणाम तो देखने में आये। परन्तु यदि यही फल इन यज्ञों के हैं तो जब आवश्यकता पड़ेगी कर लिये जावेंगे। ऐसी स्थिति में ये नैतिक कर्त्तव्य नहीं बन सकते। परन्तु हैं ये कर्त्तव्य। जब कोई मर्ज पैदा होता है तब उसका इलाज किया जाता है। अगर यही फल इन यज्ञों का है तो जब आवश्यकता होगी तब इनकी कर्त्तव्यता भी होगी। मात्रा, परिमाण आदि का भी परिगणन तदनुसार करना होगा। परन्तु यज्ञ-प्रक्रिया का शास्त्रीय दर्शन ऐसा नहीं कहता है। वह कहता है कि किया कर्म एक अपूर्व वा अदृष्ट पैदा करके नष्ट होता है। कर्म किया हुआ सर्वथा ही नष्ट हो जावे ऐसा नहीं। इसका विशेष विवेचन मेरी पुस्तक 'कर्म-मीमांसा' में देखें। फिर यह अपूर्व क्या है?

यज्ञ किसी फल की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं। जैसा कि कहा गया है कि "स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे"। यह किया हुआ उसका यज्ञ तो करने के बाद समाप्त हो जाता है। स्वर्ग मिलेगा मृत्यु के पश्चात्। फिर कैसे माना जावे कि स्वर्ग यज्ञ का फल है। मीमांसा में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है। यज्ञ से एक अदृष्ट उत्पन्न होता है। उसी का नाम अपूर्व है।

यह अपूर्व समय पर परमेश्वर की व्यवस्था में फल देता है। यज्ञ करने के आदेश वाक्य वा विधि वाक्य यज्ञकर्त्ता में प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। यह प्रवृत्ति कर्त्ता को यत्नशील करती है। इसको नियोग कहते हैं। यह नियोग नियोज्य अर्थात् कर्त्ता में एक योग्यता उत्पन्न करता है जो कर्म की समाप्ति से लेकर फल की प्राप्ति तक रहती है। यही अपूर्व है। इसे अपूर्व इसलिए कहा जाता है कि यज्ञकर्म करने से पूर्व न यह था और न फल के पश्चात् यह रहेगा। यह यज्ञ

करने से उत्पन्न हुआ है। अपूर्व चार प्रकार के होते हैं। वे हैं—फल अपूर्व, समुदाय अपूर्व, उत्पत्ति अपूर्व और अङ्ग अपूर्व। फल अपूर्व वह मुख्य अपूर्व है जो अन्तिम फल की प्राप्ति कराता है। समुदाय अपूर्व समुदाय युक्त यज्ञों के हर एक समुदाय का अपना अलग अपूर्व है। उत्पत्ति अपूर्व उस समुदाय के हर एक यज्ञ का अपना अपूर्व है। अङ्ग अपूर्व हर उस छोटी क्रिया का अपूर्व है जो यज्ञ का अङ्ग है।

कुछ यज्ञ कई यज्ञों के समुदाय नहीं हैं। उनके करने से फल अपूर्व उत्पन्न होता है। कुछ यज्ञ कई समुदायों को मिला कर होते हैं। जैसे दर्शपौर्णमास। इनके दो समुदाय हैं। एक दर्श वा अमावस्या को होने वाला और दूसरा पूर्णिमा को। ये दोनों समुदाय अलग अलग अपूर्व बनाते हैं। जिनको समुदाय अपूर्व कहते हैं। इन समुदायों में से हर एक में तीन-तीन अवान्तर यज्ञ हैं जिनमें से हर एक उत्पत्ति अपूर्व बनाता है। इन यागों में कई छोटे कृत्य हैं उनका अपूर्व अलग बनता है और वही अङ्ग अपूर्व है। पिछले तीनों अपूर्व मिल कर फल अपूर्व बनाते हैं।

जैमिनीय दर्शन इस बात पर भी विचार करता है कि विधि वा प्रेरणावाक्य का कौनसा पद वा शब्द अपूर्व का द्योतक है। आचार्य जैमिनि का यह विचार है कि वाक्य का हर एक पद भिन्न-भिन्न अपूर्व नहीं बतलाता है। क्रिया पद जो विधि लिङ्ग है (जैसे यजेत) वह अकेला भी अपूर्व नहीं बनाता। वस्तुतः क्रियापद अन्य पदों से मिल कर उनकी सहायता से अपूर्व का द्योतक होता है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक प्रधान कर्म और दूसरे गौण कर्म। जो कर्म अपूर्व फल के लिए किये जाते हैं और जिनका फल दृष्ट नहीं है अर्थात् जिन क्रियाओं द्वारा न कोई चीज़ बनाई जाती न संस्कृत की जाती है वे प्रधान कर्म हैं। उदाहरणार्थ यजति, जुहोति, ददाति अर्थात् यज्ञ करता है, होम करता है और दान करता है। इनमें जो द्रव्य काम में लाये जाते हैं पुरोडाश घृत, स्वर्ण आदि वे मुख्य नहीं—गौण हैं। मुख्य तो यज्ञ है। जो द्रव्य होम में काम आता है उसे गुण कहा जाता है। जिन कर्मों द्वारा वे द्रव्य बनाये वा शोधे जाते हैं वे गौण कर्म कहाते हैं। जैसे "व्रीहीन् हन्ति" धान कूटता है—चावल पीसता है—खंभे बनाता है आदि में कूटना, पीसना बनाना गौण कर्म है। मुख्य कर्मों में धान, चावल आदि द्रव्य गौण

होते हैं, प्रधान नहीं। कर्म 'यजति', 'जुहोति' आदि प्रधान हैं, गौण कर्मों में द्रव्य प्रधान है, कर्म अप्रधान है। गौण कर्मों का फल दृष्ट होता है। जैसा कि यह सभी को ज्ञात है कि धान कूटने से चावल निकलता है।

प्रधान कर्मों का अपूर्व बनता है। गौण कर्मों का अपूर्व नहीं होता। स्रुवा को मांजना, आग को ठीक करना, परिधियों को करना, पुरोडाश को अग्नि पर रचना गौण कर्म है। सक्तून् जुहोति अर्थात् सक्तुओं से आहुति देता है—यह प्रधान कर्म है . स्तोत्र मन्त्रों का गान करना और शस्त्र मन्त्रों का पाठ करना—यह प्रधान कर्म है।

३—यज्ञ में आये शास्त्रीय सन्देहास्पद पदों का स्पष्टीकरण और विधि आदि का निर्णय

यज्ञ के आकर ग्रन्थों में अनेक यज्ञों का विधान है। इनमें प्रयुक्त शब्द, नाम, कर्म आदि के विषय में कभी सन्देह उत्पन्न हो जाता है। उनका निर्णय करना भी मीमांसा दर्शन का विषय है। इसीलिए इसे दर्शन का भी स्थान प्राप्त है।

अ—श्येनयाग और इषुयाग नाम से भी यागों का करना लिखा है। ये शत्रु के नाश के लिए हैं। भले ही ये शत्रु काम, क्रोधादि रूप हों। परन्तु जैमिनि का निर्णय है कि याग की कोटि में नहीं आते। क्योंकि उनका सम्बन्ध यज्ञ करने के उद्देश्यों से नहीं है।

आ—एक यज्ञ का नाम सहस्र-सम्वत्सरीय यज्ञ है। सहस्र सम्वत्सर अर्थात् सहस्र वर्षों तक यह यज्ञ अनवरत कैसे चलाया जावे—यह सम्भव नहीं। कात्यायन श्रौत सूत्र और मीमांसा दोनों में इस पर विचार किया गया है। दोनों के हो सूत्र प्रायः एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। कुछ आचार्य इसका समाधान यह करते हैं कि मनुष्य की आयु उतनी लम्बी नहीं है अतः यह पुश्त दर पुश्त चलाया जावे। परन्तु जैमिनीय मीमांसा और कात्यायन श्रौत सूत्र में दूसरा समाधान यही किया गया कि असम्भव ही दोष होने से 'सम्वत्सर' का अर्थ दिन माना जावे, वर्ष नहीं। सम्वत्सर पद का अर्थ वर्ष होता है। परन्तु आचार्य ने यहां पर उसका अर्थ दिन किया है। अर्थात् सहस्र सम्वत्सरीय यज्ञ का अर्थ सहस्र दिन पर्यन्त चलने वाला यज्ञ है।

इ—ज्योतिष्टोम का ही नाम सोमयाग भी है। क्योंकि इसमें सोम को पीस कर उसका रस लकड़ी के पात्र में रखते हैं जिनको ग्रह कहा जाता है। इन ग्रहों के पृथक् पृथक् नाम हैं। वे हैं—उपांशुग्रह, अन्तर्याम, ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्र, मन्थी, आग्रयण, उक्थ्य, ध्रुव, ऋतुग्रह और वैश्वदेव। इन ग्रहों में से रस लेकर आहुति दी जाती है। आहुतियों के साथ सोमयाग भी होता है। किसी मन्त्र को रथन्तर साम में गाते हैं, किसी को बृहत्साम में तो किसी को जागत साम में। यहां पर यह विधान किया है कि जब रथन्तर साम गाया जावे तो ऐन्द्रवायव नामक ग्रह से रस लिया जाय और जब बृहत्साम गाया जावे तो शुक्र ग्रह से।

यहां पर यह निश्चय जैमिनि ने किया कि यह ग्रहाग्रहाग्रता ज्योतिष्टोम का ही अङ्ग है। रथन्तरसामा सोम और बृहत्सामा सोम कोई इतर याग नहीं। ज्योतिष्टोम के ही यह नाम हैं क्योंकि वहां पर ज्योतिष्टोम का ही प्रकरण है और ज्योतिष्टोम को ही सोमयाग भी कहते हैं।

ई—राजसूय याग के अन्दर एक और याग आता है जिसे अवेष्टि कहते हैं। राजसूय का अधिकार राजा को ही है। ब्राह्मण आदि अन्य वर्णों को नहीं। तब राजसूय में जो अवेष्टि यज्ञ है, उसमें यदि ब्राह्मण यज्ञ करे, यदि क्षत्रिय यज्ञ करे और यदि वैश्य यज्ञ करे, इस प्रकार जो वर्णों द्वारा यज्ञ करना लिखा है क्या यह समझा जावे कि यह अवेष्टि राजसूय का अङ्ग नहीं है। आचार्य जैमिनि कहते हैं कि यह स्वतन्त्र इष्टि है। यह राजसूय याग का अङ्ग नहीं।

उ—वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे, ग्रीष्म में क्षत्रिय और शरद् ऋतु में वैश्य। यहां पर अग्न्याधान एक स्वतन्त्र कर्म है। किसी दूसरे याग का अङ्ग नहीं।

ऊ—कुण्डपायिनामयन एक स्वतन्त्र याग है। उसके प्रकरण में जो अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास कर्म दिये हैं वह नित्य अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास के द्योतक नहीं। उनका सम्बन्ध कुण्डपायिनामयन से है। क्योंकि उसी का प्रकरण है।

ए—यज्ञों की भिन्नता की ६ पहचानें होती हैं :—

१. शब्दों का भिन्न होना।
२. यज्ञों का नाम वा संज्ञा का भिन्न होना।
३. गुण अर्थात् द्रव्य का भिन्न होना।
४. फल भिन्न हों।
५. दुबारा कहा गया हो।
६. संख्या दी गई हो।

ऐ—बह्वृचब्राह्मण में यह आदेश है कि 'यावज्जीवं अग्निहोत्र जुहोति—यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' अर्थात् अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास इष्टियों को जीवन पर्यन्त करे। यहां यावज्जीवं शब्दों के अर्थ पर शंका होती है। वह यह कि यहां पर यावज्जीवं शब्द कर्त्ता के लिये आया है वा कर्म के लिये। यदि कर्म के लिये आया है तो इसका अर्थ यह होगा कि जीवन भर निरन्तर अग्निहोत्र ही करता रहे। अन्य कुछ काम न करे। ऐसा मानना महान् अनर्थ होगा। इसलिए आचार्य ने यह बताया कि यावज्जीवम् पद कर्त्ता के लिये आया है। कर्म के लिए नहीं। अर्थात् कर्त्ता जीवनपर्यन्त अपना कर्त्तव्य समझ कर इन कर्मों को विधि के अनुसार यथाकाल करे। यह व्याकरण सम्बन्धी उलझन थी, आचार्य ने इसे स्पष्ट कर दिया।

ओ—भिन्न भिन्न शाखाओं—काठक, कालापक आदि शाखाओं में यज्ञ एक ही नाम से दिये गए हैं, वे भिन्न नहीं—एक ही हैं। यह भिन्नता का द्योतक नहीं है।

४—यज्ञों में वाक्यार्थ निर्णय की कसौटी

जैमिनीय मीमांसा की यह एक बहुत बड़ी देन है कि उसने वाक्यार्थ निर्णय की कसौटी स्थापित की है। यज्ञों में विधि विधान के अनेक वाक्य हैं जिनका अर्थ सम्बन्ध निकालना कठिन हो जाता है। जैमिनि ने उसका बड़ा सुन्दर उपाय बताया है। यह उपाय यद्यपि यज्ञसम्बन्धी वाक्यों को देकर प्रयोग में लाया गया है, परन्तु है बहुत व्यापक। चाहे प्राड्विवाक् हो चाहे अन्य कोई, सभी के लिये ये बहुत आवश्यक हैं। व्याख्या करने के लिए यह प्रकार सर्वत्र लागू है। वकीलों आदि सभी को यह पढ़ना चाहिये और यह अत्यन्त उपयोग का है। जैमिनि का सूत्र निम्न प्रकार है :—

श्रुति-लिङ्ग-वाक्य प्रकरण-स्थान समाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥ मी० ३।३।१४

इस प्रकार ये छः कसौटियां बनती हैं। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं :—

१. श्रुति- ऐन्द्रयागार्हपत्यमुपतिष्ठते—यहां पर श्रुति में ही गार्हपत्य पद और विनियोग पाया जा रहा है। कुछ लोग वाक्य को देख कर यह कहते हैं कि यहाँ पर तो 'ऐन्द्रया' पद स्पष्ट बता रहा है कि इन्द्र सम्बन्धी ऋचा से उपस्थान हो अतः इन्द्र का उपस्थान प्रतीत होता है। ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान नहीं हो सकता है क्योंकि वह तो अग्नि से सम्बद्ध है। यहां पर लिङ्ग से यद्यपि इन्द्र का उपस्थान सिद्ध हो रहा है परन्तु श्रुति से गार्हपत्याग्नि का ही सम्बन्ध है। ऐन्द्री ऋचा ये हैं— न कदाचन स्तरीरसि०, नेन्द्र-सश्चसि दाशुषे। ऋ० ८।५।१।७। इनमें इन्द्र का लिङ्ग द्वारा उपस्थान स्पष्ट है। परन्तु मन्त्रों में उपस्थान सूचक कोई शब्द नहीं है। परन्तु वाक्य में 'गार्हपत्यम्' पद से गार्हपत्य सम्बन्धी उपस्थान स्पष्ट है।

इसी प्रकार इस वाक्य का अर्थ भी होगा। यहां पर लिङ्ग की अपेक्षा श्रुति की प्रधानता रही। वाक्यार्थ की संगति ठीक बन जावेगी। ऐन्द्री का अर्थ है इन्द्र सम्बन्धी। परन्तु गार्हपत्य में अग्नि का देवत्व है। अतः इन्द्र पद का अर्थ भी अग्नि ही होगा। ञिन्धी दीप्तौ धातु से इन्द्र शब्द बना है। जिसका अर्थ है जलाने वा दीप्त करने वाला अग्नि। अतः ऐन्द्रया का अर्थ होगा 'आग्नेय्या'। पूरा वाक्य होगा 'आग्नेय्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'।

२. लिङ्ग—वर्हिर्देव सदनं दामि। यहां पर कुश का अर्थ लिङ्ग वचन से ज्ञात है। यहां पर लिङ्ग की प्रबलता है जब कि क्रम के अनुसार यहां पर कुशा बिछाने और पुरोडाश का प्रकरण है, परन्तु 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इस पुरोडाश वाक्य में भी लिङ्ग 'सदनं-कृणोमि' कुशा बिछाने का ही समर्थन कर रहा है। यहां लिङ्ग ने प्रकरण का बाध कर दिया है। १-अग्निसोमाविदं हविरजुषेताम् अवीवृधेताम् महो ज्यायो क्राताम्। २–इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम् महो ज्यायो क्राताम्॥ तै० ब्रा० ३।५।१०-३॥ यहां पर वाक्य बली हैं अतः संख्या एक को पूर्णमास में और संख्या दो को दर्श इष्टि में विनियुक्त करना चाहिए। यदि प्रकरण को प्रधानता दी जावे तो दोनों वाक्यों को मिला कर पढ़ना पड़े और इस प्रकार पूर्णमास

इष्टि में 'अग्निषोमाविदं हविरजुषेतां महो ज्यायो क्राताम् अवीवृधेताम् महो ज्यायो क्राताम्—यहां पर 'इन्द्राग्नी' छोड़ दिया जावे, क्योंकि इन्द्राग्नी पूर्णामासो का देवता नहीं है।

दर्श इष्टि में—इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम् अवीवृधेताम् महो ज्यायो क्राताम्, अवीवृधेताम् महो ज्यायो क्राताम्—यहाँ पर अग्निषोमौ छोड़ दिये जावें, क्योंकि दर्शेष्टि के देवता अग्निषोमौ नहीं हैं। अतः यहां वाक्य के बली होने से दोनों वाक्यों को मिलाया नहीं गया।

३. वाक्य का उदाहरण है 'अरुणया क्रुणाति', परन्तु जब इन तीनों पहचानों का अभाव हो तो क्रम से जानना चाहिए।

४. प्रकरण का उदाहरण है—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति (तै० शाखा २।६।१।१) ये वाक्य दर्शपूर्णमास के प्रकरण में दिये हैं अतः इनका विनियोग वही समझना चाहिए। इनका ज्योतिष्टोम या अग्निष्टोम से सम्बन्ध नहीं है।

५. स्थान अर्थात् क्रम का उदाहरण इस प्रकार है—जैसे एक स्थल पर आग्नेय, उपांशुयाज और अग्निषोमीय का एक क्रम से उल्लेख है। इसी क्रम से तीन मन्त्र भी हैं। पहला मन्त्र है अग्नेरहे देवयज्यया०, दूसरा मन्त्र है—दब्धिर्नामासि० और तीसरा मन्त्र है—अग्निषोमीययोरहम्॥ तै० शाखा १।६।११।६, श्रौ० १।४।२।४॥ इसलिये क्रमानुसार दब्धिर्नामासि०—यह मन्त्र उपांशुयाग में पढ़ना होगा।

६. आख्या अथवा नाम का उदाहरण यही है कि जिस कर्म को आध्वर्यव कहा गया है उसको अध्वर्यु को करना होगा। इस प्रकार इनमें बाद वालों की अपेक्षा पूर्व वाले बली हैं। ये वस्तुतः व्यापक नियम हैं जो अर्थ की संगति लगाने में सहायक हैं।

५—यजमान के कर्त्तव्य आदि

यजमान के कर्त्तव्य पर भी पर्याप्त विचार मीमांसा में किया गया है।

१—दक्षिणा प्रदान कर ऋत्विजों की सेवाओं का क्रय करना। जैसे ज्योतिष्टोम में १२०० मुद्रा देना अथवा दर्शपौर्णमास में अन्वाहार्य अर्थात् पके चावल देना।

परन्तु जहां विशेष विधान है वहां यह दक्षिणा दूसरे भी दे सकते हैं। उदाहरणार्थ—य एतामिष्टकामुपदध्यात् स त्रीन् वरान् दद्यात् (तै० शाखा ५।२।८।३) अर्थात् जो इस ईंट को रखे वह तीन गायें दान में दे। यहां पर ईंट रखने वाला और दक्षिणा देने वाला यजमान से अन्य है।

२—ज्योतिष्टोम के सम्बन्ध में जो केश और दाढ़ी मुड़ाने, दांत धोने, नाखून काटने और स्नान करने का विधान है वह यजमान को करना है।

३—दिन में दो बार न खाय तीन बार न खाय—यह कार्य भी यजमान का ही है।

४—श्येन याग में लाल पगड़ी और लाल वस्त्र पहनने का तथा वाजपेय में स्वर्ण की माला पहनने का विधान सब ऋत्विजों के लिये है।

५—ज्योतिष्टोमे—यदि कामयेत वर्षेत पर्जन्य इति नीचैः सदो मिनुयात्। यहां पर वर्षा की इच्छा, सदस् का नीचे की ओर बनाना यजमान का काम है। परन्तु जहां विशेष नाम दिया हो वहां अन्य भी कामना कर सकते हैं। जैसे 'उद्गाताऽऽत्मने वा यं कामं कामयते तमागायति' अर्थात् उद्गाता अपने लिए या यजमान के लिए जो कामना करना चाहे उसका गान करे। यहां यह काम उद्गाता को करना है—यजमान को नहीं।

६—आयुर्दा अग्नेऽसि आयुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि—यह मन्त्र यजमान के पढ़ने के हैं। वह यज्ञ स्थल से दूर होते हुये भी यह प्रार्थना कर सकता है क्योंकि लिखा है 'इह एव सन्, तत्र सन्तं त्वाग्ने—इत्यादि। अर्थात् यह अग्नि वहां है और मैं यहां हूं। मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूं।

७—यदि कोई मन्त्र दो बार दिया हो तो यजमान भी पढ़े और अध्वर्यु भी। जैसे पंचानां त्वा वातानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि (तै० शाखा १।६।१।२) इस मन्त्र को पढ़कर दर्शपूर्णमास में आज्य लिया जाता है। यह मन्त्र अध्वर्यु के प्रकरण में भी दिया है और यजमान के प्रकरण में भी। अतः दोनों को ही पढ़ना होगा। इसी प्रकार वाजस्य मा प्रसवेन० (तै० शाखा १।१।१२।१) भी दोनों को पढ़ना होगा।

७—वाजपेय यज्ञ के सम्बन्ध में यह आदेश है। क्लृप्तीर्यजमानं वाचयति उज्जितीर्यजमानं वाचयति अर्थात् क्लृप्ती मन्त्र को यजमान से पढ़वावे और उज्जिती मन्त्र को यजमान से पढ़वावे। ये दोनों मन्त्र यजमान से ही पढ़वाने चाहिएं।

९—दर्शपौर्णमास के यजमान काण्ड में जो बारह द्वन्द्व या जोड़े दिये गए हैं वह अध्वर्यु को करने होंगे। इन द्वन्द्वों का वर्णन तैत्तिरीय शाखा १।६।९।३-४ में इस प्रकार दिया है :—

अ—बछड़े को (जहां दान आदि का प्रसंग हो) खोले और कड़ाही को आग पर रखे।

आ—अनाज को छरे और सिलबट्टे को शम्या से साफ करे।

इ—आटे को गूंधे और कपालों को आग पर रखे।

ई—पुरोडाश पकावे और घी पिघलावे।

उ—स्तम्बयजु को लावे और ग्रहण करे तथा वेदी को स्पर्श करे।

ऊ—यजमान पत्नी की कमर में रस्सी बांधे और प्रोक्षणीपात्र तथा आज्य रखे।

१०—ज्योतिष्टोम नामक प्रकृति की एक विकृति इष्टि है जिसका नाम कुण्डपायिनामयन है। इसमें होता ही अध्वर्यु का काम करता है। अध्वर्यु अलग नहीं होता है। कुण्डपायिनामयन में एक मन्त्र पढ़ा जाता है जिसे करण मन्त्र कहते हैं। वह मन्त्र है—"परिवीरसि०"। ज्योतिष्टोम में इस मन्त्र का पढ़ना अध्वर्यु का काम है। परन्तु कुण्डपायिनामयन में यह कार्य होता को ही करना चाहिए। इसी प्रकार अध्वर्यु का कार्य है कि वह आध्वर्यव कर्म कराने के लिए आग्नीध्र को आज्ञा देवे। अध्वर्यु आज्ञा देता है कि प्रोक्षणी लाओ, समिधायें और कुशायें रखो, स्रुवों को मांजो। यह आज्ञायें तो दूसरा ही पालेगा अतः आग्नीध्र को गौण रूप में अध्वर्यु भी कहा जावेगा क्योंकि वही आध्वर्यव कर्म का पालन कर रहा है।

यद्यपि करण मन्त्र का पढ़ने वाला अध्वर्यु है तथापि यज्ञ का फल मिलता है यजमान को क्योंकि उसी के हित के लिए यज्ञ किया जाता है। इसलिए यद्यपि 'ममाग्ने वर्चो' आदि मन्त्र अध्वर्यु बोलता है, परन्तु यह प्रार्थना वह यजमान के प्रतिनिधि के रूप में करता है। क्योंकि स्पष्ट कहा है कि 'यां वै कांचन ऋत्विज आशिष-

माशासते यजमानस्यैव सा। अर्थात् जो कुछ भी आशिष् ऋत्विज् मांगता है वह यजमान की ही होती है। परन्तु कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनका फल ऋत्विजों वा अध्वर्यु को भी मिलता है।

एक दूसरा उदाहरण है। दक्षिणहविर्धान (गाड़ी) के नीचे चार छिद्र होते हैं। ऊपर खुले और नीचे मिले हुए। अध्वर्यु उनमें हाथ डालकर पूछता है कि इनमें क्या है? यजमान उत्तर देता है—'भद्र'।

अध्वर्यु प्रत्युत्तर में कहता है 'हम दोनों का भद्र हो'। यह आशीर्वाद अध्वर्यु के लिए भी है।

११—'स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करे'—इस कथन से यह समझना चाहिए कि यजमान में पहला गुण स्वर्ग की कामना का होना चाहिए।

१२—यज्ञ का अधिकार केवल मनुष्य को ही है। पशु पक्षी आदि को नहीं। जो मनुष्य योग्यता रखता है उसकी वही यज्ञ कर सकता है। मनुष्य में नर और नारी दोनों सम्मिलित हैं। पति पत्नी दोनों को मिलकर यज्ञ करने का अधिकार है। अग्न्याधान का अधिकार अकेले पति को है। पति और पत्नी दोनों ही यज्ञ के साझीदार हैं. परन्तु पति पुरुष है और पत्नी स्त्री है, अतः उनके कर्त्तव्य बँटे हुए हैं। आशीर्वाद और ब्रह्मचर्य आदि कर्म दोनों को करने चाहिएं। आज्य वा घी का निरीक्षण पत्नी को ही करना चाहिए। सिर मुंडाने आदि कार्यों को पति करेगा। द्रव्यहीन को यज्ञ करने का अधिकार है। अङ्गहीन भी यज्ञ करने का अधिकारी है, परन्तु ऐसे अङ्ग से विहीन न हों कि यज्ञ करने में सर्वथा अशक्य हों। रथकार और स्थपति को भी यज्ञ करने का अधिकार है।

१३. सत्र में १७ से कम और २४ से अधिक यजमान नहीं होते। ये सब मिलकर यज्ञ करते हैं। हर एक को पूरे यज्ञ का फल मिलता है। क्योंकि यदि पचास व्यक्ति एक हाथी को देखते हैं तो प्रत्येक पूरा ही हाथी देखता है: दर्शयाग, पौर्णमास, ज्योतिष्टोमयाग आदि में यजमान एक ही होता है।

१४. जो काम्य याग आरम्भ किये जायं उनको समाप्ति तक जारी रखना चाहिए। इसे बीच में छोड़ने पर प्रायश्चित्त लगता है।

यजमान आदि को कलंज, लहसन, आदि खाने का शास्त्र में निषेध है। इन से हानि होती है। निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान अनिष्ट है।

१५—वैदिक कर्मों की कर्त्तव्यता उपनयन के उपरान्त लागू होती है, जैसे गुरु के पीछे चलना, गुरु को अभिवादन करना। वृद्ध पुरुष के सामने बैठा हो तो खड़ा होना चाहिए। उसका आदर करना चाहिए। ये सब कर्म उचित अवसरों पर करना चाहिए।

१६—अग्निहोत्र वा दर्शपौर्णमास आदि याग जिनके यावज्जीवन करने का विधान है अपने अपने समय पर ही किए जाने चाहिए। निरन्तर लगातार नहीं।

१७—यदि यज्ञ करते हुए पात्र टूट जाय या द्रव्य फैल जाय तो प्रायश्चित्त की आहुतियां दी जाती हैं। जब जब ऐसी दुर्घटना होगी तब तब आहुति दी जावेगी।

१८—जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः (तै० शा० ६।३।१०।५) जब ब्राह्मण उत्पन्न होता है तो तीन ऋण उस पर होते हैं। ऋषि ऋण ब्रह्मचर्य रखकर चुकाया जाता है, देव ऋण यज्ञ करके और पितृ ऋण सन्तान उत्पन्न करके चुकाना होता है। यहां पर ये ऋण न केवल ब्राह्मण के लिए ही है अपितु क्षत्रिय और वैश्य के लिए भी हैं। यद्यपि इस शाखा वचन में ब्राह्मण पद का प्रयोग है परन्तु अन्य श्रुतियों के आधार पर यह क्षत्रियों आदि पर भी लागू होता है।

न्यायदर्शन में भी इस पर विचार किया गया है। वहां प्रश्न यह उठाया गया है कि 'जायमानः' पद 'उत्पन्न होते हुए' अर्थ को देता है। उत्पन्न होते ही बालक अशक्त और अयोग्य है। फिर उसे इस कर्म का अधिकार देना अशक्त और अयोग्य को कर्माधिकार देना है जो उचित नहीं। भाष्यकार वात्सायन कहते हैं कि इन प्रमाणों में शब्दों की यौगिकी समाख्या माननी चाहिए। अर्थात् इनका यौगिक अर्थ लेना चाहिए। अतः जायमानः का अर्थ होगा 'गृहस्थः संपद्यमानः अर्थात् गृहस्थ होता हुआ। इसी प्रकार ब्राह्मण पद भी यौगिक ही लेना चाहिए। अन्यथा अन्य वर्णों को यह अधिकार और ऋण लागू नहीं होंगे। अतः यहां पर ब्राह्मण पद का अर्थ वेदाधिकारी द्विज अथवा मनुष्य लेना चाहिए।

६—देवता विषय पर कुछ विचार

मीमांसा दर्शन में यज्ञ के देवता के विषय में भी कुछ विचार किया गया है।

आहुति देते समय विधि वाक्य में जो देवता का नाम आया है उसी को पढ़ना चाहिए। उसके पर्यायवाची पदों को नहीं। जैसे—'अग्नये स्वाहा' में अग्नये पद का ही प्रयोग होगा, अनलाय वा पावकाय का नहीं। जब कहा जाता है कि देवता यज्ञ का साधन है तो वहाँ रूप से अभिप्राय नहीं—शब्द से है। जहाँ पर ऊह होगा वहां पर भी विधि वचन वाले शब्द का ही प्रयोग होगा। जैसे सौर्यं चरु—यहां पर मंत्र में सूर्य ही शब्द आवेगा, आदित्य, प्रभाकर आदि पर्याय वाचक पद नहीं आवेंगे।

यदि कहीं पर अग्नि के साथ कोई गुणवाचक पद दिया गया हो तो वही शब्द साथ में आना चाहिए। जैसे—अग्नये पवमानाय।

२—पवमान इष्टियों में अग्न्याधान में जो आज्य भाग आहुतियों में देवता का नाम आया है वहां पर गुण का नाम न होगा। य एवं विद्वानग्निमाधत्ते—यहां पर अग्न्याधान का विषय है। इसमें पवमान इष्टियां होती हैं जिनमें दो आज्यभाग आहुतियां हैं। वहाँ पर अग्नि और सोम के गुणवाचक पद दिए हैं—बुध्नवानाग्नेयः कार्यः। पावकवान् सौम्यः। यहां पर अग्नये के साथ बुध्नवते नहीं कहा जावेगा और न सोम के साथ पावकवते कहा जावेगा। क्योंकि ये पद अग्नि और सोम के विशेषण नहीं हैं। ये आग्नेय आहुति वा सौम्य आहुति के विशेषण हैं। आग्नेय और सौम्य तद्धित प्रत्ययान्त शब्द हैं। अतः अग्नि और आग्नेय में भेद है।

३—देवता का अर्थ क्या है?

पहला पक्ष यह मानता है कि जो इतिहास और पुराणों में नाकसद या स्वर्ग में रहने वाले अग्नि आदि प्रसिद्ध हैं वही देवता हैं। यह ठीक नहीं क्योंकि इनमें शार्दूल आदि अथवा अहः (दिन) का उल्लेख नहीं। परन्तु कालवाचक भी देवता बताए गए हैं—यथा मासो देवता, सम्वत्सरो देवता।

दूसरा मत है कि मंत्र और ब्राह्मण में जिनको देवता कहा गया

है। जैसे अग्नि देवता, वातो देवता। यहां भी अहः आदि का नाम नहीं अतः इतना ही नहीं देवता समझना चाहिए।

तीसरा मत है कि सूक्तभाक् और हविर्भाक् को देवता कहना चाहिए। सूक्तभाक् देवता वे देवता हैं जिनका नाम लेकर मंत्र पढ़े जाते हैं। हविर्भाक् वे देवता हैं जिनका नाम लेकर आहुतियां दी जाती हैं। वस्तुतः यज्ञ में यही ठीक है क्योंकि ऐसा प्रयोग मिलता है—अग्निदेवत्यं सूक्तम्। अग्निदेवत्यं हविः। ऐसा भी प्रयोग मिलता है अतिथिदेवत्यम्, पितृदेवत्यम्। इसलिए मूर्त्त वा अमूर्त्त चेतन वा अचेतन जिस किसी के लिए उसके प्रयोजन की सिद्धि के लिए कोई कार्य किया जाय वही उसका देवता है। सामान्य परिभाषा यही है—यस्या वाचकं शब्दमुद्दिश्य स्मृत्वा वा हविस्त्यक्ष्यामि=ऐसा संकल्प किया जावे वही देवता है। जब यह कहा जाता है कि देवता यज्ञ का साधन है तो वहां देवता के रूप से अभिप्राय नहीं, नाम से है।

४—गोयज्ञ में श्रुति में 'उस्रायै' पद गौ के लिए है। वहाँ पर 'उस्रा' ही प्रयोग होना चाहिए 'गौ' आदि पर्यायवाचक पद नहीं। इसी प्रकार पृषदाज्येन वनस्पतिं यजति—यहां पर वनस्पति शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए 'वृक्ष' आदि पर्यायों का नहीं।

५—'अवभृथ' याग में अग्निवरुणौ स्विष्टकृतौ यजति प्रयोग है। यहां अग्नि और वरुण का विशेषण स्विष्टकृत् दिया गया है। अतः आहुति देते समय स्विष्टकृत् शब्द देवता के नाम के साथ अवश्य लगाना चाहिए और अग्नये स्विष्टकृते, वरुणाय स्विष्टकृते बोलना चाहिए।

६—दर्शपौर्णमास के अनुयाजों में स्विष्टकृत् आहुति संस्कार के लिए हैं—स्वतंत्र कर्म नहीं। उसी प्रकार 'याज्या' और पुरोऽनुवाक्या भी संस्कार कर्म हैं—स्वतंत्र कर्म नहीं।

७—मंत्रों की संख्या पूर्ति का प्रकार

जहाँ शास्त्र में यज्ञार्थ पठनीय मंत्रों की संख्या किसी विशेष कर्म के लिए दी गई है वहां पर निश्चित संख्या की पूर्ति किस प्रकार की जावे। उदाहरण के लिए देखना चाहिए कि प्रयाज पाँच होते हैं। आदेश है कि अग्निषोमीय पशुयाग अर्थात् पुरोडाश याग में ११ प्रयाज हों। यहां पर ११ प्रयाजों का क्या अर्थ है? क्या पाँचो प्रयाजों को

ग्यारह ग्यारह बार पढ़ना चाहिए ? इस प्रकार तो ५५ हो जावेंगे। यहां पर इस विषय में सिद्धान्त यह है कि पांच प्रयाज पढ़ो फिर पांच और पढ़ो जब दश हो जावें तो अन्त का प्रयाज पढ़कर ग्यारह की संख्या पूरी कर दो। ग्यारह अनुयाजों की पूर्ति भी ऐसे ही करो। इसी प्रकार चातुर्मास्य के ६ प्रयाजों और ६ अनुयाजों की पूर्ति होनी चाहिए।

२—जब किन्हीं मंत्रों को दुहराकर संख्या पूर्ति की जाती है तो इस आवृत्ति या दुहराने की दो रीतियां हैं। एक का नाम है दण्ड-कलितवत् आवृत्ति। यहां दण्ड का अर्थ है पैमाना (गज आदि)। जब गज से जमीन नापते हैं तो पूरा गज भर पहले नाप कर फिर जहाँ गज का अन्त होता है वहां से दूसरे गज का आरम्भ करते हैं। ऊपर प्रयाजों की ग्यारह संख्या करने में दण्डकलितवत् आवृत्ति की गई। दूसरी रीति यह है स्वस्थानविवृद्धि। इसके अनुसार पहले एक मंत्र को दुहरा लिया जाता है। फिर दूसरे मंत्र को दुहरा लिया जाता है। अग्निवेदी में छः उपसद बताए गए हैं। प्रकृति याग में ३ उपसद बताए गए हैं। प्रश्न यह है कि इन तीनों को ६ कैसे किया जाय। सिद्धान्त यह है कि यहाँ दण्डकलित विधि न लगाई जावे। यहाँ पर स्वस्थानविवृद्धि रीति लगाई जावे। क्योंकि इन उपसदों की अनुपूर्वी (पूर्वापरीभाव क्रम) नियत है। दण्डकलितवत् विधि लगाने पर तो तीसरे उपसद के पीछे पहला उपसद आ जाएगा। यह अनु-चित होगा।

३—दर्शपौर्णमास में सामिधेनी ऋचायें पढ़नी होती हैं। ये सामधेनी ऋचायें ग्यारह हैं। परन्तु व्यवहार में इनकी संख्यायें भिन्न हैं। जैसे शतपथ ब्राह्मण (१, ३, ५, ७) में १५; शतपथ १।३।५।१० में और ३।१।३।६ में १७; तथा ३।३।५।१७ में २१, १५ की संख्या पूरी करने के लिये पहली और अन्त वाली सामिधनी ऋचावों को तीन बार पढ़ते हैं। २१ संख्या की पूर्ति के लिए ऋग्वेद १० वें मण्डल की कुछ ऋचायें जोड़ दी जाती हैं। ये अन्त में जोड़ी जाती है परन्तु दो ऋचाओं को जिनका नाम धाय्या है समिध्यमानवती ऋचा (ऋग्वेद ५।२८।५) के बीच में पढ़ना चाहिए। धाय्या दो ऋचायें हैं। ऋग्वेद मण्डल ३, सुक्त २७ की पाँचवीं और छठीं। यह पृथुपाजा शब्द वाली हैं और उष्णिक् और ककुप् छन्द की हैं।

४—प्रकृतियाग में बहिष्पवमान मंत्र ९ होते हैं अर्थात् तीन तृच्। पहले तृच् का नाम है स्तोत्रिय, दूसरे का अनुरूप और तीसरे का नाम पर्यास है। बहिष्पवमान के विकार में अतिरिक्त मंत्र जोड़कर संख्या पूरी की जाती है। २१ करने हों तो चार तृच् या १२ मंत्र जोड़ेंगे; २७ करने हों तो ६ तृच् अर्थात् १८ मंत्र। तैंतीस करने हों तो ८ तृच् अर्थात २४ मंत्र। द्वादशाह में दो तृच् तो स्तोत्रिय और अनुरूप हैं फिर कुछ तृच् होते हैं जिनका नाम वृषणवन्त है। इनका अन्तिम तृच् पर्यास होता है। द्वादशाह में जो मंत्र जोड़े गए वह पर्यास के पूर्व जोड़े गए। परन्तु बहिष्पवमान में पर्यास के पीछे बढ़ाया जावेगा।

५—पहले दो पवमान स्तोत्रों में कुछ साममंत्र जोड़ने होते हैं। उनको गायत्री, बृहती, अनुष्टुप् के बीच में जोड़ना चाहिए।

(क) इसी प्रकार कुछ इष्टकावों का वर्णन है। वे हैं चित्रिणी इष्टका, बज्रिणी इष्टका और भूतेष्टका। इष्टिकायें अग्निवेदी के भाग हैं। चित्रिणी, बज्रिणी आदि ईंटे मध्यमचिति अर्थात् बीच के परत में रखनी चाहिए।

(ख) ये चित्रिणी, बज्रिणी ईंटे लोकम्पृण ईंटों के पूर्व रखी जानी चाहिएं। लोक का अर्थ है रिक्त हुआ स्थान। पृण का अर्थ है भरने वाला। लोकम्पृण ईंटों से उन छिद्रों को भरा जाता है जो ईंट चिनने में रह जाते हैं।

६—गवामयन अथवा सम्वत्सर-याग में कई अनीक होते हैं। इन अनीकों को बार बार दुहराया जाता है। दुहराने की दो विधियां इसी प्रकरण में कही गई है और वे हैं दण्डकलितवत् विधि और स्व-स्थान-विवृद्धि। यह क्रम दुहराने वा अभ्यास का है। मोटे तौर पर इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे कोई कहे कि 'जय जगदीश हरे' को तीन बार कहो।

दण्डकलितवत् अभ्यास तो यह होगा—जय जगदीश हरे, जय जगदीश हरे, जय जगदीश हरे। स्वस्थानविवृद्धि के अनुसार यह प्रकार बनेगा—जय, जय, जय; जगदीश, जगदीश जगदीश; हरे, हरे, हरे। सिद्धान्त यह है कि गवामयन में स्वस्थान विवृद्धि का नियम लागू होगा। क्योंकि दिनों की संख्या प्रत्यक्ष नहीं।

गवामयन के दिनों का हिसाब इस प्रकार किया जाता है। इसमें

सब ३६१ दिन होते हैं। पहले पक्ष में १८० दिन, दूसरे में १८०, बाच में एक दिन बिषुवान् का जो मेरुदण्ड के समान है। पहले पक्ष में पहला दिन प्राभरणीय है। दूसरा दिन चतुर्विशत कहलाता है। इन दोनों दिनों की ऐण्द्रवायवाग्रता प्राप्त है। इसके पश्चात् अनीका आती है। यहां चार अभिप्लव हुए, हर एक में एक षडाह (छः दिन) हुआ। ये १४ दिन हुए। इसके बाद एक पृष्ट्य एक षडाह का हुआ। २४+६=३०। दूसरे तीसरे चौथे पांचवें मास में भी ऐसा ही होगा अर्थात् १५० दिन। छठे मास के तीन अभिप्लव के १८ दिन। छः दिन का एक पृष्टय, अभिजित् का १ दिन, तीन एकाह जिनको स्वर-सामा एकाह कहते हैं। ये सब २८ दिन हुए।

ब्योरा निम्न प्रकार बनेगा :—

इस प्रकार पहले पक्ष में

पहले २ दिन	—	२ दिन
पहले पांच मास	—	१५० दिन
छठा मास	—	२८ ,,
एक विषुवान्	—	१ ,,
		१८१

उत्तरार्ध में

पहले तीन स्वरसामा	—	३ दिन
एक विश्वजित्	—	१ ,,
एक पृष्ठ्य के ६ दिन	—	६ दिन
३ अभिप्लव	—	१८ ,,
एक पृष्ठ्य ६ दिन	—	६ ,,
चार अभिप्लव	—	२४ ,,
		५८

पिछले ३० दिन को तीन बार

दुहराया गया तो	—	६० दिन
तीन अभिप्लव	—	१८ ,,
आयुष् गौ के दो मंत्र	—	२ ,,
द्वादशाह के बीच के १० दिन	—	१० ,,
महाव्रत और अतिरात्र	—	२ ,,
		१८०

इस प्रकार गवामयन अथवा सम्वत्सर याग में सब तीन सौ एक-सठ दिन होते हैं। इस सूची से स्पष्ट है कि यहाँ पर स्वस्थान-विवृद्धि का ही नियम लागू है। इस प्रकार यहां पर कुछ बातें उपस्थित की गई जिनसे यह सिद्ध होता है कि मीमांसा एक दर्शन है। वह वैदिक कर्म-काण्ड को दार्शनिक ढंग पर विचार कर प्रस्तुत करता है। उसका बड़ा ही महत्व है।

वस्तुतः वह धर्म की व्याख्या करता है। धर्म वह है जो वेद में प्रतिपादित है। वेद स्वतः प्रमाण है। उसके लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। 'स्वर्ग कामो यजेत' वाक्य से यह सिद्ध है कि स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे। इस प्रकार इस योग्यता को लेकर यह सिद्ध कर दिया गया है कि यज्ञ केवल वायुशुद्धि ही नहीं करते हैं। वे अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं जिससे यज्ञ का फल जन्मान्तर में होता है। जो व्यवस्था कर्म की है वही व्यवस्था यज्ञ कर्म की भी है। यज्ञ जबश्रेष्ठ कर्म है तो उसका फल भी होना ही चाहिए।

जब कर्म के बिषय में यह नियम है कि सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः अर्थात् मिथ्या ज्ञान रूपी मूल के रहने पर कर्म का फल जाति आयु और भोग प्राप्त होता है। तो यज्ञ कर्म भी तो कर्म है उसका भी फल प्राप्त होना ही चाहिए। यज्ञ कर्म चूंकि सकाम कर्म होते हैं अतः उनका फल भी तदनुरूप ही होता है।

एकोनविंश प्रकरण

कुछ ब्रह्मपारायण यज्ञ के विषय में

बहुत वाद-विवाद चलने के अनन्तर और गम्भीरतापूर्वक विचार करने के उपरान्त सार्वदेशिक सभा ने उसकी धर्मार्य सभा के निश्चयानुसार ब्रह्मपारायण यज्ञ के करने का प्रचलन चलाया। धर्मार्य सभा ने इसकी विधि भी बनाई और प्रकाशित की। वह विधि बहुत ही उत्तम और शास्त्रीय ढङ्ग पर बनाई गई है। फिर भी कभी-कभी अपनी बात को आगे रखने के लिए कुछ ऐसे व्यक्ति जिन्हें न यज्ञ सम्बन्धी शास्त्रों का परिज्ञान है और न वेद आदि का ही कुछ मालूम है अपने मनमाने चलाये यज्ञ को खण्डित होता देख कर ब्रह्मपारायण पर कटाक्ष करते हैं। ऐसे कटाक्षों से उनकी अनभिज्ञता ही प्रकट होती है, ब्रह्मपारायण का कुछ भी बिगड़ता नहीं।

बहुत समय पूर्व मैंने और श्री पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड ने इस विषय पर एक पुस्तक ही लिखी थी जो सर्वत्र प्रसारित की गई थी। उसी आधार पर धर्मार्य सभा ने इसके विषय में निर्णय लिया था। यह ब्रह्मपारायण यज्ञ बहुत बड़े पैमाने पर श्री सेठ प्रतापसिंह शूर जी वल्लभदास ने बम्बई में दो बार कराया था। दोनों ही यज्ञों के अवसरों पर अभूतपूर्व दृश्य दिखाई पड़ता था। भारत में ऐसे यज्ञ कहीं अन्यत्र नहीं हुए। ये बहुत सफल ढंग पर सम्पादित हुये। इसमें भारत के लगभग सभी वैदिक विद्वान् उपस्थित थे।

मैंने वैदिक ज्योति पुस्तक में इस यज्ञ का बहुत ही विस्तार से ऊहा-पोह किया है। इसको वहां पर ही देखना चाहिए। यहां पर कुछ थोड़ा सा विचार किया जाता है। चारों वेदों के प्रत्येक मन्त्र से यज्ञ इस यज्ञ का विषय है। आर्यसमाज के सम्मेलनों पर देश-देशान्तर में सर्वत्र यह यज्ञ होता रहा है। इस विषय में ऋषि दयानन्द का भी प्रमाण मिलता है कि वे प्रत्येक वेदमन्त्र से यज्ञ करने का विधान करते हैं। वे यजुर्वेद १।३० मन्त्र में आये हुये 'यजुषे'

यजुषे' पदों पर लिखते हैं कि वेद के प्रत्येक मन्त्र से यज्ञ होता है। वैदिक ज्योति में मैंने ऋग्वेद और सांख्यायन गृह्यसूत्र के प्रमाण से ब्रह्मपारायण यज्ञ की सिद्धि की है।

कई लोग ऐसा कहते हैं कि पूरे यजुर्वेद का पारायण करते समय ३९वें अध्याय के मन्त्रों की आहुति नहीं दी जानी चाहिए। क्योंकि वे मन्त्र अन्त्येष्टि में बोले जाते हैं। ऐसे लोग वे हैं जिन्हें शास्त्र का कोई भी परिज्ञान नहीं है, परन्तु बनते हैं पंडित। भला जब यजुर्वेद के ४० अध्यायों का यज्ञ किया गया और उसमें सारे ही संस्कार आ गये तो ३९वें अन्त्येष्टि के मन्त्र भी आ गये तो क्या हानि। क्या गर्भाधानादि के मन्त्रों से आहुति देने पर उन संस्कारों का करना सिद्ध हो गया।

यदि ऐसा नहीं तो फिर अन्त्येष्टि के ३९वें अध्याय के मन्त्रों से यज्ञ करने पर अन्त्येष्टि की सिद्धि किस प्रकार हो जावेगी। वैदिक ज्योति में मैंने इसका समाधान विस्तार से किया है। यज्ञ में मन्त्र और ईश्वर देवता होते हैं। ब्रह्मपारायण यज्ञ में तो यह बहुत स्पष्ट ही है कि उसमें मन्त्र ही देवता है। मन्त्र देवता होने से वेद मन्त्रों में जो ज्ञान है वह ग्रहण होगा। जहां सब संस्कारों और विषयों का ज्ञान होता है वहां अन्त्येष्टि मन्त्रों में जो ज्ञान है वह भी प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मपारायण यज्ञ की शास्त्रीयता और समीचीनता सर्वथा सिद्ध है।

साँख्यायन गृह्यसूत्र ४।५।६५ में यह बतलाया गया है कि चावल, सक्तु और धान को दही में मिलाकर उससे वेद की प्रत्येक ऋचा से आहुति देवे। स्वाहाकार यज्ञ भी इसी प्रकार का है और इसी का नाम है। वेदमन्त्रों के इस यज्ञ में किये जाने वाले उच्चारण में नियमों आदि का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। जैसा पूर्व प्रकरणों में नियम दिखाया गया है उसका परिपालन पूर्णतया होना चाहिए। ओम् आदि लगाने का विधान भी जैसा दिखाया गया है वैसा पालन करना चाहिए।

विंश प्रकरण

कुछ मन:प्रसूत अशास्त्रीय कर्मकाण्ड

आर्यसमाज बुद्धिवादी समाज है। यह प्रसिद्ध है और पुरानी परम्परा भी ऐसी ही रही है। उधर दूसरी तरफ देखा गया है कि जो लोग अपने को पौराणिक कहते हैं उनमें और दूसरे धर्मवालों में अन्धविश्वास अधिक है। इनके कर्मकाण्डों का कोई सिर पैर नहीं। कभी तुलसीकृत रामायण का यज्ञ होता है तो कभी शतकुण्डी और सहस्रकुण्डी यज्ञ होते हैं।

हनुमान चालीसा से भी हवन होते देखा गया है। सत्यनारायण की कथा और दुर्गापाठ आदि की भी यही स्थिति है। इन पौराणिकों के यहां सब कुछ वेद है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। इनके यहां क्यों कैसे का कोई मूल्य नहीं है। ये गायत्री के नाम पर भी अनेक अन्धविश्वास उत्पन्न करते है। तथा ऐसा करने में ही वे अपना सनातन धर्म समझते हैं। वहाँ बुद्धि का कोई स्थान नहीं।

परन्तु पौराणिक जगत् के लिए तो कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उसका अर्थ ही अन्धविश्वास और अनर्गलता है। जिस धर्म-विश्वास में परमात्मा का अवतार स्वीकार किया जाता है उसका स्तर इसी से समझ लेना ठीक होगा। पुराणों के अनर्गल प्रलापों को भी जो धर्म की संज्ञा दे उससे और क्या आशा की जा सकती है। परन्तु वर्तमान समय में आर्यसमाज का स्तर भी पर्याप्त गिर गया है। उसमें भी पौराणिक लोग घुस गये हैं और वे आर्य समाज के नाम पर पौराणिक बातों का प्रचार करते हैं।

जिस प्रकार पौराणिक लोग बिना सिर पैर का कर्मकाण्ड चलाते हैं वैसे ही ये लोग भी चलाते हैं और बोलते हैं कि यह वेद का कर्मकाण्ड है और महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित है। यदि पूछा जावे कि कहाँ पर ऐसा प्रतिपादित है तो उत्तर केवल यह देंगे कि क्या इतनी उम्र तक घास छीली है, हमें वेदशास्त्र का ज्ञान नहीं है ?

इस बात से ही इनकी वेद शास्त्र और सिद्धान्त की योग्यता का पता चल जाता है। यदि इनको वेद शास्त्र का ज्ञान होता तो ऐसा उत्तर नहीं देते। वेद शास्त्र केवल प्रचारक बनने और रंगमंच पर चिल्लाने और मेज ठोकने से नहीं आता।

महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों को इस बनावटी योग्यता और व्याख्यानबाजी से नहीं समझा जा सकता है। उसके समझने में योग्यता और तपस्या की आवश्यकता है। आर्यसमाज में पाण्डित्य का अब अभाव होने लगा है। सभी अनपढ़ लोग उसके नेता और पंडित बनने लगे हैं। कुछ सिद्धान्तहीन और सिद्धान्तानभिज्ञ पदलोलुप नेता और विद्वान् बनने लगे हैं। ये नेता कुछ भी कह सकते हैं, कर सकते हैं और किसी भी चीज पर व्यवस्था दे सकते हैं।

आर्यसमाज में पहले तो योग्य पुरोहितों का अभाव है। जो पुरोहित नामधारी हैं भी वे न कर्मकाण्ड की शिक्षा प्राप्त किये हैं और न ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों अथवा कर्मकाण्ड को ही जानते हैं। अपनी तुक मारते हैं और पौराणिकों की तरह कर्मकाण्ड को बिगाड़ते रहते हैं। इसका एक उदाहरण यहां दिया जाता है।

आर्यसमाज के संस्कारों और हवन में पूर्णाहुति के बाद "वसोः पवित्रमसि शतधारम्०" मंत्र को बोलकर बचे हुए घी को डालने का विधान कहीं नहीं है। परन्तु कई आर्यसमाजों और आर्यों में यह प्रचलित है। यह कैसे प्रचलित हुआ ? आर्यसमाजों में जो उपदेशक कार्य करते थे उनमें कुछ पौराणिकता से प्रभावित थे। वे अधकचरे थे। वे महर्षि की भी गलतियां निकालने में लगे रहते थे जबकि यह उनकी बुद्धि के बाहर था। महर्षि की कोई गलती नहीं है। वे स्वयं ही गलत थे। आर्यसमाज में पहले से ही कुछ पौराणिक आये हैं और वे प्रच्छन्न रूप से अपना कार्य करते रहे हैं।

उन्होंने यह कृत्य जोड़ दिया और बराबर अभी तक कई समाजों और आर्यों ने इसे पकड़ रखा है। यद्यपि यह यजुर्वेद का मंत्र है। इसका विनियोग भी वसोर्धारा में है। परन्तु सामान्य प्रकरण, दैनिक यज्ञों और संस्कारों में इसके प्रयोग का विधान नहीं है।

कुछ उपदेशक स्वभाग छोड़ते थे और उन्होंने इस प्रकार का प्रचार यज्ञ में किया। स्वभाग क्या है ? इसका तात्पर्य क्या है ? यह आहुति कहां दी जाती है ? आदि बातों का बिना ज्ञान किये इसका

प्रयोग किया जाता रहा। यदि कोई भक्त पूछ देता था कि महर्षि ने तो ऐसा करना नहीं लिखा है तो ये टाल-मटोल का उत्तर देते थे।

एक घटना का स्मरण है कि एक स्थान (झांसी) पर एक उत्सव पर शंका समाधान था। सभा के कुछ धुरन्धर उपदेशक मौजूद थे। शंका करने वाले एक सज्जन और विद्वान् आर्य थे। शंका यह थी कि मैं व्याकरण का आचार्य हूं, शास्त्रों का मेरा अध्ययन है, तदनुसार प्रतिदिन अपने कर्त्तव्य का पालन करता हूं। शास्त्र का अध्यापन और अध्ययन कराता हूं, यज्ञ आदि समस्त कर्मकाण्डों का पालन करता हूं और दैनिक संध्या हवन आदि करता हूं—ऐसी अवस्था में आर्य समाज के गुण-कर्म सिद्धान्तानुसार मैं किस वर्ण में समझा जाऊंगा जब कि मैं पैदा हुआ हूं वैश्य घर में।

इसका उत्तर देने के लिए सभा के शास्त्रार्थ महारथी उपदेशक खड़े हुए और कहा कि आप वैश्य वर्ण में गिने जायेंगे। सारे उत्सव में तहलका मच गया कि यह क्या उत्तर दिया गया है। उसके बाद अध्यक्ष ने दूसरे दो उपदेशकों से पूछा उन्होंने भी वही उत्तर दिया। जब शंका करने वाले विद्वान् पण्डित ने पुनः पूछा कि आप सभी महोपदेशकों में कोई भी मेरे जैसा न पढ़ा लिखा है न कर्मकाण्डी ही है फिर आप किस वर्ण में हैं तो उत्तर मिला कि 'ब्राह्मण वर्ण।" उस समय उस शंका समाधान की अध्यक्षता आर्यसमाज के महान् नेता और वीतराग संन्यासी एक महात्मा कर रहे थे। उन्होंने उत्तर देने वाले उपदेशक महोदयों से पूछा कि—ये वैश्य क्यों हैं? ब्राह्मण क्यों नहीं? तो उपदेशकों ने उत्तर दिया कि इनमें ब्राह्मण के गुण, कर्म तो हैं परन्तु स्वभाव नहीं है। ये स्वभाव का अर्थ जन्म वाला ही लगाते थे। चूंकि ये उपदेशक ब्राह्मण कुल में पैदा थे। अतः अपने को ब्राह्मण समझते थे। परन्तु शंका करने वाले विद्वान् का जन्म वैश्य कुल का था अतः उसका स्वभाव इनकी दृष्टि में वैश्य का था।

इस उत्तर से महर्षि की सारी वर्णव्यवस्था पर पानी फिर जाता है। स्वभाव का तात्पर्य कल्चर है। जैसा गुण और कर्म है उसे वैसा ही स्वभाव बना लेना चाहिए। यह स्वभाव जन्म से आवे ऐसा ठीक नहीं। शंका समाधान के प्रधान ने उठकर कहा कि तुम सभा के उपदेशक होकर सभा के सिद्धान्तों का खून कर रहे हो। शंका करने वाला व्यक्ति वैश्य नहीं ब्राह्मण है। इससे सारे उत्सव में एक प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के

लोगों ने ही आर्यसमाज में अनेक अवैदिक कृत्यों को भी वैदिक कह कर प्रचारित करने का प्रयत्न किया और वर्तमान में ऐसे ही कुछ लोग हैं जो नया कर्मकाण्ड चला रहे हैं।

इसी प्रकार यह भी देखा गया है कि कई लोग तीसरी समिधा को 'उपत्वाग्ने०' यजुर्वेदीय मंत्र से छोड़ते हैं। वे समझते हैं कि महर्षि ने भूल की होगी जो वहाँ से दो तीन मंत्रों को तो लिया और इस मंत्र को नहीं लिया। परन्तु इनको यह ज्ञात नहीं है कि ऋषि ने जो विधि बनाई है बहुत सोच समझ कर बनाई है और वह सर्वथा ठीक है।

मैंने दस वर्षों तक सार्वदेशिक धमार्य सभा का धर्माधिकारी रहते हुए यह प्रयत्न किया कि सार्वदेशिक धर्मार्य सभा द्वारा स्वीकृत पद्धति सर्वत्र प्रचलित हो। इस कार्य में अपनी सभा के ही कतिपय नामधारी आर्यों के विरोध का सामना करना पड़ा। सभा के चुनाव में मत लेने वाले पद के लोलुप लोग सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान् नहीं, केवल ऊपर से दिखाने के लिए आर्य बनते हैं। परन्तु इन सबका सामना किया और करूंगा तथा महर्षि के मार्ग से कभी विचलित नहीं होऊंगा और इसका प्रचार होकर ही रहेगा। आर्यसमाजों में और सभाओं में पनप रहे पाखण्डों को उखाड़ना ही पड़ेगा।

कुछ ऐसे भी अपने को आर्य विद्वान् कहने वाले लोग हैं जो आर्यसमाज में भी रहते हैं और पौराणिकों में भी जाकर उनकी क्रिया करते हैं।

अभी थोड़े दिन हुये श्री स्वामी गंगेश्वरानन्द ने वेद की संहिताओं को छपाया है जो वैदिक विधान से ठीक नहीं छपी हैं। हरि ओम् आदि से प्रारम्भ होना और ब्राह्मण आदि को भी वेद मानने की आधारशिला स्थापित करने वाली होना और अशुद्धियों वाली भी है परन्तु उनकी स्थापना ऐसे लोग कराते फिरते हैं। ऐसे लोग आर्य समाज में भी अपने मनमाने ढंग से वैदिक यज्ञों के नाम से नये यज्ञ चालू किया करते हैं।

कई अयोग्य स्त्री-पुरुष जिन्हें संस्कृत का दश वाक्य भी शुद्ध बोलने और लिखने की योग्यता नहीं वेदशास्त्र आदि का पढ़ना और समझना तो दूर रहा अपनी पंडिताई की डींग अपने अखबारों में छापा करते हैं और अपनी प्रशंसा के पुल बांधते हैं। एक छोटा सा उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

श्री स्वामी हरिहरानन्द करपात्री जी ने सर्ववेदशाखा सम्मेलन करने की एक परिपाटी चलानी चाही जो कुछ दिन चलकर समाप्त हो गई। उन्होंने बनारस में भी एक बार ऐसा ही किया। उसमें एक बड़े लम्बे नाम वाली संस्था की आचार्या जी और कुछ बालिकाएं और संस्था के मन्त्री जी भी वहां उस सम्मेलन में गये। कहीं बोलने का अवसर आचार्या जी को मिल गया होगा। न भी मिला हो तब भी देखने कौन जाता है। लौटकर अपने पत्र में छापा कि वाराणसी के विद्वानों के ऊपर आर्यसमाज की धाक। वेद के विषय में बोलते हुये आचार्या जी ने कमाल कर दिया और उनके वेद-ज्ञान पर पंडितमण्डली मुग्ध थी। वाह वाह मच गयी। परन्तु उस में जिस विषय पर आचार्या जी का भाषण था और जो कुछ उन्होंने कहा था जब उसी वाहवाही के भाषण में उसी पत्र में पढ़ा गया तो पता चला कि यदि सचमुच कोई विद्वान् आचार्या जी के इस भाषण को पढ़ेगा तो उसका शिर लज्जा से नत हो जावेगा। आर्य समाज और दयानन्द की पंडितों पर धाक जमनी तो दूर रही उनकी मूर्खता की सर्वत्र प्रशंसा अवश्य होगी।

आचार्या जी ने भाषण में क्या कहा था जिसको सम्पादक और उस संस्था के कर्णधार कहे जाने वाले ने गर्व के साथ छापा था। वह भाषण यह था—

सायणाचार्य ने वेदभाष्य किया परन्तु उन्होंने उसे नहीं समझा। वेद तो केवल ऋषि दयानन्द ने समझा। उदाहणार्थ ऋग्वेद के भाष्य में ऋग्वेद के इस मंत्र—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' की व्याख्या में सायणाचार्य ने अजा का अर्थ बकरी और अज का अर्थ बकरा किया था। महर्षि ने अपने भाष्य में इसका अर्थ न पैदा होने वाली प्रकृति और जीव अर्थ इन शब्दों के किये। आदि आदि।

इस भाषण पर वैदिक पंडितों ने वाह-वाही अवश्य की होगी। क्योंकि इसमें सर्वत्र अनभिज्ञता ही प्रकट हो रही है। अजामेकाम्० मंत्र ऋग्वेद में है ही नहीं। कोई भी इसे सात जन्म में ऋग्वेद में नहीं दिखा सकता है। जब यह ऋग्वेद का मंत्र ही नहीं तो फिर सायणाचार्य ने उस मंत्र का अपने भाष्य में यह अर्थ किया और महर्षि दयानन्द ने यह अर्थ किया—यह कहने का कोई तुक ही नहीं बैठता। यह है स्थिति।

ऐसे लोग नये यज्ञ कराते फिरते हैं जो इनका अपना मनः प्रसूत होता है। ये कहते हैं यज्ञ कराकर ये सरलता से मृतात्मा को शान्ति प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार के यज्ञ भी ये करते हैं।

ये यह भी प्रचारित करते हैं कि गायत्री यज्ञ से एक गूंगी लड़की बोलने लगी और उसका गूंगापन ही समाप्त हो गया।

इनका यह भी कथन है कि यज्ञों के प्रभाव से बिना पेट्रोल आदि के ही मशीनें चलने लगती हैं। जबकि ये बिना बिजली के लाउड स्पीकर को भी नहीं चला सकते। कुछ तो यहां तक कहते हैं कि मंत्र की ध्वनि मात्र से पानी बर्फ जम जाता है। इनकी लीला को भगवान् ही जाने। ध्वनि के जोर से होने पर पहाड़ों पर बर्फ टूट कर गिरती तो देखी जाती है। पुलों पर फौज के बाजे भी रोक दिये जाते हैं। परन्तु ध्वनि मात्र से पानी जमकर बर्फ बन जाता है यह विचित्र ही बात है। इस प्रकार की अनेक गप्पें चलती हैं।

गायत्रीमहायज्ञ नामक कल्पित यज्ञ

गायत्री मंत्र का अर्थ की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व दिया जाता है। इसमें भगवान् से प्रार्थना की गई है कि वह हमारी बुद्धियों को उत्तम कर्म की ओर प्रेरित करे। यह कब हो सकता है—इसका भी गुर उसी मंत्र में बता दिया गया है। वह यह है कि ऐसा तब होगा जब हम उसके वरणीय गुणों को धारण करें। इस प्रसंग में इस पर विचार किया जाता है। गायत्री से गायत्री छन्द का भी ग्रहण होता है और गायत्री नाम से प्रसिद्ध 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'० आदि मंत्र का भी। गायत्री छन्द को इतना बड़ा माहात्म्य प्राप्त है अथवा गायत्री से गृहीत मंत्र को यह देखने की बात है।

जहां तक गायत्री छन्द की बात है वह तो बहुत ही स्पष्ट है। यदि गायत्री छन्द को इतना बड़ा महत्व दिया जावे तो गायत्री छन्द से युक्त केवल यही मंत्र नहीं है। और भी अनेक मंत्र वेदों में गायत्री छन्द से युक्त हैं। फिर सभी को यह महत्व होना चाहिए। विश्वानि देव० मंत्र विशुद्ध गायत्री छन्द है। महर्षि दयानन्द ने इस मंत्र का अपने यजुर्वेद भाष्य में बार बार प्रयोग किया है। मंत्र में दी गई शिक्षा भी अनूठी ही है। इसमें परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे दुर्गुणों को हम से दूर करे और उत्तम गुणों को हमें दे। दुर्गुणों का दूर होना और सुगुण की प्राप्ति महत्व की वस्तु है।

इससे उत्तम शिक्षा व प्रार्थना और क्या हो सकती है। परन्तु देखा यह जाता है कि छन्द को महत्व नहीं दिया गया है।

'गायत्री' पद के ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकार्थ दिये गए हैं। उससे पृथिवी, अग्नि, प्राण, ब्राह्मण, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस्, ज्योति, भर्ग, शिर मुख, गायत्री छन्द, पुरुष, ये लोक और अनुमतो आदि अर्थ लिये जाते हैं। इस प्रकार इस पद के अनेक अर्थ हैं परन्तु इससे कुछ भी ऐसा नहीं सिद्ध होता है कि गायत्री मंत्र से यज्ञ आदि किये जावें और उससे सब विघ्नों का निवारण हो जावेगा।

गायत्री नाम से गृहीत मंत्र को महत्व दिया जाता है, छन्द को नहीं—यह भी व्यवहारत: सिद्ध है। अत: इसकी इस महत्ता पर विचार भी होना ही चाहिए। गायत्री मंत्र जो प्रसिद्ध है उसके तीन नाम प्रसिद्ध हैं। गायत्री, सावित्री और गुरुमंत्र। गायत्री नाम क्यों है? इस पर विचार करते हुए अनेक बातें समक्ष आती हैं। शतपथ ब्राह्मण १४।८।१५।६ में कहा गया है कि यह 'गयों' का त्राण करती है इसलिये गायत्री है। गय नाम प्राण का है। प्राणों की रक्षा करने से इसका नाम गायत्री है। गया एव गाया—तान् त्रायत इति गायत्री अर्थात् 'गय' ही 'गाय' है उनको रक्षा करने से यह गायत्री है। देवता ब्राह्मण ३।२ में लिखा है कि गायत्री पद स्तुत्यर्थक 'गै' धातु से बना है।

निरुक्तकार ने गायत्री छन्द की निरुक्ति करते हुये ऐसी ही निरुक्ति की है। इस प्रकार गायन्तम् त्रायते या सा गायत्री अर्थात् इसका गान करने वाले का त्राण करने से इसे गायत्री कहा जाता है। इस प्रकार गायत्री नाम का कारण सुस्पष्ट है। इससे यह भाव निकलता है कि गायत्री जप करने और तदनुकूल आचरण करने से ज्ञान की प्राप्ति होने से बुद्धि की पवित्रता होकर उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति होगी। यह कार्य केवल जप मात्र से सिद्ध हो ऐसा नहीं है। तदनुकूल भावना बनाने, आचरण करने और परमात्मा के भर्ग को धारण करने से यह स्थिति प्राप्त हो सकेगी। केवल मंत्र के दुहराने का नाम जाप वा जप नहीं है। आवृत्ति और वस्तु है और जप और वस्तु है। तज्जपस्तदर्थ-भावनम्' अर्थात् उस ओम् का जप करना चाहिए और तदर्थभावन अर्थात् उसके अर्थ की भावना करनी चाहिए। शास्त्रोय विधान ओम् के जप का है। परन्तु गायत्रो का

जप भी होता है। जो जप का नियम है वह इस जप में भी लागू होगा। अन्यथा जप सार्थक नहीं। इस प्रकार गायत्री पद जो गायत्री मंत्र के लिए प्रयुक्त है उसका यह यौगिक अर्थ सामने आया।

परन्तु इसे सावित्री मन्त्र भी मनु आदि स्मृतियों में कहा गया है। यह सावित्री क्यों है इस पर भी विचार अपेक्षित है। इस मन्त्र का देवता 'सविता' है। सविता का सूर्य अर्थ भी है और जगत् का कर्त्ता परमेश्वर भी। प्रत्येक मन्त्र का कोई न कोई देवता होता है। सविता इस मन्त्र का देवता है। सविता से सम्बन्ध होने के कारण इस मन्त्र का नाम सावित्री है। गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्द्ध १।३ में 'सावित्री' को वेदों की माता। 'वेदानां मातरम्' कहा गया है। इसकी उपासना से अनन्त श्री की प्राप्ति बताई गई है। परन्तु उसी सावित्री के साथ जहां वेद-माता का प्रयोग है वहां उसे संपद और उपनिषद् भी कहा गया है। संपद और उपनिषद् को साथ में जोड़ने से सावित्री का अर्थ कुछ और ही बनता है।

गायत्री मन्त्र वेद की माता है और वह संपद उपनिषद् है—यहां कोई ऐसा भाव नहीं बनता जिससे इस मन्त्र की उपासना से अनन्त श्री की प्राप्ति होती हो। अनन्त श्री का अर्थ भी मोक्ष ही हो सकता है। फिर यह सावित्री वेद की माता कैसे है? क्या इसका यह अर्थ है कि इस गायत्री मन्त्र से ही अन्य सब मन्त्र उत्पन्न हुये हैं? या यह समझा जावे कि यह मन्त्र वेद का रक्षक है अत: माता है। अथवा यह समझा जावे कि वेद की वास्तविक माता भगवान् का ही सावित्री शब्द से ग्रहण है और उसकी उपासना से अनन्त श्री की प्राप्ति होती है। यहां पर महर्षि दयानन्द का विचार प्रस्तुत करके पुन: विषय पर विचार किया जाता है। संस्कारविधि के वेदारम्भ संस्कार में ऋषि लिखते हैं—

बालकोक्ति :—अधीहि भूः सावित्रीं भो अनुब्रूहि। आश्व० १।२१।४

अर्थात् आचार्य से बालक कहे कि—हे आचार्य! प्रथम एक ओंकार, पश्चात् तीन व्याहृति तत्पश्चात् सावित्री ये त्रिक अर्थात् तीन मिल के परमात्मा के वाचक मन्त्रों को मुझे उपदेश कीजिए।

यहां पर रहस्य खुल गया कि ओंकार और व्याहृतिपूर्वक गायत्री

मन्त्र परमात्मा का वाचक है अतः उसे सावित्री कहा जाता है। जब व्याहृति आदि लगी होगी तब यह मन्त्र परमात्मा का वाचक होगा। जब सूर्य आदि पदार्थों का अर्थ होगा तब ओंकार और व्याहृतियां इसमें सम्मिलित नहीं होंगी। महर्षि के इस कथन से यह सिद्ध है कि गायत्री मन्त्र में परमात्मा का वर्णन है। अतः वही सविता नाम से इसका प्रधान देवता है। जब गुरुमन्त्र के रूप में यह प्रयुक्त होगा तब परमात्मा अर्थ को ही देगा। जब सूर्य आदि अर्थों में यह लगेगा तब ये व्याहृतियां उसके साथ नहीं होती हैं।

इसी दृष्टि से वेदों में गायत्री मन्त्र का दो प्रकार से पाठ है। एक गायत्री छन्द की दृष्टि से और दूसरा गुरुमन्त्र वा सावित्री ऋचा की दृष्टि से। यजुर्वेद ३।३५, २२।९ और ३०।२ में गायत्री मन्त्र 'तत्सवितुर्वरेण्यम्०' से प्रारम्भ करके पढ़ा गया है। ऋषि ने मन्त्र की स्थिति को देखकर इसका छन्द निचृद्गायत्री लिखा है। क्योंकि इसमें २३ अक्षर हैं २४ नहीं। जब इसे गायत्री कहा जाता है तब पिंगल छन्दः सूत्र के नियम से 'वरेण्यम्' को 'वरेणियम्' मान कर गायत्री छन्द कहा जाता है। इस अवस्था में २४ अक्षर उसके पूरे हो जाते हैं। परन्तु निचृद्गायत्री तो गायत्री ही छन्द है। अतः यजुर्वेद के इन तीनों स्थलों और दूसरे दो वेदों में गायत्री छन्द की दृष्टि से पाठ है। परन्तु यजुर्वेद ३६।३ में यह मन्त्र गायत्री छन्द की दृष्टि से नहीं बल्कि गुरुमन्त्र वा सावित्री ऋचा के रूप में पठित है। वहां पर 'भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्० आदि पाठ है। वहां पर ऋषि दयानन्द ने इसका दैवी बृहती छन्द माना है। इस छन्दोभेद से ही रहस्य खुल गया। अतः गायत्री छन्द वाले मन्त्र और इस सावित्री ऋचा को एक समझना ठीक नहीं। इसका तो गायत्री छन्द है ही नहीं। अतः यह समझना चाहिए कि सावित्री को वेदमाता कहने और उसके संवद् और उपनिषद् कहकर उसकी उपासना करने से अनन्त श्री अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन वेद की माता परमेश्वर को मानकर है जो सावित्री मन्त्र वा गुरुमन्त्र का विषय है।

जब 'वेदानां मातेति' वेदमाता कहा जावेगा तब परमात्मा ही अभिप्रेत होगा। जब बहुव्रीहि वा कर्मधारय वा उपमित आदि समास किया जावेगा तब वेद को ही माता कहा गया है ऐसा समझना चाहिए। गायत्री छन्द की दृष्टि से गायत्री का उतना महत्व नहीं

जितना कि सावित्री ऋचा वा गुरुमन्त्र के रूप में उसका महत्व है। यदि उसे गायत्री कहा जाता है तो यौगिक अर्थ को लेकर और उसी विशिष्ट मन्त्र को लेकर कहा गया मानना चाहिये।

इसे गुरुमन्त्र इसलिए कहा जाता है कि आचार्य ब्रह्मचारी को इसी मन्त्र का उपदेश करके पुनः उसके वेदादि पढ़ने का अनुक्रम करता है। यहां पर एक प्रश्न उठता है कि इस मन्त्र को उपदेश करके ही वेदादि के पठन-पाठन का प्रारम्भ अथवा शिक्षा का प्रारम्भ क्यों किया जाता है? इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है। एक तो यह कि जैसे पूर्व कहा गया है परमेश्वर ही इसका विषय है और ज्ञान परमेश्वर से ही प्राप्त होता है अतः इससे प्रारम्भ किया जाता है।

दूसरा यह कि इस मन्त्र में 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'। पद जो आये हैं उनकी व्याख्या करते हुए गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्द्ध १।३२ में कहा गया है कि वेद और छन्द ही तत्सवितुर्वरेण्यम् है। अतः वेद का भी सीधा सम्बन्ध इसमें आ गया। इसलिए इसका आचार्य द्वारा विद्यार्थी को उपदेश दिया जाना ठीक ही है।

गायत्री का जप, सन्ध्या और दैनिक हवन आदि में महत्व है। वह महत्व इतना ही है कि इनमें इसका उचित प्रयोग और उसका लाभ है। परन्तु कुछ लोगों ने गायत्री महायज्ञ नाम का यज्ञ ही बना डाला। चूंकि पौराणिकों में इसका प्रचार है और लोगों में इसके हर प्रकार फल प्राप्त होने का अन्ध-विश्वास है अतः इस प्रकार से इसका लाभ उठाने के लिए ऐसे यज्ञ की कल्पना इन आर्यों ने भी कर डाली। कई जगह तो यह इसलिये किया गया कि इनसे पौराणिकों से चन्दा वसूल किया जा सकेगा। परन्तु ऐसा ही करना है, चन्दे के लिए तो फिर मूर्तिपूजा आदि भी करने लगोगे। क्योंकि उससे भी चन्दा आदि तो आसानी से मिल जावेगा। निराकारवाद में तो निराकार ही फण्ड है। उसमें तो बहुत कुछ प्राप्त हो जावेगा। परन्तु यह कार्य चन्दा के लिए भी करना ठीक नहीं।

कुछ लोग लक्षाहुति गायत्री यज्ञ करते हैं और कुछ गायत्री यज्ञ करते हैं। परन्तु ज्ञात रहे कि इस नाम का कोई भी यज्ञ शास्त्रीय नहीं। यह पौराणिक भावना से भावित कृत्य है। गायत्री महायज्ञ, गायत्री यज्ञ अथवा लक्षाहुति गायत्री महायज्ञ का विधान ऋषि दयानन्द ने कहीं पर भी नहीं किया है। यह वैदिक कृत्य नहीं है।

प्रथम तो यह नाम ही भ्रामक है। यज्ञ का विशेषण 'महा' लगाना केवल पांच महायज्ञों के लिए ही पाया जाता है। अन्य किसी यज्ञ में 'महा' नहीं लगता है। यह शब्द पारिभाषिक है। पारिभाषिक पद वहीं पर लगाना ठीक होता है जहां पर उसकी अपनी उपयोगिता है सब जगह पर वह नहीं लगाया जा सकता है। श्रौतसूत्रों, ब्राह्मणों और मीमांसा आदि में कहे गये यज्ञों में किसी के भी साथ महा नहीं लगाया जाता है। यज्ञों में भी कई प्रकार के भेद हैं। कुछ यज्ञ काम्य हैं और जब उनकी आवश्यकता उस कामना के अनुसार पड़ती है तब वे किये जाते हैं। परन्तु कुछ यज्ञ और कर्त्तव्य ऐसे हैं जो नैत्यिक हैं और नित्य ही उनका करना कर्त्तव्य है। पंच महायज्ञ नैत्यिक कर्त्तव्य हैं और अनिवार्य कर्त्तव्य हैं अतः उनके साथ महा-शब्द इस भावना के द्योतनार्थ लगा है। दूसरे यज्ञ नैमित्तिक हैं। उनका करना निमित्त पर आधारित है।

एक वकील महाशय ने व्यर्थ में एक लेख लिख डाला जबकि उन्हें इस विषय का क-ख-ग भी परिज्ञात नहीं। उन्होंने लिखा कि महाशब्द तो कहीं भी लगाया जा सकता है। यह महत्ता का द्योतक है। चूंकि शास्त्र का परिज्ञान उन्हें नहीं अतः वे कुछ भी बोल सकते हैं। उन्हें शब्द के प्रयोग का भी परिज्ञान नहीं। वकील को तो बहुत सोच समझकर लिखना चाहिए। सारी कला ही वकालत में शब्द के प्रयोग की है। परन्तु किया क्या जावे, पता हो या न हो सब में मत्था मारना। यदि शब्द के प्रयोग का कोई नियम न होता तो व्याकरण आदि शास्त्रों और विद्वानों की आवश्यकता ही नहीं थी। हर एक स्थान पर हर एक शब्द का प्रयोग नहीं होता।

महा शब्द केवल महत्ता का ही द्योतक नहीं। कहीं पर निकृष्टता का भी द्योतक हो जाता है। महाब्राह्मण, महापात्र, महा-शंख, महापथ आदि शब्दों में यही स्थिति महा शब्द की है। कहीं श्रीमान् जी निद्रा करते समय महानिद्रा और यात्रा करते समय महायात्रा न कर बैठें। यहां पर महा पद भयंकर ही बन जाता है। यह कार्य विद्वानों का है, इसमें सभी को माथा मारने की आवश्यकता नहीं।

किसी भी यज्ञ में यह देखना पड़ता है कि वह श्रौत है या गृह्य है? उसकी प्रकृति क्या है और विकृति क्या है? उस यज्ञ की मर्यादा और विधि आदि भी होती है। परन्तु गायत्री यज्ञ की विधि और मर्यादा आदि कुछ भी नहीं।

गायत्री मंत्र की जप आदि की महत्ता के आधार पर उसे सर्वश्रेष्ठ अथवा महामंत्र कहना ठीक नहीं। वेद के सभी मंत्र अपने स्थान और विषय आदि की दृष्टि से श्रेष्ठ ही हैं। किसी एक मंत्र को श्रेष्ठतम कहना शेष वेदमंत्रों के प्रति अनादर प्रकट करना मालूम पड़ता है। ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि भगवान् के द्वारा प्रदत्त वेदमंत्रों में कोई एक मंत्र श्रेष्ठतम हो और सबका पूरक हो। यदि वेद का ज्ञान देने वाले भगवान् को भी यह बात स्वीकार होती कि गायत्री ही सर्वश्रेष्ठ है, इसके जानने, इससे यज्ञ करने और जप करने से सब कुछ मिल सकता है तो वह अन्य मंत्रों का प्रकाश ही क्यों करता। वह केवल गायत्री मंत्र का ही प्रकाश करता और सारा वेदरूपी ज्ञान तो, जैसा कि इसके हिमायती मानते हैं, इसमें ही समाया हुआ है। ऐसा होने से विश्व के लिए एक चमत्कार होता कि सर्वज्ञ भगवान् ने एक ही गायत्री मंत्र में सब कुछ दे दिया। सहस्रों मंत्रों और बड़े बड़े पोथों में समाने वाले ज्ञान की फिर आवश्यकता ही नहीं थी। और तो और शास्त्रार्थ में इलहाम मानने वाले अन्य मत वालों से निपटने में आसानी हो जाती कि भगवान् ने एक ही मंत्र में सब कुछ दे दिया। तुम नाहक पोथों की डींग मारते हो। एक छोटे से मंत्र में सारा ज्ञान, कर्म और उपासना का विषय आ गया। विश्व इससे चकित होकर इसे स्वीकार करता। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

फलश्रुति

गायत्री यज्ञ आदि के फल का वर्णन करते हुये इसके पोषक यह कहते हैं कि इससे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। स्यात् संसार वा इससे ऊपर कोई वस्तु नहीं जो इससे प्राप्त न हो। तथा कोई मनःकामना नहीं जो पूर्ण न हो। यदि यह तथ्य है तो फिर यज्ञ आदि अन्य कर्मों के करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। सब कुछ गायत्री ही कर देगी। एक प्रश्न सामने यह खड़ा होता है कि क्या गायत्रीयज्ञ ब्रह्म की प्राप्ति करा देगा? यदि ऐसा हो सके तो योग आदि साधनों की फिर कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्या गायत्री यज्ञ और उसके जप से किया हुआ पाप भी निवृत्त हो सकता है। यदि हो सकता है तो यह सिद्धान्त विरुद्ध बात है। अन्यथा फिर इन कार्यों के लिए इसके करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

गायत्रीयज्ञ के प्रमाणों पर विचार

कई अन्ध श्रद्धालु अथवा यह भी सही वह भी सही, गाय भी दूध देती है बैल भी दूध देता है—इस प्रकार के मानने वाले लोग कहते हैं कि इन बातों में रक्खा क्या है। गायत्री भी तो वेदमन्त्र ही है। उससे यदि गायत्री महामन्त्र वा लक्षाहुति गायत्री महायज्ञ कर लिया गया तो हानि क्या हुई ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह है तो वेदमन्त्र ही परन्तु सिद्धान्त के विषय में इस प्रकार के कथन का कोई मूल्य नहीं है। कर्मकाण्ड में विधि से न्यून करना, बिना विधि के करना, विधि से अधिक करना दोषपूर्ण माना जाता है। यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम्० इसी बात की शिक्षा दे रहा है। इस प्रकार इस स्पष्ट आदेश के रहते हुए भी कोई गलत वा विपरीत बात करना सिद्धान्त-विरुद्ध है।

रही बात गायत्री के वेदमन्त्र होने की। वह भी देखिये। किसी कर्म के लिये बोले जाने वाले मन्त्र का वेदमन्त्र होना मात्र विधि की उपादेयता और उसकी प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त नहीं है। विधि की उपादेयता के लिए वेदमन्त्रानुसारिता आदि सभी बातें देखनी आवश्यक हैं। अन्यथा इसी उक्ति पर वे यज्ञ जिनमें बोले जाने वाले सब मन्त्र वेदमन्त्र ही नहीं हैं अप्रमाणिक हो जावेंगे। इस प्रकार सस्कारविधि आदि सभी अप्रमाण कोटि में आ जावेंगे। क्योंकि इनमें यज्ञ आदि में सभी स्थानों पर वेदमन्त्रों का ही प्रयोग नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि वेद मन्त्रों के अविवेकपूर्ण प्रयोगमात्र से कोई कर्मकाण्ड सिद्धान्ततः नियमित बन जाता तो फिर पौराणिकों के सभी कर्मकाण्ड की बातों को प्रामाणिक ही माना जाता। परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। इस कथन को गलत साबित करने के लिये कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

१—उद्बुध्यस्वाग्ने० मन्त्र से पौराणिक लोग बुध ग्रह की शांति और शन्नो देवी० मन्त्र से शनि की शान्ति कराते हैं। पौराणिक पद्धति में ऐसा करते हैं।

२—त्र्यम्बकं यजामहे० महामृत्युञ्जय जाप में प्रयुक्त करते हैं।

३—माता रुद्राणाम्० आदि मन्त्र विवाह के समय गोवध के प्रसंग में प्रयुक्त करने को पौराणिक जन मानते हैं।

४—कुछ लोग लड़कियों द्वारा नृत्य, नाटक तथा अन्य कई कार्यों

को प्रारम्भ करने से पूर्व प्रार्थना 'विश्वानि देव०' आदि मन्त्र से ही कराते हैं।

ये हैं उदाहरण जिनमें सभी में वेद के ही मन्त्र का प्रयोग किया गया है परन्तु क्या इन सभी कार्यों को वैदिक और सिद्धान्तानुकूल माना जा सकता है ? क्या महर्षि के सिद्धान्त के अनुकूल इन्हें कहा जा सकता है ? क्या यह आर्यों को मानने योग्य है ? कदापि नहीं।

राजनैतिक पौराणिकता

किसी व्यक्ति ने किसी पत्र पत्रिका में गायत्री के प्रतिकूल कुछ लिख दिया। सबसे पहले ये राजनैतिक आर्यसमाजी उस पर ताह-बेला मचाना प्रारम्भ कर देते हैं। फौरन् इनके लेख आने लगेंगे कि यह तो बहुसंख्यक हिन्दुओं पर आघात है। अतः गायत्री यज्ञ होता हो अथवा नहीं, उचित हो वा नहीं सिद्ध करना ही चाहिए। परन्तु यहां पर यह तरीका ठीक नहीं। क्योंकि आर्यों में भी प्रच्छन्न पौराणिक बैठे हैं अतः वे बड़ी जल्दी या खलबलाहट ऐसे विषयों पर करने लगते हैं। वास्तविकता तो यह है कि सिद्धान्तहीन बात को सिद्धान्तहीन और सिद्धान्तविहित को सिद्धान्तविहित ही कहना पड़ेगा। सब को तुष्ट करने और सिद्धान्त के संरक्षण एवं पालन में अन्तर रखना ही पड़ेगा। अन्यथा हिन्दुओं की सभी बातें माननी पड़ेंगी तथा उनकी सिद्धि करनी पड़ेगी।

ऐसी स्थिति में सिद्धान्त बेचारा रोता फिरेगा। यदि वेद का मन्त्र किसी ने किसी कार्य पर भी प्रयुक्त कर दिया और वह प्रशस्त मान लिया जावे तो फिर वही स्थिति होगी। किसी ने कहा घी बहुत अच्छी वस्तु है। किसी भी वस्तु के साथ खाओ यह लाभकर है। परन्तु इसी कथन पर यदि तम्बाकू पीने वाला भी अपनी चिलम पर तम्बाकू के साथ घी भी चढ़ा लेवे तो घी की अच्छाई का पता उसे चल जायगा।

फिर तो कल गुरुमन्त्र होने से कोई इस गायत्री मन्त्र को कान में भी फूकना प्रारम्भ कर देगा। आर्यसमाजी इसे भी ठीक कहने लगेंगे। जब कि ऐसा करना ठीक नहीं। गायत्रीयज्ञ वाला कह बैठता है कि गायत्री को तो वेद में ही वेदमाता कहा गया है। परन्तु उसे यह पता नहीं कि इसका तात्पर्य क्या है। वहां परमेश्वर का वर्णन है या किसी अन्य का। व्याकरण से उसका अर्थ क्या बनता है।

महर्षि दयानन्द और गायत्री मन्त्र

गायत्री यज्ञ के प्रचार करने वाले महर्षि दयानन्द के कुछ उद्धरणों को बिना समझे तोड़ मरोड़ कर उनसे गायत्री महायज्ञ की सिद्धि करने का प्रयास करते हैं। यह उनका दुस्साहस-मात्र है। महर्षि के ये उद्धरण गायत्री महायज्ञ की सिद्धि नहीं करते हैं। यहां पर उन उद्धरणों को प्रस्तुत कर पुनः विचार किया जाता है—

१—फिर इन मन्त्रों से होम करे 'ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा—इत्यादि। इत्यादि अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र पढ़कर एक-एक आहुति देवे और जो अधिक आहुति देना हो तो 'विश्वानि देव०' इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री मन्त्र से आहुति देवे।

(सत्यार्थ प्रकाश शताब्दी संस्करण पृष्ठ १२५)

२—अधिक होम करने की जहाँ तक इच्छा हो वहाँ तक स्वाहा अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से होम करे।

(पंचमहायज्ञविधि)

ये महर्षि के वाक्य किसी भी रूप में गायत्री महायज्ञ वा स्वतन्त्र गायत्री यज्ञ का वर्णन नहीं करते हैं। किसी वाक्य को आसत्ति, योग्यता और आकांक्षा आदि के आधार पर समझने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु इनका ज्ञान हो भी तो। आजकल जो गायत्री यज्ञ करते हैं उन्हें ये नाम भी स्यात् ज्ञात नहीं होंगे। अटकलपच्चू अर्थ लगाने से वस्तुतः कोई कार्य बनता नहीं। ये प्रमाण देवयज्ञ अर्थात् प्रातः सायं काल में किये जाने वाले अग्निहोत्र के प्रसंग में है। प्रातःकाल और सायंकाल के वेदमन्त्रों और दोनों समय के मन्त्रों से आहुति देने के पश्चात् यदि अधिक आहुति देनी हों तो 'विश्वानि देव० और गायत्री मन्त्र से दी जावे।

यहां पर विश्वानि देव० और गायत्री मंत्र से इच्छानुसार अधिक आहुति देने का विधान सायं प्रातःकाल के अग्निहोत्र में है, न अन्यत्र न गायत्रीयज्ञ और न लक्षाहुति गायत्री यज्ञ के रूप में। सायं प्रातःकाल के अग्निहोत्र में इच्छानुसार गायत्री मंत्र और विश्वानि देव० मंत्र से आहुति दी जा सकती है परन्तु इन आहुतियों के कारण न तो सायं प्रातः काल के अग्निहोत्र गायत्रीयज्ञ कहे जा सकते हैं और न कल्पित गायत्री महायज्ञ सायं प्रातः काल के अग्निहोत्र कहे जा सकते हैं।

महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश (शताब्दी संस्करण) के पृष्ठ १६४ पर कहते हैं "इसलिए दिन और रात्रि के संधि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए। ३॥ और जो ये दोनों काम सायं और प्रातः काल में न करे उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें।"

"किसी शास्त्र का मध्याह्न संध्या में प्रमाण भी नहीं। इसलिए दोनों कालों में संध्या और अग्निहोत्र करना समुचित है। तीसरे काल में नहीं।"

ऋषि के ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि संध्या और दैनिक अग्निहोत्र का समय सायं और प्रातःकाल का है। अन्य किसी काल में ये दैनिक अग्निहोत्र नहीं होते तथा इन दोनों कालों के अग्निहोत्रों में इच्छानुसार गायत्री मंत्र और विश्वानि देव० मंत्र से आहुतियां दी जा सकती हैं। अब इस अवस्था में एक लाख आहुति वा कई लक्ष की आहुति, वा सहस्र वा कई सहस्र आहुति की इच्छा लेकर इतनी आहुतियाँ देना किस प्रकार सिद्ध होगा। यदि प्रातः वा सायं के यज्ञ के पश्चात् गायत्री मंत्र से लक्ष वा सहस्र आहुति देने की इच्छा से दिन भर और रात्रि भर यज्ञ चलता रहे तो उसका यहां पर ऋषि ने विधान किया ही नहीं। यदि मध्य में व्यवधान करके रोज प्रातः सायं को गायत्री वाली आहुतियां चालू रहे तो ऐसा भी यहां पर विधान नहीं है। यदि दिन भर और रात्रि भर चालू रहे तो वह दैनिक सायं प्रातः काल का अग्निहोत्र नहीं ठहरेगा। तथा उसमें गायत्री मंत्र से आहुति देने का विधान नहीं बनता। इन मनःप्रसूत गायत्री महा यज्ञ कराने वालों से इन बातों का समाधान नहीं हो सकता है।

इसके अतिरिक्त समझने की बात यह है कि महर्षि ने तो गायत्री मंत्र और विश्वानि देव० दोनों मंत्रों से सायंकाल और प्रातःकाल के यज्ञों में आहुति देने का विधान किया। परन्तु लक्षाहुति गायत्री महायज्ञ वाले विश्वानि देव० को क्यों छोड़ बैठे? केवल गायत्री यज्ञ की ही कल्पना कहां से कर डाली।

पंचमहायज्ञ विधि पंचमहायज्ञों का वर्णन करती है। इसमें सायं काल और प्रातःकाल के यज्ञों में गायत्री मंत्र से अधिक आहुति देना

लिखा है। वह अधिक आहुति उतने ही समय तक हो सकती है जबतक संधिवेला है। यदि गायत्री यज्ञ करने का विधान करना महर्षि को अभीष्ट होता तो इसी नाम का यज्ञ चालू करते। पंच महायज्ञ विधि में फिर सायं प्रातः के अग्निहोत्र का ही विधान क्यों करते ? यहां पर यह सुतराम् स्पष्ट है कि महर्षि के इन प्रमाणों से गायत्री यज्ञ आदि का विधान नहीं बनता है। इनका करना सर्वथा ही सिद्धान्तविरुद्ध बात है।

कुछ लोग महर्षि के जीवनचरित्र से निम्नलिखित प्रमाणों को अपने कल्पित गायत्री यज्ञ की पुष्टि में प्रस्तुत करते है। इन पर भी यहां पर विचार किया जाता है। वे प्रमाण ये हैं :—

१—ग्वालियर महाराज को भागवत सप्ताह के बदले गायत्री-पुरश्चरण करने का परामर्श दिया।

२—कर्णवास में क्षत्रियों को यज्ञोपवीत के लिए पहले प्रायश्चित्त रूप से गायत्री पुरश्चरण कराया जिसमें समीप के अनेक पंडित बुलाये गए। कुछ दिनों में यह पूर्ण हुआ।

३—फरुखाबाद में लाला जगन्नाथ जी के यज्ञोपवीत पर ११ पंडितों से ११ दिन जप गायत्री का कराया और यज्ञ हुआ।

४— मेरठ में जपाराधन का वर्णन करते हुये श्री स्वामी जी महाराज ने कहा था—"बद्रीनारायण में रहकर मैंने भगवती गायत्री का जपानुष्ठान किया था।"

५—दिल्ली में ८ अक्टूबर १८७८ में जब श्री स्वामी जी महाराज आये थे तो उसके वर्णन में लिखा है—

"स्वामी जी यज्ञों में और यज्ञोपवीतादि संस्कारों में गायत्री पुरश्चरण कराया करते थे। बहुत से विद्वान् मिल कर बारह चौदह दिन तक गायत्री का जप करते। यजमान से भी यह जप कराया जाता"

६—उपर्युक्त प्रसंग में आगे लिखा है कि—जयपुर के ठाकुर रणजीत सिंह ने बड़ा भारी यज्ञ कराने का संकल्प किया था। इस पर महाराज ने उन्हें कह रखा था कि "हमारे कथनानुसार गायत्री का अनुष्ठान करना होगा।"

इन प्रमाणों पर कोई विचार करने से पूर्व यह देखना है कि जीवन चरित्र की बातों का सिद्धान्त के विषय में प्रामाणिकता कहा

तक मानी जा सकती है। जीवन चरित्र मूल शंकर से प्रारंभ कर स्वामी दयानन्द सरस्वती पर्यन्त का जीवनवृत्त है। सिद्धान्त के विषय में महर्षि के अपने सिद्धान्तग्रन्थ ही प्रमाण हैं। जीवचरित्र और पत्रव्यवहार आदि की प्रामाणिकता सिद्धान्तनिर्णय के विषय में नहीं हो सकती है।

ऊपर जो प्रमाण दिये गये हैं इनमें पुरश्चरण और जपानुष्ठान का वर्णन मिलता है। कहीं पर भी इनमें गायत्रीयज्ञ का वर्णन नहीं है और न गायत्री मंत्र से हवन करने का ही वर्णन है। गायत्री यज्ञ आदि का तो नाममात्र का भी वर्णन नहीं है कल्पित गायत्री यज्ञों के पुरस्कर्त्तावों के सामने एक समस्या पुरश्चरण की भी आ जाती है। यह पुरश्चरण क्या है। पौराणिकों का मारण-मोहन आदि यहां पुरश्चरण है वा क्या? सोचें। सिद्ध करने गये गायत्री यज्ञ पुरश्चरण गले पड़ गया। स्यात् ये गायत्री महायज्ञ कराने वाले ही बता सकेंगे। उपर्युक्त तीसरी संख्या के प्रमाण में "जप गायत्री का कराया और यज्ञ हुआ" ऐसे शब्द पड़े हैं। यहां पर स्पष्ट है कि जप तो गायत्री मंत्र का किया गया। परन्तु यज्ञ पृथक् से जो यज्ञ किया जाता है वह हुआ। गायत्री मंत्र से यह यज्ञ नहीं हुआ। यह यज्ञ तो जो यज्ञ महर्षि ने संस्कार विधि में लिखा है वही हुआ।

इन प्रमाणों से गायत्री यज्ञ की कोई भी सिद्धि नहीं होती है। गायत्री यज्ञ हो, गायत्री महायज्ञ हो, लक्षाहुति गायत्री महायज्ञ अथवा सहस्राहुति गायत्री महायज्ञ हो—कोई भी सिद्ध नहीं होता। इनमें किसी को भी शास्त्रीयता प्राप्त न हो। यह तो पौराणिकों की अपनी कल्पना थी जिसे कुछ आर्यसमाजियों ने अपने स्वार्थ से इसे जनता में चालू किया है। चूंकि पौराणिक लोग अन्ध श्रद्धालुवों से इसके द्वारा लाभ उठाते हैं वही लाभ उठाने के लिए ये अर्ध आर्य-सामाजिक भी इसका सहारा लेने लगे हैं। वस्तुतः ऋषि ने ऐसे यज्ञ करने का कोई भी विधान नहीं किया है—यह ऊपर की चर्चा से नितराम् सिद्ध है।

एकविंश-प्रकरण

मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य और यज्ञ

मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य मोक्षानन्द को प्राप्ति है। है। इसके लिए वह सदा प्रयत्न करता रहता है। इस मानव देह में यदि वह उद्देश्य पूर्ण हो जावे तो ठीक है अन्यथा पता नहीं यह मानव देह कब पुनः मिले। इसमें चूकने वाला फिर पर्याप्त समय तक इस अवसर की प्रतीक्षा में पड़ा परेशान होता रहता है। ब्रह्मज्ञान आदि जो इसकी प्राप्ति के साधन हैं उनका अधिकार मानव को ही प्राप्त है पशु आदि योनियों को यह अधिकार नहीं है। यजुर्वेद १।६ मंत्र में ठीक ही उपदेश दिया गया है कि भगवान् ने मनुष्य की आत्मा को इस मानव शरीर में इसलिए युक्त किया है कि वह कर्म और ज्ञान को सिद्ध करे। 'कर्मणे वां वेषाय वाम्, यह कितना सुन्दर उपदेश है। प्रश्न यह उठता है कि इस चरमोद्देश्य की प्राप्ति में ये वैदिक यज्ञ किस प्रकार सहायक हैं? क्या इन के करने से इस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है? यदि नहीं तो फिर इनका करना ही व्यर्थ होगा।

इसी के साथ एक विचारक जब विचार करने लगता है तो उसके सामने उपनिषदों के वे कथन उपस्थित होते हैं जिनमें यज्ञ आदि की एक प्रकार की निन्दा दिखाई पड़ती है। जब ब्रह्म की प्राप्ति और मोक्ष की सिद्धि इन से नहीं होती तब इनकी इतनी बड़ी दुर्गवन्दी का फिर कोई अर्थ रह नहीं जाता। अगर ये मानवजीवन के अन्तिम उद्देश्य के पूरक नहीं हैं तो फिर इनके इतने विशाल आडम्बर से क्या लाभ। उपनिषदें भी तो शास्त्र हैं और हैं वे वह शास्त्र जो ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध रखता है। जब वे इन कर्मकाण्डों की इस प्रकार निन्दा करती है तो फिर इनके करने का लाभ भी क्या है? यहां पर कुछ विचार इसी दृष्टि से किया जाता है।

मुण्डकोपनिषद् में निम्न उल्लेख मिलते हैं :—

१—प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो ये अभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥
मु० २।६

२—इष्टापूर्त्तं मन्यमानावरिष्टं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीन तरञ्चाविशन्ति॥
मु० २।१०

इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१—निश्चय ये अग्निहोत्र आदि कर्म जिनमें १८ ऋत्विज् आदि होते हैं अवर अर्थात् अश्रेष्ठ कर्म है, स्थिरता रहित और नाशवान हैं। जो मूढ़ पुरुष यह ही मोक्ष का साधन है ऐसा समझकर सन्तुष्ट होते हैं वे बुढ़ापे और मृत्यु को पुनः प्राप्त होते हैं।

प्रमूढ़ लोग इष्ट और आपूर्त्त कर्म को श्रेष्ठ मानकर इससे भिन्न मोक्ष आदि कुछ नहीं है ऐसा मानते हैं। वे सकाम कर्म के फल को स्वर्ग की स्थिति में स्वर्गसुख प्राप्त कर उसके भोगानुसार इस लोक और हीनतर लोक को भी प्राप्त होते हैं।

यहां पर दिखाई पड़ता है कि यज्ञ आदि कर्मों की निन्दा की गई है। परन्तु सूक्ष्म विचार से यह बात गलत बन जाती है। प्रथम मंत्र में कहा गया है कि ये कर्म नाशवान् हैं और इन्हीं को मोक्ष समझ बैठना मूर्खों का काम है। ऐसे लोग स्वर्ग का सुख भोगने के बाद पुनः जरा मृत्यु को प्राप्त होते हैं। देखना यह है कि कर्म तो सभी नाशवान् हैं। चाहे यज्ञ हो चाहे और नैतिक कर्म। परन्तु समझने की बात यह है कि इनका फल भी नाशवान् है और स्थायित्व वाला नहीं है। इनके फल को भोगने के बाद पुन. शरीर धारण कर बुढ़ापे और मृत्यु का सामना तो करना ही पड़ता है। अतः ये स्थायी नहीं बार-बार योनियों में आना जाना बना रहता है और यह बंधन बना रहने से मोक्ष नहीं होता। अतः बन्धन का कटना मोक्ष है और उसके लिए इन कर्मों को निष्काम रूप में करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे मोक्ष सिद्ध हो। इन्हीं को एक मात्र चरमोन्नति मान बैठना ठीक नहीं।

दूसरे मंत्र में उसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है। वहां साथ ही कहा है कि इष्ट और आपूर्त कर्म के अतिरिक्त मोक्ष के अन्य साधनों को न मानने वाले लोग ठीक नहीं करते। उन्हें मालूम

होना चाहिए कि इसके फल में सुख का भोग करने के बाद तो फिर भिन्न भिन्न योनियों में आना जाना बना रहता है। बार बार जन्म-मरण का चक्र बने रहने से यह मोक्ष का एक मात्र साधन तो नहीं है।

तात्पर्य यह है कि यहां पर यज्ञ आदि को निन्दा उपनिषत्कार ने नहीं की है बल्कि उनका फल स्थायी नहीं है अतः स्थायी सुख मोक्ष को प्राप्त करने के लिए ज्ञान की प्राप्ति की प्रेरणा की है। उपनिषत्कार यह बताना चाहता है कि ये यज्ञ आदि मोक्ष तक पहुचाने वाले ज्ञान के साधन तो हैं परन्तु ये ही जीवन में साध्य हों ऐसा नहीं। इनको मोक्ष के साधक ज्ञान की प्राप्ति का साधन समझना चाहिए।

परन्तु यज्ञ आदि कर्म करने ही नहीं चाहिए—उपनिषत्कार का यह अभिप्राय नहीं है। ये यज्ञ आदि किये न जावें और बिना इनके किये ही ज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष मिल जावेगा—ऐसा उपनिषत्कार ने नहीं कहा है।

यदि उपनिषत्कार को यज्ञादि कर्मों की निन्दा अभिप्रेत होती तो वह निम्न वाक्यों का प्रयोग न करता। परन्तु उसने किया है जो इस प्रकार हैं—

१—तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः स्व कृतस्य लोके ॥ मु० २।१।

२—यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥
मु० २।२

३—यस्याग्निहोत्रमदर्शपौर्णमासमचातुर्मास्य
मनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिनाहुतमश्रद्धया
हुतमासप्तमान् तस्य लोकान् हिनस्ति ॥
मु० २।३

४—काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः॥
मु० २।४

४—एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥
मु० २।५

इनके अर्थ क्रमशः निम्न प्रकार हैं :—

१—यह सत्य है कि सूक्ष्मदर्शी विद्वानों ने जिन कर्मों को मन्त्रों में देखा है उनका त्रेता में बहुत विस्तार था। इसलिए सत्य संकल्प होकर उन कर्मों का नियमित आचरण करो। यह ही तुम्हारा जगत् में अपने किये कर्मों का मार्ग है।

२—निश्चय समिधाओं से जब अग्नि प्रज्वलित हो जावे और ज्वालायें धधक उठें तब घृत की दो आहुतियां क्रम से देवें और यह श्रद्धा से किया हुआ हो।

३—जिसका जो कर्म अग्निहोत्र, अमावस्या, पौर्णमासी के यज्ञ से रहित है, चातुर्मास्य यज्ञ से भी खाली है, आग्रयण से भी रहित है तथा अतिथि वर्जित है, समय पर होम से रहित है, वैश्वदेव कर्म से रिक्त है, बिना विधि के किया हुआ है, अश्रद्धा से किया गया है वह उसके सप्त लोकों को नष्ट करता है।

४—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, विश्वरूपी, प्रकाशमयी और प्रदीप्त—ये यज्ञ करने योग्य अग्नि की सात ज्वालायें हैं।

निश्चय इन प्रकाशमान ज्वालाओं में ठीक समय पर जो हवन करता है उस यजमान को ये उसकी प्रदत्त आहुतियां सूर्य की रश्मियों के साथ पहुंचाती है, उस अवस्था को जहां देवों का एकमात्र स्वामी विद्यमान रहता है।

इस प्रकार इन मन्त्रों से यज्ञ का करना ही नहीं सिद्ध हुआ बल्कि यज्ञ की आहुतियां देवों के एकमात्र स्वामी ब्रह्म को भी प्राप्त कराती हैं—यह भी वर्णित है। अतः यह स्पष्ट है कि यज्ञ अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति में साधन है। वे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक हैं। यही कारण है कि वेदों में कहा गया है कि जीवन-भर कर्म करो परन्तु निष्काम भाव से करो। इस प्रकार निष्काम भावना से किया हुआ कर्म लिप्त नहीं होता। अर्थात् वासना को नहीं उत्पन्न करता है। जिसे कर्मयोग कहा जाता है वा जो योग के अङ्ग आदि हैं वे भी तो

कर्म हैं। उनका करना परमावश्यक है अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए।

कर्म न करके और यज्ञ न करके केवल ज्ञानमार्ग का अनुसरण करना भी एक ढोंग है। बिना इनके कोई भी व्यक्ति ज्ञान की सिद्धि नहीं कर सकता है। वह ज्ञान भी किस कार्य का होगा जिसका कोई प्रयोगात्मक अंचल न हो। ज्ञान का मार्ग कर्म से अपनाया जा सकता है। यही कारण है कि वैदिक धर्म जिसमें इतने बड़े-बड़े यज्ञों का प्रतिपादन है वह विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान पर बल देता है। बिना कर्म किये कोई व्यक्ति एक क्षण के लिये भी नहीं रह सकता है। (इसलिए वैदिक दर्शन ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मोक्ष की सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं। न केवल कर्म और न केवल ज्ञान से मोक्ष मिलता है। वह तो दोनों के समुच्चय से मिलता है। हां यह ठीक है कि दोनों का पूर्वापर भाव रखना पड़ता है।)

मोक्ष का साधक ज्ञान-कर्म-समुच्चय

प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा है कि मैं दुःख से बचूं और सुख प्राप्त करूं। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व वह यह परिणाम निकाल कर ही प्रवृत्त होता है कि इसका फल अनिष्ट से बचना या इष्ट की प्राप्ति करना होगा। बिना इसका बिचार किये मनुष्य की किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। चाहे लोक सम्बन्धी कार्य हो चाहे परलोक सम्बन्धी, दोनों में ही इस धारणा का समावेश है। लोक में योग क्षेम की सिद्धि के लिए भी प्रवृत्त हुआ मनुष्य विघ्नों से बचना और लौकिक अभ्युदय का लाभ करना चाहता है तथा पारलौकिक कर्मों में लगा हुआ आगन्तुक जन्म आदि विघ्नों का परिहार और निःश्रेयस का लाभ चाहता है। यही कारण है कि शास्त्राध्ययन, यज्ञ, याग, ज्ञानार्जन, योगाभ्यास आदि कर्मों के अनुष्ठान में मनुष्य तभी उद्यत होता है जब जान लेता है कि इनका फल हमारे वर्तमान दुरितों का परिहार तथा आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है। अन्यथा परिश्रम-साध्य इन कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। चूंकि मनुष्य की प्रवृत्ति इष्ट की प्राप्ति और अनिष्टपरिहार-रूप फल को दृष्टिकोण में रख कर ही हुआ करती है, इसीलिए बहुधा शास्त्रकारों ने अपने शास्त्र की गूढ़ प्रक्रिया का

प्रारम्भ करने से पूर्व ही फल का वर्णन कर दिया है। मनुष्य इस फल को देखकर इनके अध्ययन आदि में प्रयत्नशील होता है।

जब यह ज्ञात हो गया कि मनुष्य सुखप्राप्ति और दुःखत्याग का अभिलाषी है तब यह सहज ही में सिद्ध हो जाता है कि उसका उद्देश्य इस अभिलाषा की पूर्ति करना है और इसीलिए वह संसार में प्रयत्नशील है। वे दुःख क्या है जिनका मनुष्य परित्याग करना चाहता है? शास्त्र की प्रक्रिया से उनके तीन वर्ग हैं, आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक। इनमें प्रथम से तात्पर्य उन दुःखों से है जो कि अपने शरीर, मन आदि साधनों में होते हैं, जैसे राग, मोह, क्रोध और पीड़ा आदि। दूसरे आधिभौतिक दुःख वे हैं जो कि अन्य प्राणियों के संसर्ग से होते हैं, जैसे सर्प आदि से काटा जाना आदि। आधिदैविक दुःख वे हैं जो दैवी शक्तियों के सम्बन्ध से होते हैं, जैसे अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि। यद्यपि दुःख अनेक प्रकार के हैं, फिर भी शास्त्रकारों ने उपकरण भेद से उनका बर्गीकरण तीन प्रकार से ही किया है। वेदानुसार संसार तीन प्रकार का है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव। अतः उनसे होने होने वाला दुःख और सुख भी तीन प्रकार का ही है। ये पूर्वोक्त तीन दुःख, दुःखों के समुदाय रूप होने से महान् दुःख माने जाते हैं, फिर भी इनका मूल मिथ्याज्ञान है, जिससे यह स्थिति लाभ करते हैं, इसलिए शास्त्रों में मिथ्या ज्ञान को ही परम दुःख कहा गया है। मनुष्य जिन दुःखों का परित्याग करना चाहता है, उनका वर्णन कर देने पर पुनः दूसरा प्रश्न समक्ष उपस्थित होता है कि वह सुख क्या है जिसको वह प्राप्ति करना चाहता है। इसका समाधान यह होगा कि सुख भी उपकरणों के भेद से पूर्वोक्त तीन प्रकार का है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इनका लक्षण तीन दुःखों के लक्षणों में दुःख के स्थान पर सुख शब्द जोड़ देने पर समान ही होगा। जैसे पूर्वोक्त तीन प्रकार के दुःख मनुष्यों को प्राप्त होते हैं वैसे ही ये त्रिविध सुख मनुष्य को संसार में प्राप्त होते हैं। यद्यपि ये तीनों प्रकार के सुख मनुष्य को संसार में प्राप्त होते हैं फिर भी वह इन्हीं मात्र से सन्तुष्ट नहीं, क्योंकि इनके मध्य में दुःखों की चोट आ जाया करती है। ये तीन प्रकार के सुख जिस कारण से सुख कहे जाते हैं वह ज्ञान है जो कि इन तीनों सुखों में काम किया करता है। पहले कहा गया है कि ये तीनों सुख दुःख-मिश्रित हैं, अतः मनुष्य की

इनसे सन्तुष्टि नहीं। फिर किस सुख से उसको सन्तुष्टि होती है? इस पर विचार करने से पता चलता है कि ये सुख जिस सुख के अंश तुल्य हैं ऐसा कोई महान् सुख अवश्य होगा।

उस महान् सुख का निर्णय इस प्रकार है। मनुष्य में कुछ न कुछ सार्वज्ञबीज नैमित्तिक रूप से है जिससे कि वह अतीन्द्रिय वस्तुओं को जानता है। उस सार्वज्ञबीज की अन्तिम पराकाष्ठा परमेश्वर में है। इसी प्रकार आनन्दबीज भी किसी न किसी मात्रा में नैमित्तिक रूप से उपस्थित है। इस बीज की भी चरम सीमा परमेश्वर में है। इसीलिए उसे आनन्दमय कहा है। वेदान्त दर्शन में "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इस सूत्र से परमेश्वर को आनन्दमय कहा गया है। वेद में भी इसे अकाम, धीर, आनन्द से तृप्त और अमृत कहा गया है। उपनिषद् पदे पदे ब्रह्म को आनन्दस्वरूप प्रतिपादित करती है। अस्तु! ब्रह्म आनन्दमय है। उसके इस आनन्द (परम सुख) की अपेक्षा पूर्वोक्त त्रिविध सुख लौकिक और दुःखमिश्रित होने से लघु है। अतः मनुष्य संसार में तो व्यावहारिकरूप से उन सुखों को चाहता ही है, परन्तु परमार्थ में इस परम सुख परमानन्द की ही प्राप्ति करना चाहता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि मनुष्य संसार के दुःखों की निरन्तर चोट से आहत होकर दुःखों की निवृत्तिपूर्वक जिस सुख को प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है वह यही परमानन्दरूप सुख है। प्रकरण को इतने तक लाने के अनन्तर यह परिणाम निकला कि मनुष्य को संसार में दुःख तीन और अज्ञान रूप महान् दुःख है जिसकी कि वह निवृत्ति चाहता और साथ ही परमानन्दरूप परमात्मास्थ सुख है, जो उसमें है नहीं और उसकी वह प्राप्ति करना चाहता है। इस दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति को ही पुरुष का प्रयोजन माना गया है।

मोक्ष का स्वरूप

ऊपर कहा जा चुका है कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और सुख प्राप्ति मनुष्य का मुख्य उद्देश्य है। अब इससे मुक्ति का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। शब्दों में भाव को इस प्रकार व्यक्त करेंगे कि अज्ञानमूलक त्रिविध दुःख की निवृत्ति अथवा तत्पूर्वक परमानन्द प्राप्ति मोक्ष है। इस विषय में वर्तमान समय के दार्शनिकों में बड़ा ही वाद-विवाद है, फिर भी बातें दोनों ठीक हैं ऐसा ही मानना अभि-

प्रेत है। दर्शनकार ऋषियों में भी शास्त्रों की प्रक्रिया के कारण भेद भले ही रहा परन्तु वास्तविक सिद्धान्तभेद नहीं था। यह मैं आगे स्पष्ट करूंगा। यहां पर तो थोड़ा सा विचार मोक्ष के स्वरूप पर ही किया जाता है। वेद में मुक्तिविषयक अनेकों प्रमाण है, यहां पर थोड़े से दिये जाते हैं, जिनसे पता चलेगा कि वेद में मुक्ति का स्वरूप क्या है?

१—येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्॥ ऋ० ४।११।६

२—उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। यजु० ३।६०

३—यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त। यजुः० ३२।१०

४—इंद्रस्य सख्यममृतत्वमानशुः। ऋ० १०।६२।१

इसके अर्थ क्रमशः निम्न है, :—"जिस (धर्माचरण) से ज्ञानीजन शरीर को त्याग कर अमृत की नाभि आनन्द के केन्द्ररूप प्रकाश को प्राप्त करते हैं।" परमेश्वर के अनुग्रह से हम पका खरबूजा जिस प्रकार वृत्तसे पृथक् होता है वैसे ही मृत्यु बन्धन से छूटे परन्तु अमृत=आनन्द से नहीं "जिस परमेश्वर में विद्वान् जीव, मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हुए जीव, प्रकृति से बिलक्षण धाम में विचरते हैं।" जो उपासना आदि शुभ कर्म से परमात्मा की मैत्री और मोक्ष सुख को प्राप्त करते है"। इन मंत्रों मे से प्रथम मंत्र मे शरीर को छोड़कर अमृत की नाभि=आनन्द के केन्द्र का प्राप्त करना लिखा है। शरीर दुःखमय बन्धन का उपलक्षण है और उसकी निवृत्ति के बाद आनन्द की प्राप्ति करना लिखा है।

इसी प्रकार दूसरे मंत्र मे मृत्यु को बन्धन कहा गया है। उससे छूटना और अमृत=आनन्द ग से भोन छूटना वर्णन किया गया है। उपमा ने तो और भी महत्व पूर्ण भाव व्यक्त किया है अर्थात् खरबूजा पक कर जिस प्रकार बन्धन (ढेपी) से अलग हो जाता है वैसे ही बन्धन से अलग होकर आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि दुःखनिवृत्ति मात्र ही मुक्ति होती तो फिर "मामृतात्" पद से अमृत से न छूटने की भावना को व्यक्त करने की आवश्यकता ही क्या थी। अतः यही भाव अभिप्रेत हैं कि मृत्युरूप बन्धन से निवृत्त होकर अमृत की

प्राप्ति होती है। इन दोनों मंत्रों में बन्धन (त्रिविध तापादि) की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहा गया है। शेष मंत्रों में परमानन्द की प्राप्ति मुक्ति है यह वर्णन किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि वेद दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष मानता है। इसी प्रकार :—न तत्रत्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वा अशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।

कठ० १।१३

"रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति" तै० उ० २।७।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।

मु० ३।१।३

अर्थात् उस मुक्ति अवस्था में मौत, बुढ़ापा, शोक, प्यास और भूख को पार कर मुक्त पुरुष आनन्द उठाते है और उस परमेश्वर को (या उसके परमानन्द) को प्राप्त कर पाप आदि से धुले हुए बन्धनरहित परमेश्वर की समता को लाभ करके आनन्दित होते हैं, इत्यादि वाक्यों से उपनिषदें भी दुःख निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष बतलाती है। दर्शनकारों ने भी अपनी अपनी प्रक्रियानुसार मोक्ष का लक्षण कियां है। सांख्यदर्शन में साधारणतया त्रिविध ताप की अत्यन्त-निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ और मुक्ति कहा गया है। पहले सूत्र में इसे पुरुषार्थ बतलाकर पुनः बाद के अध्यायों में इसे मुक्ति कहा गया है परन्तु यह है सामान्य रूप से। विशेष का विचार बाद में किया जायगा। योग में—

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम् स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। योग-४।३४।

इसके द्वारा मुक्ति का यह स्वरूप बतलाया कि भोग अपवर्ग को पूरा किए हुए पुरुष के प्रयोजन से निःशेष हुए सत्व, रजस् आदि गुणों का आपसी कारणावस्था को प्राप्त होना कैवल्य है, उसमें चेतन शक्ति, पुरुष, बुद्धि आदि के धर्मों से रहित हो अपने निखरे हुए स्वरूप में स्थित होता है। वैशेषिक दर्शन में—

"तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः"। ५।२।१८।

इसमें बतलाया गया है कि मिथ्याज्ञान के अभाव से संयोग का अभाव और उससे जन्म का न होना ही मोक्ष है। वैशेषिक में इसे निःश्रेयस नाम से भी पुकारा गया है। न्याय में—

"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः"। १।१।२२।

सूत्र द्वारा दुःख और जन्म से अत्यन्त विमुक्ति को अपवर्ग-मोक्ष कहा गया है। दूसरी जगह पर अर्थात् दूसरे सूत्र में मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से दोष की निवृत्ति से प्रवृत्ति की निवृत्ति, उसकी निवृत्ति से जन्म का अभाव और जन्म के अभाव से अपवर्ग होता है, यह लिखा है। वेदान्त में—

"भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च"। ४।४।२१।

सूत्र से बतलाया गया है कि जीव की मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के साथ केवल आनन्द भोग मात्र की समता रहती है। शेष धर्मों की नहीं। इसी प्रकार अन्य सूत्रों से भी इसी प्रकरण में आनन्द-प्राप्ति को व्यास ने मुक्ति माना है। हमने यहां संक्षेप में ही दर्शनों के प्रमाण देने की चेष्टा की है। दर्शनों के इन प्रमाणों का निरीक्षण करने के बाद यह पता चलता है कि मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है। एक दुःखात्यन्तनिवृत्ति और दूसरी परमानन्द-प्राप्ति। चार दर्शनों में दुःखात्यन्तनिवृत्ति मोक्ष है और वेदान्त में ब्रह्मानन्दप्राप्ति, ऐसा भेद यद्यपि प्रतीत होता है फिर भी यह जानना चाहिए कि इनमें कोई भी सिद्धान्तभेद नहीं अपितु प्रक्रिया और शब्द का भेद है। जब वेद में दुःख निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मानन्दप्राप्ति को मोक्ष माना गया है तो वेद को मानने वाले दर्शन उसके विपरीत कैसे मान सकते हैं और परस्पर आपस का मतभेद क्यों कर हो सकता है। यह तो नवीनों की कृपा है कि उन्होंने यह सिद्ध करके कि दुखात्यन्त-निवृत्ति-मात्र ही मोक्ष है तत्पूर्वक ब्रह्मानन्द प्राप्ति नहीं, आदि पर वाद-विवाद चलाकर मतभेद खड़ा किया।

यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि नवीनों का ही खड़ा किया हुआ यह मतभेद है तो फिर इन दर्शनों में आनन्दप्राप्ति का खण्डन क्यों किया गया है। इसका समाधान यह है कि प्रथम तो दुःखात्यन्त निवृत्ति को मुक्ति प्रतिपादन करने वाले दर्शनों में मूल रूप से आनन्द प्राप्ति पक्ष का खण्डन किया नहीं गया है। हां यदि किसी एक (अर्थात् सांख्य) में ऐसा आ भी गया है तो वह अन्य भाव का द्योतक है, ब्रह्मानन्द प्राप्ति का निषेधक नहीं। रही बात यह कि ब्रह्मानन्द प्राप्ति का वर्णन क्यों नहीं किया? उसका उत्तर यह है कि प्रक्रियाभेद के कारण। सांख्य में—

"नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मकत्वात्" ५।७४

अर्थात् पुरुष के निर्धर्म होने से आनन्द की अभिव्यक्ति रूप मुक्ति नहीं," जो यह कहा है वह ब्रह्मानन्द प्राप्ति का निषेध नहीं अपितु जीव को नित्य सुख को अभिव्यक्ति होती इस का निषेध है। कई एक आचार्य यह मानते थे कि जिस प्रकार मुक्ति में जीव की महिमा बढ़ जाती है उसी प्रकार उसका नित्य सुख भी अभिव्यक्त हो जाता है और उससे वह सुखी हो जाता है। इस पक्ष का खण्डन सांख्य के इस सूत्र में किया है न कि ब्रह्मानन्द प्राप्ति का। यदि दुःखात्यन्त-निवृत्ति को ही मुक्ति मानकर ब्रह्मानन्द प्राप्ति का खण्डन करना ही सांख्याचार्य को अभिप्रेत होता तो वह—

"—समाधिसुषुप्तिमोक्षेषुब्रह्मरूपता" ५।११६

अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है यह सूत्र न लिखते। जैसे सांख्य ने इस पूर्वोक्त सूत्र द्वारा इन कथित आचार्यों के विचार का खण्डन किया है उसी प्रकार वात्स्यायन ने भी न्याय १।१।२२ सूत्र के भाष्य में जीव के स्वकीय नित्यसुखाभिव्यक्तिवाद का विस्तार से खण्डन किया है। हां जिस प्रक्रियाभेद से ब्रह्मानन्द प्राप्ति का खण्डन न करते हुए दुःखात्यन्त निवृत्ति को ही मुक्ति कहा, वह प्रक्रिया भेद यह है कि दर्शन का विषय लक्षण द्वारा सबका भेदात्मक स्वरूप वर्णन करना है। अतः मिश्रण जो आत्मा का प्रकृति के साथ है उसको अलग करके प्रकृति, आत्मा और परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को अलग अलग रख दिया। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कोरे अध्यात्म शास्त्र का विषय है अतः दृश्य, अदृश्य के संबन्धमात्र का वर्णन करने वाले दर्शनों ने उसका वर्णन नहीं किया। यह विषय उपनिषदों का था। यही कारण है कि वेदान्त का संबंध उपनिषदों से था अतः उसने इसका भी वर्णन किया। दूसरी विशेष प्रक्रिया यह है कि विशेषतया ये दर्शन हेय, हेय-हेतु, हान और हानोपाय इन्हीं विषयों का वर्णन करते हैं।

योगदर्शन में यही प्रक्रिया स्वीकार की गई है और न्याय में भी यही प्रक्रिया वर्ती गई है। जैसा कि भाष्यकार वात्स्यायन के प्रथम सूत्र भाष्य से स्पष्ट होता है। रहे सांख्य और वैशेषिक, उनमें भी सांख्य की योग और वैशेषिक की न्याय से समानता होने के कारण यही प्रक्रिया वर्ती गयी प्रतीत होती है। दुःखमय संसार हेय, प्रधान और पुरुष का संयोग हेय-हेतु, संयोग की अत्यन्त निवृत्ति हान और सम्यक्

दर्शन हानोपाय है। इन्हीं चारों का प्रतिपादन करने की प्रक्रिया का अवलम्बन करने से इन दर्शनों में-दुःखात्यन्तनिवृत्ति तक का ही वर्णन किया है। उसके आगे होने वाली ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का वर्णन नहीं किया। वास्तव में दुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द प्राप्ति का नाम मोक्ष है यह इस प्रकरण में सिद्ध किया गया।

वेद उपनिषद् और दर्शनों से यह प्रतिपादन करते हुए अपने आचार्य यतिवर दयानन्द की सम्पति भी उल्लेख कर दी जाती है जिससे यह विदित हो जाएगा कि ऋषि ने किस प्रकार सबका समन्वय किया और सिद्धान्त रूप से सार सामने उपस्थित कर दिया। महाराज जी अपनी पुस्तक आर्योद्देश्यरत्नमाला में लिखते हैं—मुक्ति अर्थात् जिससे सब बुरे काम और जन्म-मरण आदि दुःख सागर से छूटकर सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना है वह मुक्ति कहाती है।

आचार्य ने सबका निचोड़ रख दिया। मुक्ति के इस स्वरूप के विचार करने के बाद आगे उसकी प्राप्ति के साधन पर विचार किया जायगा।

मोक्षप्राप्ति के साधन

मोक्ष का स्वरूप दर्शाया गया। अब उसकी प्राप्ति के साधनों का विचार किया जाता है। पूर्व यह कहा जा चुका है कि तापों (दुःखों) का मूल महादुःख अज्ञान है। उसकी निवृत्ति करना ही उचित है। उसकी निवृत्ति से दुःखों की निवृत्ति हो जायगी क्योंकि अज्ञानरूप कारण के नाश हो जाने पर कार्य भी नाश हो जायगा। पुरुष को संसार में जो कुछ भी बन्ध है वह अज्ञान से है अतः उस अज्ञान की ही निवृत्ति करने के विधान शास्त्रों में बताये गये हैं। कई एक भक्तनामधारी, जिनको अन्धविश्वासमयी कोरी भक्ति ही प्यारी है। यह समझते है कि सिर्फ कर्म से ही मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जायगी तथा उसकी निवृत्ति होने से पुरुष बन्धनमुक्त होकर सर्वथा मुक्त हो जायगा।

ऐसे विचार वालों के विषय में यही कहना चाहिए कि वे फिर भक्ति के स्वरूप को जानते ही नहीं। वास्तव में परम गुरु परमेश्वर में समस्त कर्मों का अर्पण करना भक्ति है। यही वास्तविक कर्मयोग

है और यह बिना ज्ञान के हो सकता ही नहीं। कर्म का करना दो ही प्रकार से बन सकता है, ज्ञान पूर्वक या अज्ञान पूर्वक। यदि ज्ञानपूर्वक कर्म भक्तिवादियों को स्वीकार है तो फिर यह कि केवल कर्म दुःख-निवर्तक और बन्ध के कारणों का शिथिल करने वाला है बन नहीं सकता क्योंकि ज्ञान साथ में लगा हुआ है।

यदि अज्ञानपूर्वक कर्म को मुक्ति का कारण स्वीकार करें तो फिर बन्धन ही बढ़ता जायगा। क्योंकि अज्ञानपूर्वक किए कर्मों का फल अवश्य होता है और वह होता भी है कटु। ऐसी अवस्था में फलों की उत्पत्ति बनी रहने से मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकेगी। कई लोग यह मानते हैं कि मुक्ति कोरे ज्ञान से प्राप्त होती है। कर्म की उसके लिए आवश्यकता नहीं। उनसे पूछना चाहिए कि क्या बिना कर्म किए कभी ज्ञान की सिद्धि हो सकती है-कदापि नहीं। ज्ञान के बिना कर्म में कुशलता नहीं आ सकती और न बिना कर्मकौशल के सदसद्विवचनात्मक ज्ञान ही प्रादुर्भूत हो सकता है। यह किसी भी दशा में संभव नहीं कि मनुष्य बिना कर्म किए सिर्फ ज्ञान के सहारे पर ही रह सके। बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी कर्म करना ही पड़ता है। यह क्यों? इसलिए कि शरीर का धर्म ही कर्म करना है।

शरीर में प्रकृति के जो गुण काम कर रहे हैं वे बिना कर्म में प्रवृत्त किए नहीं रह सकते। इसलिए यह केवल कोरा ज्ञानवाद भी बन्धन को तोड़कर मुक्ति देने में समर्थ नहीं। अब यहां पर कुछ विशद विचार करने के लिए प्रसंग का उत्थापन किया जाता है। वर्तमान कालिक प्रचलित भक्तिवाद और कोरे ज्ञानवाद का निराकरण कर देने पर भी यह विचारणीय रहेगा कि मुक्ति के साधन कौन से हैं। यहां पर वैदिक मर्यादा के उद्धारक आचार्य दयानन्द का मत दिया जाता है जो कि वास्तव में इस विचारसरणी के चलाने का आरम्भ बिन्दु और मुक्ति साधन क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर होगा। महर्षि ने अपने मन्तव्यों का वर्णन करते हुए—स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में लिखा है कि "मुक्ति के साधन ईश्वरोपसना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।"

महर्षि के इन शब्दों में महान् आशय छिपा है। वह है ज्ञान और कर्म का समुच्चय। उनकी दृष्टि से ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर

मुक्ति के देने वाले हैं, केवल ज्ञान या कर्म नहीं। ज्ञान कर्म का समुच्चय बन्धन का तोड़ने वाला है यह पक्ष कहां तक सारपूर्ण या निःसार है, इस पर विचार करना आवश्यक है। यद्यपि पूर्व यह लिखा जा चुका है कि केवल कर्म या केवल ज्ञान मुक्ति के हेतु नहीं, फिर भी—

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धि:

इस न्याय का अनुसरण करके लक्षण प्रमाण से इसकी सिद्धि का कुछ प्रयत्न किया जाता है। जहां तक वेदों का इस विषय में संबंध है वे ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद के ही प्रतिपादक है, केवल ज्ञान या केवल कर्म के नहीं। वेदों के विज्ञान, कर्म उपासना और ज्ञान के चार विषय ही प्रकट करते हैं कि उनमें केवल ज्ञान या केवल कर्म का प्रतिपादन नहीं। बिना ज्ञान के कर्म और कर्मज्ञान के बिना उपासना तथा उसके बिना विशेष ज्ञान की सिद्धि नहीं। वेद ज्ञानकर्मसमुच्चय के प्रतिपादक है यह बात निम्न प्रमाणों से स्पष्ट हो जायगी :—

१—विद्यांचा विद्यांचयस्तद्वेदोभयँसह ॥
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ यजुर्वेद ४०।१४

२—येन देवा: स्वरारुर्हुहित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ॥
तेन गेष्म सुकृतस्य लोके धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥ अ० ४।११।६

३—अव्यसश्च व्यचसश्च विलं विष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे। अथर्व १६।६८।१

४—कस्त्वा युनक्ति सत्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति। तस्मै त्वा युनक्ति।

कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ यजु : १।६

५—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँसमा:
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ यजु: ४०।२

इनके अर्थ क्रमशः नीचे दिये जाते हैं :—

१—जो मनुष्य अविद्या=कर्म और विद्या=ज्ञान दोनों को साथ साथ जानना है। वह कर्म से मृत्युरूपी बन्धन को पार करके ज्ञान

से अमृत=मोक्षानन्द को प्राप्त करता है। २—निष्काम ज्ञानी जन जिसके द्वारा शरीर को छोड़कर मोक्ष के केन्द्र आनन्द प्रकाश को प्राप्त करते हैं, उस धर्माचरण व्रत और तप से यशस्वी होकर सूकृत के लोक को हम प्राप्त करें। ३—अव्यापक और व्यापक (जीव, प्रकृति और परमेश्वर) के बेद को बुद्धि=ज्ञान द्वारा खोलता हूं। उन दोनों से अपने अनुभव को ऊपर उठाकर अनंतर कर्मों को करता हूं।

४—तुझको (शरीर में) कौन जोड़ता है? परमेश्वर जोड़ता है। किस लिए जोड़ता है? परमेश्वर की प्राप्ति के लिए जोड़ता है। और कर्म तथा ज्ञान के लिए जोड़ता है। ५—हे जीव कर्म को करता हुआ तू सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर। इस प्रकार निष्काम कर्म करने वाले तुझमें कर्म लिप्त न होगा। इससे विपरीत (मार्ग) नहीं।

इन मन्त्रों में से पहले मंत्र में कहा गया है कि कर्म और ज्ञान को साथ साथ लेकर चलना चाहिए। ऐसा करने से कर्म द्वारा बन्धन को तोड़कर ज्ञान द्वारा मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। दूसरे मंत्र में धर्माचरण को मुक्ति प्राप्त करने का साधन बतलाया गया है। तीसरे मंत्र में ईश्वर जीव प्रकृति के भेद को ज्ञान से जानकर अनुभव को बढ़ाते हुए कर्म करने का विचार प्रकट किया गया है। चौथे मंत्र से मनुष्य का शरीर में आने का उद्देश्य बतलाते हुए परमेश्वर प्राप्ति और उसके साधन कर्म और ज्ञान का अनुष्ठान करना बतलाया गया है और पाचवें में मनुष्य को एक मात्र मार्ग निष्काम कर्म बतलाया गया है और यह भी दर्शाया गया कि इस प्रकार किया कम फल देने वाला नहीं होता।

इन सभी मंत्रों का भाव यही है कि मोक्ष ज्ञान और कर्म से प्राप्त होता है, शरीर में रहकर जीव दोनों को ही धारण करे और ज्ञान से किया कर्म फलदाता नहीं होता। यदि कर्म का मोक्ष में उपयोग न होता तो इस प्रकार जोवन भर कर्म करने का उपदेश करने की जरूरत क्या थी। कर्म से ज्ञान की सिद्धि और ज्ञानपूर्वक किए कर्म से मोक्ष प्राप्ति होती है। वेद ने यहां ज्ञान कर्म के समुच्चय को स्पष्ट ही मोक्ष का साधन बतलाया। उपनिषदों में प्रथम ईशो-

पनिषद् जो यजुर्वेद का चालींसवां अध्याय है उसमें दूसरे मंत्र में जीवन भर कर्म करने का उपदेश होते हुए भी शेष उपनिषदों में ज्ञान से मोक्ष को प्राप्ति का वर्णन है। कठोपनिषद् २।१४ में नचिकेता ने यमाचार्य से कहा कि हे आचार्य, अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अर्थात् धर्म अधर्म से अन्य तथा किए और न किए कर्म से अन्यत्र जो अध्यात्मतत्व आप जानते हैं वह मुझे बतावें, इसवाक्य से यह व्यक्त होता है कि अध्यात्मतत्व कर्म से परे हैं। वह कर्म से लब्ध नहीं हो सकता।

मुण्डकोपनिषद् २।७ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ इस मंत्र में यज्ञ कर्मों को संसार सागर तारने में असमर्थ बतलाया गया है और इनको ही श्रेय मानने वालों को मूढ़ कहा गया है। आगे २।१० में इष्ट और आपूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानकर उसके अधिक मोक्ष सुख की सत्ता को न स्वीकार करने वाले को निकृष्ट लोक की प्राप्ति लिखी है। इन वाक्यों से कई आचार्य यहो समझते हैं कि उपनिषदें कर्म का खण्डन करती है। परन्तु विचार करने से पता चलता है कि ये मोक्ष साधन निष्काम कर्म का खण्डन नहीं कर रही हैं अपितु सकाम कर्म जो फल द्वारा बन्धन का हेतु है उस का ही खण्डन करती हैं। हां यह ठीक है कि ये ज्ञानमार्ग की प्रतिपादिका हैं क्योंकि इनका विषय हो यही है। यदि ये मोक्ष के लिए कर्म की साधनता को न स्वीकार करतीं तो उसकी प्राप्ति के साधन तप, भक्ति और उपासना को महत्व न देतीं, परन्तु दिया है इससे ही प्रकट है कि ये निष्काम कर्म को ज्ञान के साथ मुक्ति का साधन मानती हैं।

दूसरे जब वेद ज्ञान कर्म के सुगम समुच्चय को मुक्ति का साधन मानता है तो फिर वेद से ही निकली उपनिषदें स्वतःप्रमाण वेद का खण्डन किस प्रकार कर सकती हैं। यदि करती भी तो इन्हीं की अप्रमाणता होती, वेद की बात तो सिद्ध ही रहती। अब रहे दर्शन। उनका यहां पर मत दिया जाता है। न्याय में ज्ञान से निःश्रेयस माना गया है। गौतमीय न्याय के दूसरे ही सूत्र से इसका प्रमाण मिल जाता है। वह इस प्रकार से कि दुःखरूप बन्ध पुरुष को जन्म लेने से प्राप्त होते हैं, जन्म तब होता है कि जब प्रवृत्ति बनी रही है। प्रवृत्ति राग

और द्वेष से हुआ करती है और राग द्वेष मिथ्याज्ञान के कारण से होते हैं। यह दुःख से लेकर मिथ्याज्ञान पर्यन्त का चक्र ही वास्तव में संसार है। चूंकि इस सब प्रपंच का कारण मिथ्याज्ञान है और उसकी निवृत्ति ज्ञान से हो सकती है अतः ज्ञान मोक्ष का कारण है। वैशेषिक दर्शन में भी बन्धन का कारण मिथ्याज्ञान को ही माना गया है। जैसा कि—

"तदभावे संयोगाभावोऽप्रदुर्भावश्च मोक्षः"

इस सूत्र में वर्णन किया गया है। सांख्य में बन्धो विपर्ययात्, ज्ञानन्मुक्तिः इन सूत्रों द्वारा बन्ध के कारण अज्ञान को मानकर ज्ञान से मुक्ति मानी गयी है। योग मे भी प्रकृति पुरुष का ज्ञान कैवल्य का कारण है फिर भी सारी प्रक्रिया उसको कर्म पर निर्भर करती है, इसलिए कर्म का खण्डन नहीं। वेदान्त दर्शन में ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय से ही मुक्ति मानी गयी है जैसा कि—

"अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्" ४।१।१६

इस सूत्र से अभिव्यक्त होता है। यद्यपि ज्ञान से मुक्ति प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों ने ज्ञान को विशेषता दी है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे ज्ञान के साथ कर्म को मुक्ति का साधन नहीं मानते। वेदान्त तो स्पष्ट ही उपासना अग्निहोत्रादि कर्मों को मुक्ति का साधन मानता है। योग में स्पष्ट ही २।१ में तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान=परमगुरू परमेश्वर में कर्मफ़ल के त्याग को क्रिया-योग अर्थात् कर्मयोग कहा गया है। यह क्रियायोग=कर्मयोग चित्त को समाहित करता है। इस प्रकार यह भी निष्काम योगाभ्यासादि कर्मों को ज्ञान के उदय का कारण मानते हुए मुक्ति का साधन कर्म को स्वीकार करता है। रहे सांख्य वैशेषिक और न्याय। ये ज्ञान पर इसलिए बल देते हैं कि मिथ्याज्ञान का निवारक ज्ञान ही है। अतः उसकी मोक्ष के प्रति मुख्य कारणता है। पूर्व कहा जा चुका है कि प्राचीन दर्शनों में प्रक्रियाभेद होते हुए भी सिद्धान्त-भेद न था। लेकिन नवीनों ने अपनी लीला से भेद और विरोध दिखला दिया। यहां भी वैसी ही बात है। प्राचीनों का मतभेद न होते हुए भी नवीनों ने भेद पैदा किया। कई नवीन दार्शनिकों ने ज्ञान कर्म के समुच्चय का खण्डन करके ज्ञान को मुक्ति का कारण सिद्ध किया है। यह प्रोत्साहन इनको स्यात् सांख्य के इस सूत्र—

"नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ" ३।२५

से प्राप्त हुआ होगा। परन्तु उनका यह भ्रम है। इसमें वास्तव में ज्ञान को मोक्ष का मुख्य कारण माना गया है। अतः मुख्यकारणता का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया है कि मुक्ति का मुख्य कारण समुच्चय और विकल्प नहीं। यदि कर्म मोक्ष के लिए ज्ञान के सहायक के रूप मे स्वीकृत न होता तो सांख्यकार कभी भी—

"स्वकर्मस्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्" ३।३५ तथा

"धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ३।३३

आदि सूत्रों द्वारा यह प्रतिपादन न करते कि अपने आश्रमों में विधान किए कर्म स्वकर्म हैं और उनके तथा धारणा और आसन के द्वारा ध्यान की सिद्धि होती है। इससे स्पष्ट है कि सांख्य ज्ञान कर्म दोनों का स्वीकार करता है। सामान्यरूप से यहां यह बात समझनी चाहिए कि ज्ञान को मोक्ष साधन मानने वाले दर्शन यदि कर्म का उसके साथ सहयोग न मानते तो, जिस ज्ञान को वे बन्ध का निवर्तक मानते हैं उसकी सिद्धि के लिए योगाभ्यासादि का करना स्वीकार न करते, परन्तु इसका स्वीकार सभी ने किया है। जब योग आदि स्वयं कर्ममय हैं तो फिर कर्म का निषेध हो ही कैसे सकता है। उदाहरण के लिए इन दर्शनों के प्रमाण दिये जाते हैं। सांख्य तो योग का ही पोषक है अतः वह वैराग्य और अभ्यास को मानता है और योग के ध्यान धारणा आदि अंगों को भी मानता है।

"वैराग्यादभ्यासाच्च" ३।३६। "धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः" ३।३३ आदि सूत्र प्रमाण हैं। न्याय के—

"अरणयगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः" ४।२।४२ तथा "तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ४।१।४६

आदि सूत्रों में अपवर्ग की प्राप्ति के लिए यम नियम आदि का पालन करना लिखा है। इसी प्रकार वैशेषिक ६।२।२ में ब्रह्मचर्य गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान आदि को अपवर्ग का साधन माना गया है। इसके अतिरिक्त तात्त्विकज्ञान जो स्वयं जीव का स्वाभाविकमात्र ज्ञान नहीं अपितु नैमित्तिक ज्ञान है और मोक्ष का दाता है उसकी सिद्धि भी इन दर्शनों ने योग आदि निष्काम कर्मों के द्वारा

मानो है। क्योंकि बिना कम ज्ञान की प्राप्ति होना कठिन है।

इतने विचार से यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान को मुक्ति साधन मानने वाले दर्शन भो उस ज्ञान को प्राप्ति और अपवर्ग की सिद्धि के उपाय कर्मयोग को स्वीकार करते हैं। अब यह विचार करना शेष है कि नवीनों ने फिर ऐसा होते हुए भी ज्ञानकर्म समुच्चय को मोक्ष साधन होने का खण्डन क्यों किया? इसका समाधान यह है कि उनको भ्रम था। वह भ्रम यह था कि कर्म फल पैदा करने वाला है अतः कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय मानने पर मोक्ष में भी जन्म आदि की प्राप्ति का प्रसंग होगा। नवीनों के तद्विपक प्रकरणों का परिशोलन करने पर यही मुख्य तर्क उनमें दृष्टिगत भी होता है। परन्तु यह निःसार और भ्रमपूर्ण है कि सभी कर्म फल देने वाले हो होते हैं। पाप और सकाम कर्मफल देने वाले होते हैं, निष्काम कर्म नहीं। वेद का यह सिद्धान्त है कि मिथ्याज्ञान से किए कर्म फलदाता है, ज्ञानपूर्वक किए कर्म मोक्ष के दाता हैं, जन्मादि फल के दाता नहीं। यहां सिद्धान्तरूप से मानने की बात यही हुई कि अज्ञानपूर्वक किए गये कर्म जन्म, दुःख बन्धन, आदि फलों के उत्पादक हैं, ज्ञानपूर्वक किए कर्म नहीं। मनुष्य जब ज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञान को शुद्ध करके कर्म करता है तब वे कर्म फल द्वारा बन्धन के हेतु न होकर मोक्ष तक पहुंचाते हैं। बुद्धि से शुद्ध किए कर्म करने का वर्णन ऋ० ।३।८।५ में है "पुनन्ति धीरा अपसोमनीषा" वाक्य से मिलता है अर्थात् धीर लोग मनीषा=बुद्धि से अपसः=कर्मों को शुद्ध करते हैं। ऐसे ज्ञानपूर्वक कर्म से बन्धन को तर जाते हैं जब कि इनको परमेश्वर में अर्पण कर देते हैं। इसका वर्णन ऋ० ७।३२।१३ में मिलता है। पूर्वीश्चन प्रसृतयस्तरन्ति यं तं य इन्द्र कर्मणाभुवत् अर्थात् उसके पूर्व के बन्धन पार कर जाते हैं (छोड़ जाते हैं) जो परमेश्वर में ज्ञान से शुद्ध कर्म को अर्पण करते हुए कर्म करता है।

यदि सभी कर्म फल वाले होते तो बन्धन के हेतु होने से आ-जीवन कर्म करने का उपदेश ही वेद क्यों करता। इसके अतिरिक्त वेद ने स्वयं भी कह दिया है कि इस प्रकार निष्काम या अज्ञानपुट से रहित कर्म लिप्त नहीं होता। वास्तव में अज्ञान मूल में जब तक बना है तब तक ही कर्मों का फल है। जब अज्ञानमूल ज्ञान से कट जाता है तो स्वयं कर्म फलदाता नहीं। यदि कर्म स्व-

भावतः बन्धन पैदा करने वाला या फलदाता होता तो हमारे शरीर के उन कर्मों का भी फल होना चाहिए जो कि बिना इच्छा (involuntarily) किए गये हैं। यहां पर कोई यह शंका भी उठा सकता है कि जब अज्ञानपूर्वक किए कर्मों का ही फल होता है, वह भी इस-लिए कि अज्ञानरूप मूल बना हुआ है तो फिर अग्निहोत्र, दानादि वा इष्ट और आपूर्त जो सकाम भावना से किए कर्म हैं उनका फल क्यों होता है? क्योंकि वे तो जानकर ही किए गए हैं। इसका उत्तर यह है कि सकाम कर्म में भी अज्ञान का मूल विद्यमान है। इसलिए वे फल वाले होते हैं।

वह इस प्रकार कि राग और द्वेष अज्ञान से पैदा होते हैं यह नियम है चूंकि सकाम कर्म में फल की इच्छा बनी होने से राग मौजूद है इसलिए उसका फल भो बन्धनरूप होता है। निष्काम कर्म ज्ञान पूर्वक बिना राग द्वेष के होते हैं। अतः उनका सकाम की भांति फल नहीं होता। वे फल न देते हुए मोक्ष के प्रापक होते हैं। योगभाष्यकार व्यास के एक प्रमाण से यह बात बहुत स्पष्ट हो जायगी। व्यास के शब्द ये हैं—

"यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषादग्धबीजभावा वा तथा क्लेशावनद्धकर्माशयो विपाकप्ररोही भवति नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति।

अर्थात् जिस प्रकार छिलके से युक्त धान के चावल न जले बीज भाव वाले ही अंकुर पैदा करते हैं केवल चावल नहीं, उसी प्रकार क्लेशरूप अज्ञान से युक्तकर्माशय फल पैदा करते हैं। क्लेशरूपी अज्ञान रहित कर्म नहीं। इस प्रमाण से यह बात भलीभांति सिद्ध हो गई कि अज्ञानमूलक कर्म ही फल देते हैं ज्ञान पूर्वक किए गये निष्काम कर्म तात्विक ज्ञान के साथ दुःख निवृत्ति करते हुए परमानन्द की प्राप्ति के साधन बनते हैं।

जो लोग कर्म बिना सिर्फ ज्ञानमात्र से ही मोक्ष मानते है, उनसे पूछना चाहिए कि निवृत्ति और प्राप्ति किसके धर्म हैं, यदि कहें कर्म के, तो फिर दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति में भी इसको साधनता माननी ही पड़ेगा। यदि कहें कि ये दोनों ज्ञानमात्र के ही धर्म है तो लोक में झूठ को जानते हुए भी झूठ से और दुःखदायी

वस्तु को दुःख का कारण जानते हुए भी उससे निवृत्ति तथा अच्छी वस्तु को जानते हुए भी बिना प्रयत्न या कर्म किए उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती। इसलिए ज्ञानमात्र त्याग और प्राप्ति का कारण नहीं। ज्ञान से वस्तुओं का स्वरूप जाना जाता है और कर्म से त्याग या ग्रहण हुआ करता है, चूंकि मुक्ति में भी दुःख की निवृत्ति और आनन्द की ही प्राप्ति करनी होती है अतः उसमें भी ज्ञान के साथ कर्मसाधन की अपेक्षा है। ज्ञान के द्वारा जहाँ याथात्म्य जाना जाता है वहाँ कर्म भी उसका सहकारी होकर मुक्ति का साधन है। इसलिए वेदों में कर्म और ज्ञान दोनों को मुक्ति का साधन माना गया है। आचार्य दयानन्द ने भी अपने वाक्यों से इसी भाव को दर्शाया है। विषय को अधिक न बढ़ाकर यहां पर निष्कर्ष निकालते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि मिथ्याज्ञानजन्य दुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति का नाम मोक्ष=अपवर्ग=मुक्ति=निःश्रेयस है तथा उसकी प्राप्ति का साधन ज्ञान और कर्म का समुच्चय है।

परिशिष्ट-१

यज्ञों आदि में ऋत्विग्वरण के समय संकल्प किया जाता है अतः सृष्टिसम्वत् के विषय में विचार कर यहाँ स्थापना की गई है।

इस विषय को लेकर बहुत दिनों से समाचारपत्रों में विवाद चलता रहा है। कुछ लोग इसी बहाने आक्षेप प्रत्याक्षेप द्वारा अपने विचार प्रकट करते हुये कुछ विद्वानों के विपरीत भी अनर्गल बात कहने में नहीं हिचके। कुछ लोग अपनी एक नई कल्पना ही खड़ी कर रहे हैं और ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तों को जाने-बिना उनका मखौल उड़ा रहे हैं। यहाँ पर कुछ विचार प्रस्तुत विषय पर किया जाता है।

सृष्टि का उत्पत्तिकाल और उसके सम्वत् का विषय ज्योतिष से और वैदिक-सृष्टि-विज्ञान से सम्बद्ध है। इसके विषय में कुछ मौलिक नियत सिद्धान्त हैं जिनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। उनको बिना जाने और माने विषय के साथ न्याय करना कठिन है। वे कुछ निम्न प्रकार हैं :—

१—वर्तमान सृष्टि में जो पदार्थ जैसे हैं वे पूर्व सृष्टि में भी वैसे ही थे और सभी सृष्टियों में वैसे ही रहेंगे।'

२—ये सब याथातथ्य और यथापूर्व के नियम पर रचित हैं।'

३—भोक्ता से पूर्व उसका भोग उत्पन्न होता है।'

४—सृष्टि और मानव की उत्पत्ति का तथा वेद के मानव पर आने का जो समय है वह भी प्रत्येक सृष्टि में एक सा है।'

५—वेद भी एकसा ही सभी कल्पों में रहता है।'

६—वेद के शब्दों से ही सृष्टि के पदार्थों की रचना की जाती है और उनके नाम आदि रखे जाते हैं। यह प्रत्येक सृष्टि के काल में ऐसा ही होता है।'

७—प्रत्येक सृष्टि में वेदों का ज्ञान चार ऋषियों पर ही होता है।'

८—वेद की उत्पत्ति के समय के निर्धारण को सृष्टि उत्पत्ति के समय से पृथक् नहीं किया जा सकता है जबकि सृष्टि पहले उत्पन्न होती है और मानव बाद में उत्पन्न होता है। कारण यह है कि सबका समय निश्चित है अतः बाद से भी काल गणना करने में

पूर्व का समय जोड़ लिया जाता है। क्योंकि उस समय में कोई अन्तर किसी कल्प में न आता है और न आवेगा। वेद की उत्पत्ति का काल कहें तब भी सृष्टिकाल कहना पड़ेगा और सृष्टिसम्वत् कहें तब भी वेद का वही सम्वत् होगा।"

९—मानव को वेदज्ञान मिलने से तीन चतुर्युगी पूर्व औषधि सूर्य आदि पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु इनके उत्पन्न करते समय भी प्रजापति वेद के शब्दों के साथ इनकी उत्पत्ति करता है।"

१०—वेद छन्दोमय हैं। छन्दों से समस्त भुवन बंधा रहता है और छन्दस्थ वाणी अव्यक्त एवम् मध्यमा आदि रूप में इनमें विद्यमान रहती है।"

सृष्टि का भोग काल

इन सिद्धान्तों का विचार करने के उपरान्त यह देखना भी आवश्यक है कि सृष्टि का पूरा भोगकाल प्रत्येक सृष्टि में क्या होता है और प्रलयकाल क्या होता है। वेद के आधार पर सृष्टि का सम्पूर्ण भोगकाल एक सहस्र चतुर्युगियों का होता है" (अथर्व १०। ७।९)। सृष्टि का काल ब्रह्मा का एक दिन है और प्रलय का काल ब्रह्मा की एक रात्रि है। इस प्रकार ब्रह्मा के एक अहोरात्र का नाम और कालमान ही सृष्टि का और प्रलय का समय है। ब्रह्मा का एक दिन एक सहस्र चतुर्युगियों का होता है और रात्रि भी उतनी ही होती है। इस एक ब्रह्म दिन में अर्थात् एक सृष्टि के भोगकाल में कितने मानुष वर्ष वा सौर वर्ष होते हैं अथर्व वेद ८।२।२१ में बताया गया है कि सौ अयुत वर्षों के आगे दो तीन चार लिखने से वह काल निकल आवेगा।" अयुत दश सहस्र को कहा जाता है। इसलिए सौ अयुत दश लक्ष हुए। दशलक्ष के सात शून्य लिखकर 'अंकों की बायें से गति होती है। इस नियम के अनुसार उनके पहले दो, तीन और चार लिखने से यह काल ४३२०००००० (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होता है। दिन मास, वर्ष, सम्वत् आदि का जो भी पैमाना होगा इसी परिधि में घूमेगा।"

विभिन्न पैमाने और सृष्टि का भोगकाल

इस सृष्टि के भोगकाल को बताने में विभिन्न पैमाने प्रयुक्त किये जाते हैं। ब्राह्मदिन के पैमाने से वह" एक दिन है जो

४३२०००००० वर्ष है। देव-वर्ष के पैमाने से वह १२०००००० एक करोड़ बीस लाख देववर्ष है। इन देव वर्षों को ३६० से गुणा करने पर वह चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष आवेंगे। मनुष्य वा सौ वर्ष के मानदण्ड से एक सहस्र चतुर्युगी अर्थात् ४३२००००००×-१०००=४३२०००००० वर्ष होता है। ज्योतिषशास्त्र के प्रयोगात्मक कालसम्बन्धो मन्वन्तर वाले पैमाने से यह काल १४ मन्वन्तरों और १५ संधियों का काल है।" १४ मन्वन्तरों की ९९४ चतुर्युगी और १५ संधियों की ६ चतुर्युगी ९९४+६=१००० चतुर्युगी अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष। इस प्रकार सभी पैमानों से सृष्टि का भोगकाल चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष ठहरता है और वेद से भी वैसा ही है। परन्तु इन पैमानो में इनकी विधि और परिभाषा के विपरीत अपना तुक भिड़ाने और इनकी विधि को छोड़ देने से हिसाब गलत आवेगा।

विविध परिगणन की ज्योतिष विधि

पहले जो पैमाने बताये गये हैं उनकी ज्योतिष से परिगणन-विधि भिन्नता लिए है परन्तु उद्देश्य और परिणाम एक ही है। ब्रह्म दिन की बात लीजिये। यह मनु और सूर्य सिद्धान्त दोनों के अनुसार है। इसमें और सौर वर्ष की परिगणन विधि में वेद से ही लगभग सब बातों का समाधान बन जाता है। वेद ने सृष्टि का काल जैसा ऊपर दिखाया गया है ४३२०००००० सौर वर्षों का बताया है। यह वस्तुतः सहस्र चतुर्युगी है। यदि एक सहस्र से भाग दें तो अपने आप एक चतुर्युगी या महायुग का समय ज्ञात हो जावेगा। ४३३००००००÷१००=$\frac{४३२००००००}{१०००}$=तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष हुये जो एक चतुर्युगी के वर्ष है। एक एतुर्युगी कहाने का तात्पर्य चारों युगों का जोड़ है। इसमें एक कृतयुग, एक त्रेता, एक द्वापर और एक कलियुग का समय है। अथवा यों कहना चाहिए कि दूसरे प्रकार से इसमें १० कलियुगों का समय जुड़ा है। यदि दश से इसे भाग दिया जावे तो एक कलियुग का समय ज्ञात होगा। ४३२००००÷१०=$\frac{४३२००००}{१०}$=४३२००० चार लाख बत्तीस हजार। इस दश से भाग करने पर आये हुये भागफल अर्थात् चार लाख बत्तीस हजार को क्रमशः एक, दो, तीन और चार से" गुणा करने पर क्रमशः कलियुग, द्वापर, त्रेता और कृतयुग का समय सौर

१७२८०००

वर्षों में ज्ञात हो जावेगा। ४३२००० कलियुग, ८६४००० द्वापर, १२९६००० त्रेता और १६२८००० कृतयुग होगा।

(वेद के बताये सृष्टिकाल पर वेद के द्वारा किये गये ज्योतिष में चार, तीन और दो का महत्व एक सा बना हुआ है जबकि स्थान मात्र की दृष्टि से उनमें भेद है। चार अरब बत्तीस करोड़ की संख्या में भी चार, तीन और दो है। चतुर्युगी जो महायुग भी है अर्थात् तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षों में भी चार तीन और दो का महत्व वैसा ही है। पुनः सबसे छोटी राशि कलियुग जिसमें चार लाख बत्तीस हजार वर्ष है उसमें भी चार, तीन और दो का महत्व उसी प्रकार है। यदि हम नीचे कलियुग से आरंभ कर सृष्टि काल तक जाते हैं तो पता चलेगा कि प्रथम १० का गुणा करके महायुग बना और एक सहस्र का गुणन करने से सृष्टि का काल हो गया। यदि ऊपर से नीचे की तरफ आवें तो पता चला कि १००० का भाग देने पर महायुग और १० का महायुग में भाग देने पर कलियुग आवेगा परन्तु चार, तीन, दो बराबर अपने स्थान पर अपना कार्य करते रहेंगे।

(सूर्य सिद्धान्त के अनुसार अश्विनी नक्षत्र की आदि से रेवती के अन्त पर्यन्त क्रान्तिवृत्तस्थ द्वादश राशि के भोग को भचक्र भोग वा भगण कहा जाता है। एक महायुग में सूर्य, बुध और शुक्र के ४३२०००० तैंतालीस लाख बीस हजार भगण होते हैं। इसके आधार पर युग आदि का क्रम बन जाता[17] है।)

जिसको दैवयुग कहा जाता है उसका वर्णन मनुस्मृति और सूर्य सिद्धान्त दोनों में पाया जाता है और दोनों एक दूसरे से सिद्धान्त आदि के दृष्टि से पूरा मेल खाता है। दैव युग के मानदण्ड का ज्योतिष इस प्रकार है। चार सहस्र दैव वर्षों का कृतयुग होता है। परन्तु उसकी उतनी अर्थात् चार चार सौ वर्ष की पूर्व और पर की संधि होती है। इस प्रकार ४८०० दैव वर्ष का कृतयुग होता है। दूसरे जो त्रेता द्वापर और कलियुग की संधियों सहित दैव वर्ष हैं उनका ज्ञान इस प्रकार किया जाता है। कृतयुग के दैव वर्षों में सहस्र और शतस्थानीय संख्या में से १ संख्या न्यून करने से त्रेता-त्रेता के वर्षों की सहस्र और शत स्थानीय संख्या में से एक एक कम करने पर द्वापर वर्षों में ऐसा करने से कलियुग का काल मान आवेगा।

इस प्रकार कृतयुग सन्धियों सहित ४८०० दैव वर्ष है। इसमें ४ सहस्र वर्ष में ४ सहस्रस्थानीय है इसमें से एक एक निकालने से तीन सहस्र वर्ष और चार सौ पूर्व और पर संधि के वर्ष इनमें एक एक निकालने से त्रेता तीन सहस्र दैव वर्ष और तीन तीन सौ वर्ष पूर्वापर संधियों के सब ३६ सौ दैव वर्ष का होगा। त्रेता के तीन सहस्र वर्ष में ३ में से एक निकालने पर २ सहस्र वर्ष और तीन तीन सौ वर्ष की पूर्वापर संधियों के शत स्थानीय वर्षों में से एक एक निकालने पर द्वापर २४०० दैव वर्षों का होगा। पुनः द्वापर के दो सहस्र वर्षों में सहस्र स्थानीय दो में से एक निकालने पर १ सहस्र वर्ष और दो दो सौ पूर्वापर संधियों के वर्षों में से एक एक निकालने पर बारह सौ दैव वर्ष कलियुग का मान होगा। इस प्रकार ४८००, ३६००, २४०० और १२०० दैव वर्ष क्रमशः कृतयुग त्रेता, द्वापर और कलियुग की दैव वर्ष संख्या है। यहां पर कलियुग का दूना द्वापर तिगुना त्रेता और चतुर्गुणा कृतयुग है। यह नियम यहां भी समान है।

इस प्रकार चारों दैवयुगों का योग १२००० दैव वर्षों की एक चतुर्युगी और १००० चतुर्युगियों अर्थात् १ करोड़ बीस लाख दैव वर्षों का एक सृष्टि का भोगफल अर्थात् कल्प होगा। इन सभी दैव वर्षों को ३६० वर्षों से गुणा करने पर बिना किसी गलती के सब के सौर वर्ष ठीक ठीक आवेंगे। इस दैवयुग[18] में भी ७१ चतुर्युगी का ही एक मन्वन्तर होता है। परन्तु इसकी यह विशेषता है कि इनमें संधियां अवश्य जुड़ी रहेंगी। बिना संधियों के ये नहीं रहेंगे। ये भी मन्वन्तरों की भांति ही संधि से युक्त होते हैं।

मन्वन्तर का जो पैमाना दिखाया गया है, वह भी वैज्ञानिक है। इनमें कलियुग और कृतयुग और चतुर्युगियों आदि की संख्या दैव वर्ष से भी होती है और सौर वर्ष से भी। मन्वन्तर १४ होते हैं एक सृष्टि के भोग काल में परन्तु वे ससंधि होते हैं। सूर्य सिद्धान्त[19] के अनुसार १४ मन्वन्तर होते हैं और १५ संधियां होती हैं। यह संधि प्रत्येक मन्वन्तर के पूर्व होती है परन्तु १४ वें मन्वन्तर के अन्त में १५ वीं संधि होती है। इसका कारण यह है कि संधि का क्रम पूर्व से चलता है। परन्तु १५वीं का मन्वन्तर तो होता नहीं अतः वह पूर्व न रहकर पर संधि हो जाती है। मन्वन्तरों का क्रम १४ पर समाप्त

होना होता है और संधि का क्रम १५ पर समाप्त होता है।

यदि इन संधियों को बिना लिए मन्वन्तरों मात्र का समय ही कोई जोड़ेगा तो सृष्टि के भोगकाल और अन्य सभी गणितों के सम्बन्ध में वह गलती खावेगा। १४ मन्वन्तरों का समय ९९४ चतुर्युगियों का होता है जिनकी सौरवर्ष संख्या ४२९४०८०००० सौर वर्ष होती है। १५ संधियों का समय छ चतुर्युगियों के समय के बराबर है। एक संधि का काल एक कृतयुग के" काल के बराबर होता है। इस प्रकार ९९४ चतुर्युगी १४ मन्वतरों की और छ चतुर्युगी १५ संधियों की सब मिलकर १ हजार चतुर्युगी कल्प की हैं और ४२९४०८०००० वर्ष मन्वन्तरा का और १५ संधियों, अर्थात् १५ कृत-युगों का समय छ चतुर्युगियों जितना है जो २५९२०००० वर्ष होता है। इसका गणित इस प्रकार है—संधिकाल १७२८०००×१५= २५९२०००० अथवा चतुर्युगी ४३२००००×६=२५९२००००। इस संधिकाल को जो छ चतुर्युगी के बराबर है मन्वन्तरों के काल में जोड़ने से पूरा कल्पकाल ठीक ठीक उतरता है। ४२९४०८००००+ २५९२००००=४३२०००००००० चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होते हैं। यह मन्वन्तर कोई कल्पना मात्र नहीं है। मनुने स्वयं भी मनु-स्मृति में यह स्पष्ट माना है—

यत्प्राग्द्वादश साहस्रम् उदितम् दैविकम् युगम्।
तदेक सप्तति गुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ मनु १।७९

अर्थात् जो पूर्व १२००० वर्ष का दैविक महायुग वा चतुर्युगी कही गई है उसका ७१ गुना मन्वन्तर कहा जाता है। एक मन्वन्तर में १२००० देवचतुर्युगी वर्ष×७१×३६०= ३०६७२०००० सौर वर्ष होते हैं। सूर्यसिद्धान्त" में भी कहा गया है कि एक महायुग की ७१ से गुणित संख्या मन्वन्तर के वर्षों की संख्या है। महर्षि दयानन्द सरस्वती भी लिखते हैं कि मन्वन्तर परिवर्तन से सृष्टि के भी नैमित्तिक गुणों का कुछ कुछ परिवर्तन होता है अतः मन्वन्तर" संज्ञा इसकी मानी गई है। महर्षि ने मनुस्मृति के प्रमाण ही अपने पोषण में दिये हैं। जिन श्लोकों को दिया है वे दैववर्षमान से सृष्टि के काल का वर्णन करते हैं। उनमें संधि का पूरा वर्णन है। सूर्यसिद्धान्त का वर्णन भी मनु की ही भांति है।

वेदोत्पत्ति और सृष्टि की उत्पत्ति का काल

सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन मनुस्मृति मे पाया जाता है जिसमें काल का भी दैववर्ष के रूप में विचार है। इसी प्रकार ज्योतिष के ग्रन्थों में भी सृष्टि के काल का परिगणन पाया जाता है। परन्तु वेद के काल का पृथक् परिगणन किसी ने किया नहीं। केवल इतना कह देने से कार्य चला लिया जाता रहा कि सृष्टि की आदि में वेद उत्पन्न हुये तो फिर जितनी पुरानी सृष्टि है उतना पुराना वेद भी है—यह बात अपने आप सिद्ध है। मनु ने प्रथमाध्याय में यह स्पष्ट किया है कि सृष्टि के सभी संघात और पदार्थों के नाम प्रभु ने वेद शब्दों से किये हैं और यज्ञ को भी उत्पन्न किया। यज्ञ के संपादन के लिए अग्नि, वायु और रवि से ऋग्, यजु और साम को दुहा अर्थात् प्रकट किया। यह सब पुरुष सूक्त के आधार पर ही मनु का वर्णन अवलम्बित मालूम पड़ता है। परन्तु इजसे वेद और सृष्टि के उत्पत्ति काल को पृथक् नहीं किया जा जकता है।

पुरुषसूक्त का सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन बहुत वैज्ञानिक है। उससे एक बात बहुत स्पष्ट है और वह यह दार्शनिक तथ्य है कि भोक्ता का भोग भोक्ता के उत्पन्न होने से पूर्व होना चाहिए, यही वह दार्शनिक आधार है कि जिस पर अनर्गल विकासवाद की जड़ें ढह जाती हैं। इसी आधार पर यह भी सिद्धान्त स्थिर होगा कि जड़ पदार्थ, ओषधि, पृथिवी, ग्रह नक्षत्र, फल फूल नदी पर्वत आदि पूर्व पैदा होंगे और मानव बाद में उत्पन्न होगा। जब मानव उत्पन्न होगा तो उसे वेद का ज्ञान मिलेगा। परन्तु वेद की उत्पत्ति के काल का एक मात्र प्रतिपादन किसी ने किया नहीं। यह केवल महर्षि दयानन्द हैं जिन्होंने वेद की उत्पत्तिकाल के विषय में विचार किया है। लेकिन उनके वर्णन को लेकर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि उसमें सृष्टि की उत्पत्ति का विचार नहीं सम्मिलित है। वह केवल वेदोत्पत्ति का ही काल नहीं है। वर्णन से आगे यह बात और भी स्पष्ट हो जावेगी। उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में इसका प्रति-पादन किया है। उनके विचार को यहां पर विषय के स्पष्टीकरणार्थ दिखाया जाता है—

"वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि? अत्रोच्यते ..... १९६०८५२९७६।" यह महर्षि का उस समय का कथन है जब यह

पुस्तक लिखा गया था। गणित करने पर आज तक यह समय १९६०८५३०७६ होगा। ऋषि ने गणित करके मन्वन्तरों और वर्तमान वैवस्वत मनु के बीते समय को दिखाकर यह काल निर्णीत किया है। इसके निर्णय की प्रक्रिया का निर्देश संस्कृत भाग में है। परन्तु पल्लवन तो आर्य भाषा भाग में ही है। प्रश्न—यह कैसे निर्णय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं? उत्तर—यह जो वर्तमान सृष्टि है इसमें सातवें वैवस्वत मनु का वर्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भव १. स्वारोचिष ३. औत्तमि ४. तामस ५. रैवत ६. चाक्षुस ये छः तो बीत गये हैं और ७ (सातवां) वैवस्वत वर्त रहा है, सावर्णि आदि ७ (सात) मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिल के १४ मन्वन्तर होते हैं। और ७१ चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है।

सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाइस हजार वर्षों का नाम सतयुग रखा है। (१२९६०००) बारह लाख छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग रखा है......... और इन चारों युगों के (४३२००००) तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है। और ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अरब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुये और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाइसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार नव सौ छिहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हजार, चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिए कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़ पांच लाख, बत्तीस हजार नव सौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं और १८६१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सत्तासी हजार चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है जिसको आर्यलोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेंतीसवां सम्वत् कहते हैं। जो पूर्व चतुर्युगी

लिख आये हैं उन एक हजार चतुर्युगियों की ब्राह्म दिन संज्ञा रखी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जानना चाहिए। जो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है इसी का नाम ब्राह्मदिन रखा है और हजार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उसका नाम ब्राह्मरात्रि रखा है।

अर्थात् इस सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्तमान ब्राह्मदिन है इसके (१९६०८५२९७६) एक अरब, छानवें करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुये हैं और (२३३३२२८०२४) दो अरब तेंतीस करोड़ बत्तीस लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि का भोग करने के बाकी रहे हैं......... । इस प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिए लिख चुके हैं सो देख लेना। इन श्लोकों में दैव वर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की दैवयुग संज्ञा की है।"

महर्षि के इस कथन से निम्नबातें स्पष्ट हैं—

१—१९६०८५२९७६ वर्ष वेद की उत्पत्ति में व्यतीत हुये हैं।

२—इतने ही वर्ष सृष्टि के उत्पत्ति के भी व्यतीत हुये हैं।

३—यह लेखन मनुस्मृति के प्रमाणों के आधार पर है जो दैव युग के अनुसार हैं।

४—यह गणित ब्राह्मदिन जो १००० चतुर्युगियों का होता है इसके बताने के लिए हैं।

५—१४ मन्वन्तरों का समय जो ४२९४०८०००० वर्ष है उसमें से १९६०८५२९७६ बीत चुके हैं और २३३३२२७०२४ वर्ष बाकी है।

६—जिस १००० चतुर्युगी के ब्रह्मदिन अथवा कल्प काल का वर्णन किया गया है और जिसके लिये यह मन्वन्तर का पैमाना प्रयुक्त किया गया है उसमें छः चतुर्युगी की कमी पड़ती है। यह कमी क्यों पड़ रही है? इसका कारण ढूंढना चाहिये।

छः चतुर्युगी के समय की खोज

इस विषय का विचार करते हुये किन्हीं लोगों ने एक नया वाद ही खड़ा कर दिया है। वे समझते है कि मानव की उत्पत्ति होने से पूर्व छ चतुर्युगी पर्यन्त पृथिवी ओषधि, पर्वत, ग्रह, नक्षत्र आदि उत्पन्न होते हैं। इसके बाद मनुष्य उत्पन्न होता है। उसे वेद ज्ञान मिलता है। उस समय से यह सम्वत् चालू होता है और तब से लेकर ९९४ चतुर्युगी पर्यन्त यह जगत् और मानव रहता है और बाद में सबका साथ ही प्रलय हो जाता है। इस प्रकार महर्षि का दिखाया गया सम्वत् और बाकी का सृष्टि भोग का समय दोनों ठीक होते हैं। परन्तु यहां पर विचारना है कि यह समाधान क्या ठीक है? यह वाद वस्तुतः कल्पना पर खड़ा है। वेद द्वारा प्रतिपादित ज्योतिषशास्त्र से सिद्ध और स्वयं महर्षि द्वारा स्वीकृत १००० चतुर्युगी के समय में पड़ने वाली इस खोट का यह समाधान नहीं है। छ चतुर्युगी मानव के पूर्व की सृष्टि बनने में लगती है और यह सम्वत् वाली समस्या का समाधान है—इस पर नीचे लिखे प्रश्न उठते हैं—

१—इसमें वेद, ज्योतिष शास्त्र अथवा महर्षि का प्रमाण क्या है? क्या यह केवल हिसाब को पूरा करने के लिए कल्पना कर लिया गया है? और यही इसका प्रमाण है।

२—यह इस ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वाले सम्वत् में जुड़ा हुआ है या नहीं। यदि जुड़ा हुआ है तो फिर १००० चतुर्युगियों वाले काल में खोट नहीं पड़नी चाहिए परन्तु गणित करने से वह खोट स्पष्ट हो रही हैं। यदि नहीं जुड़ा हुआ है तो फिर सही सृष्टि संवत् किस प्रकार से यह स्वीकार किया जा रहा है। सृष्टि सम्वत् का इस दृष्टि से तो छ चतुर्युगी और मानव के उत्पत्ति के बाद के अब तक के वर्ष जो एक अरब छानवे करोड़ आदि हैं उन्हें मिलाकर वर्ष संख्या बनेगी। और इस प्रकार सृष्टि संवत् १९६०८५२९७६ + छ चतुर्युगी —२५९२०००० = १९८६७७२९७६ वर्ष होना चाहिए और इसी प्रकार भोग के बचे सृष्टि काल में अन्तर पड़ जावेगा। यदि वह इस प्रकार न जुड़ेगा तो फिर किस प्रकार जुड़ेगा। क्या अन्त में जाकर जोड़ दिया जावेगा। फिर तो गणित की कोई व्यवस्था रहेगी ही नहीं। क्योंकि दिन, मास वर्ष ग्रहण आदि निकालने की गणित व्यवस्था सृष्टि के काल से ही निकाली जाती है। फिर सारा ज्योतिषशास्त्र रोता फिरेगा।

इसके अतिरिक्त जब इतना समय व्यतीत हो चुका है तो वह जोड़ा क्यों न जावे और सृष्टिसंवत् का कालमान वहां से न प्रारंभ करके मानव के उत्पन्न होने से क्यों लिया जावे और उसे छोड़ा कैसे जा सकता है?

३—यदि छः चतुर्युगी का समय मानव से पूर्व की सृष्टि के निर्माण में लगा तो प्रलय में भी तो कुछ समय लगना ही चाहिए परन्तु उसका कोई भी संकेत किया नहीं गया।

४—मन्वन्तरों द्वारा सृष्टि के पूरे समय अर्थात् एक ब्रह्मदिन का हिसाब बैठ सकता है या नहीं? यदि बैठ सकता है तो वह गणित से ९९४ चतुर्युगी का ही काल बता सका, छ चतुर्युगी का काल क्यों नहीं पूरा कर सका? (यदि मन्वन्तरों के गणित का पैमाना पूर्ण ब्राह्म दिन का हिसाब देने में समर्थ नहीं है तो उसको प्रयुक्त ही क्यों किया जावे? जबकि वह पूरा हिसाब ही नहीं बैठा सकता है।) यदि वह ज्योतिष विद्या का पैमाना है और हिसाब बैठा सकता है परन्तु नहीं बैठा सका तो कहना पड़ेगा कि इस पैमाने के प्रयोग में कहीं कमी रह गयी हैं। इस पैमाना को ज्योतिष शास्त्र के ऋषियों ने पूरा पूरा बैठाया और छ चतुर्युगियों की खोट आने नहीं पायी है। मनु ने दैव मान का प्रयोग किया है। महर्षि ने प्रमाण उस दैवमान का मनुस्मृति का उद्धरण किया। परन्तु पैमाना मन्वन्तरों का प्रयोग किया ब्राह्मदिन को गणित सिद्ध करने में। यदि यह ठीक पैमाना न होता तो इसका प्रयोग वे क्यों करते?

(परन्तु नया वाद खड़ा करने वाले न ज्योतिष जानते, न महर्षि के सिद्धान्त को जानते और न वेद और सृष्टिप्रक्रिया को ही समझते हैं। वे तो विद्वानों को बुरा भला कहना और नया लालबुझक्कड़ वाद खड़ा करके विद्वान् बनना चाहते हैं। दर्द कहीं है और इलाज कहीं हो रहा है।)

५—भला यह तो बतावें कि अकेला वेदोत्पत्ति का काल लेकर संवत् कैसे बनेगा? जब मनुष्य की उत्पत्ति के पूर्व का काल नियत और निश्चित है तो संवत् जोड़ने वाला उसे उसमें जोड़ ही लेगा। इस वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्त कृतयुग के

अन्त में स्थापित किये गये थे जिसके २१ लाख से कुछ ऊपर वर्ष बीत चुके हैं। इस कृतयुग के पूर्व कितने वर्ष सृष्टि के व्यतीत हो चुके थे और कृतयुग किस दिन लगा था तथा एक चतुर्युगी बाद लगने वाले कलि का प्रथम दिन क्या होगा ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान इस परिगणन और सम्वत् के अनुसार किया ही नहीं जा सकेगा।

सूर्यसिद्धान्त पर आक्षेप का समाधान

अपने इस वाद की सिद्धि के लिए लोग यह कहते हैं कि वर्तमान ज्योतिष का ग्रन्थ सूर्य सिद्धान्त मानने योग्य नहीं। क्योंकि महर्षि ने वसिष्ठ के सूर्य सिद्धान्त को माना है और यह सूर्य सिद्धान्त तो मय नाम के राक्षस का है। राक्षस की बात को कैसे माना जा सकता है। अतः इसका ज्योतिष-सम्बन्धी परिगणन झूठा है और केवल इनका यह नया वाद ही आर्ष है।

कोई इनसे पूछे कि भाई ! यह तो ठीक है कि कुछ फलित ज्योतिष की और पौराणिक बातों का प्रक्षेप वर्तमान सूर्य-सिद्धान्त में हैं परन्तु वह ग्रन्थ ही अनार्ष ज्योतिष ग्रन्थ है—यह कैसे कहते हो। इससे कुछ श्लोक निकले भी हैं। पंचाङ्ग आदि का बनाना ग्रहों की गति का गणित ग्रहणों आदि का सारा कार्य इसी के आधार पर सही सही हो रहा है। क्या महर्षि ने कहीं पर इस ग्रन्थ का भी निषेध किया है ? यदि नहीं तो फिर ऐसी बातें क्यों करते हो ? सूर्य-सिद्धान्त में तो मय को सुदुश्चर तप का तपने वाला कहा गया है। फिर भी वह राक्षस ही बना रहा ? 'महासुर' विशेषण मय का है। इसका अर्थ महा+सुर भी तो हो सकता है। सूर्य भी यह आकाशस्थ सूर्य नहीं है जिसने मय को ज्ञान दिया हो। (ज्योतिष के भी तो १८ आचार्य हो चुके हैं। ये हैं—सूर्य, ब्रह्मा, व्यास, वसिष्ठ, अग्नि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अङ्गिरा, लोमश, पुलिश, च्यवन, यवन, भृगु और शौनक। ये ज्योतिष शास्त्र के प्रणेता है। मय को जो ज्ञान मिला वह सूर्य से मिला है।)

महर्षि दयानन्द ने जिस मनु का प्रमाण दिया है वह मनु जिस प्रक्रिया का वर्णन कर रहा है उसी का सूर्य सिद्धान्त में भी वर्णन है। तो मनु की बात तो प्रमाणिक है ही। क्योंकि वह तो ऋषि है। राक्षस नहीं है। क्या मनु की कही प्रामाणिक बात को यदि राक्षस भी कहे तो वह अप्रामाणिक हो जावेगी। इसके अतिरिक्त मन्वन्तरों

की व्यवस्था को सूर्यसिद्धान्त मानाध्याय श्लोक २२ में प्राजापत्य व्यवस्था कहा गया है। प्रजापति तो राक्षस नहीं था। उसकी मन्वन्तर व्यवस्था को भी लंगड़ी करके माना इसीलिए छः चतुर्युगी की खोट पड़ रही है।

गणित, विज्ञान आदि विषयों में एक और भी दृष्टिकोण माना जाता है। वह यह है कि चाहे राक्षस कहे चाहे ऋषि दो दो मिलकर चार ही होंगे। यह नहीं हो सकता है कि ऋषि कहे तब तो दो दो मिलकर चार होंगे परन्तु यदि राक्षस कहे तो कुछ और होंगे। आप्तोपदेश प्रमाण सम्बन्धी न्यायसूत्र पर भाष्यकार वात्सायन कहते हैं कि जो यथार्थ कहने की इच्छा से युक्त हो वह आप्त है। 'ऋष्यार्यम्लेच्छानाम् समानमेतल्लक्षणम्' अर्थात् ऋषि, आर्य, म्लेच्छ के लिए समान लक्षण है। जो लोग इस प्रकार की बातें करते हैं उन्हें ऋषि के कथन लेख और सिद्धान्तों का भी परिज्ञान नहीं हैं। वेदारम्भ संस्कार में संस्कार विधि में पढ़ाने और पढ़ने योग्य आर्ष-ग्रन्थों का वर्णन करते हुये ऋषिवर लिखते हैं—तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्प शास्त्र कहते हैं, जिसमें विश्वकर्मा, त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं, उनको छः वर्ष के भीतर पढ़के विमान तार भूगर्भ आदि विद्याओं को साक्षात् करें। ऋग्वेदादि भा. भू. ग्रन्थ के ग्रन्थ प्रामाण्य मे भी मय की संहिता को माना गया है। यहां पर मय की संहिता पढ़ने का विधान महर्षि ने स्वयं किया है। फिर सूर्य सिद्धान्त यदि मय का है तो उसका निषेध कैसे किया जा सकता है।

भास्कराचार्य ने अपने सिद्धान्त शिरोमणि में सृष्टि का प्रथम दिन रविवार माना है, बसन्त की ऋतु, पूर्णमासी का चन्द्रमा आदि सब बताया है। इसका गणित क्या इस नये वाद के आधार पर किया जा सकेगा। कृतयुग जिसमें सूर्यसिद्धान्त स्थापित हुआ उसका अन्तिम दिन मंगलवार था। गणित करने पर ऐसा ही बनता है। परन्तु इस कल्पनावादी वाद के आधार पर यह लगाना संभव नहीं है।

तो फिर वह छ चतुर्युगी

विचार करके देखा गया कि यह नवीन वाद छः चतुर्युगी की खोट को नहीं पूरा कर सकेगा। उसको तो ज्योतिष सिद्धान्त ही पूरा कर सकेगा। महर्षि ने मनु के जो श्लोक प्रमाण में दिये हैं उनमें संधिकाल का भी बर्णन दैवयुगों की गणना में किया गया है। यही

बात मन्वन्तरों के पैमाने में भी लगेगी। एक ब्रह्म दिन में १४ मन्वन्तर होते हैं और उनकी १५ संधियां होती हैं। मन्वन्तर-प्रक्रिया बिना इन संधियों के पूर्ण नहीं होती है। एक मन्वन्तर का काल एकहत्तर चतुर्युगी का होता है और संधिकाल एक सतयुग जितना अर्थात् सत्तरह लाख अट्ठाईस हजार वर्ष का होता है। एक ब्रह्मदिन मे १४ मन्वन्तरों की ९९४ चतुर्युगी होती है और १५ संधियों का काल छः चतुर्युगी का काल बनता है, इस प्रकार १००० चतुर्युगी पूरी हो जाती है और खोट नहीं रह जाती है।

परन्तु मन्वन्तरों को मानकर आधी प्रक्रिया यदि संधि को न मानी जावेगी तो खोट बनी रहेगी और उसकी पूर्ति नहीं हो सकेगी। एक संधि में १७२८००० वर्ष होते हैं। १५ संधियों का समय १७२८०००×१५=२५९२०००० अर्थात् दो करोड़ उनसठ लाख बीस हजार वर्ष। यही समय छ चतुर्युगी का भी होता है। ४३२००००×६=२५९२०००० वर्ष होते हैं। उस प्रकार सारी समस्या सुलझ जाती है।

वर्तमान सृष्टिसंवत् की समस्या

लोग कहते हैं कि वर्तमान सृष्टि सम्वत् १९६०८५३०७७ है और वर्तमान सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०७७ गलत है। परन्तु यह केवल कथन मात्र है। महर्षि ने इसका विरोध कहीं पर किया हो यह बताना चाहिए। परन्तु ऐसा कहीं पर देखा नहीं गया। उन्होंने संकल्प का जो वर्णन ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में किया है उसमें तो यही वर्तमान सृष्टि सम्वत् ही बोला जाता है। एक अरब छानवे वाला सम्वत् चालू कैसे हुआ। यदि कहें कि वह वेदोत्पत्ति सम्वत् है, तो भी ठीक नहीं है। महर्षि ने दोनों संवत् एक ही माने हैं।

जैसा पूर्व बताया जा चुका है सम्वत् तो होगा ही सृष्टिसम्वत्। मन्वन्तरों का पैमाना बर्ता गया परन्तु पूरा नहीं। छः मन्वन्तरों को तो जोड़ा गया परन्तु संधियां नहीं जोड़ी गई हैं। छः मन्वन्तर की सात संधियाँ होती हैं। इनका काल ७ सतयुगों जितना होगा। यदि यह सात सधियों का काल इस ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के मन्वन्तर मात्र वाले काल में जोड़ दिया जावे तो वर्तमान सृष्टि सम्वत् ठीक होगा। १९६०८५३०७६+७ संधियां—१२०९६०००= १९७२९४९०७६ वर्ष। यही सृष्टि सम्वत् है। कुछ लोग इतने उतावले

हैं कि जानकारी तो रखते नहीं और सृष्टिसम्वत् १९६ करोड़ ही छापना प्रारम्भ कर दिया। परोपकारी जैसे पत्र ने बड़ी जल्दी छापना प्रारम्भ किया। लोगों ने सार्वदेशिक पत्र पर भी दबाव डाला था। एक बार छपना बंद भी हो गया था। परन्तु फिर सभा के पत्र ने अनुभव किया कि ऐसा करना ठीक नहीं और वह वर्तमान सृष्टि संवत् को यथावत् छापता है।

कुछ लोग कहते हैं कि वेदोत्पत्ति का सम्वत् ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका वाला छापा जावे और सृष्टि संवत् जो वर्तमान है वह छापा जावे। लेकिन प्रश्न तो यह है कि ऐसा संभव कैसे होगा। क्या सृष्टि सम्वत् के अनुसार आने वाली प्रलय काल की बेला वेद सम्वत् की प्रतीक्षा करती रहेगी। ऐसा मानने से अनेक समस्यायें पैदा होंगी जिनका समाधान ही नहीं हो सकेगा।

सृष्टिसम्वत् की गणना का प्रकार

भगवान् अपनी सिसृक्षा से प्रकृति में जगत् पैदा करने की हलचल पैदा करता है। प्रतिभा, पूर्वचित्ति अथवा महत्तत्त्व के उत्पन्न होते ही काल का व्यवहार प्रारंभ हो जाता है। किसी क्रिया अथवा कार्य पदार्थ का अस्तित्व होते ही काल का व्यवहार होने लगता है। जब भगवान् ने प्रकृति में सृष्टि का बनाना प्रारंभ किया तभी से प्रथम संधि और तदन्तर स्वायम्भव मनु का क्रम प्रारंभ हो गया। एक संधि मे सत्तरह लाख २८ हजार वर्ष और एक मनु में ७१ चतुर्युगी होती हैं। इस संधिकाल और स्वायम्भव मनु की ७१ चतुर्युगियों के काल में ही तीन चतुर्युगी पर्यन्त पृथिवी, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, नदी, पर्वत, समुद्र और औषधि वनस्पति आदि की सृष्टि हुई। यह सृष्टि भी वेद के शब्दों के साथ हुई। उसके बाद मानव उत्पन्न हुआ और उसे वेद ज्ञान की प्रेरणा मिली। इस प्रकार आगे समय चलता गया और मन्वन्तर के बाद अब तक संधियां और मन्वन्तर बीतते आये। आज तक इस प्रकार सात संधियाँ और छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। सात संधियों का काल १२०९६००० वर्ष है। और छ मन्वन्तरों का समय १८४०३२०००० वर्ष होते हैं। सातवें मन्वन्तर की २८ वीं चतुर्युगी है। इसमें कलियुग के ५०७७ वर्ष बीत चुके हैं। तथा कृतयुग, त्रेता और द्वापर के ३८८८००० वर्ष बीत चुके हैं।

अगर आज तक का इन सबका योग कर दिया जावे तो सृष्टि

संवत् ठीक ठीक आवेगा और वह वर्तमान सृष्टिसंवत् के जितना ही होगा। गणित इस प्रकार है :—

सृष्टि से अब तक छ मन्वन्तर का समय—१८४०३२००००
सात संधियों का काल—१२०९६०००
२७ चतुर्युगी का समय—११६६४००००
कृतत्रेता द्वापर का काल—३८८८०००
कलियुग के आज तक के—५०७७
——————
१९७२९४९०७७

इस प्रकार वर्तमान सृष्टि सम्वत् एक अरब सत्तानवे करोड़ उन्तीस लाख उनचास हजार सतहत्तर है। इनका भोग हो चुका है और दो अरब चौंतीस करोड़ सत्तर लाख पच्चास हजार नव सौ तेईस वर्ष भोगने को बाकी है। यह इस कलियुग ४२६९२३ वर्ष और इस सातवें मनु की ४३ चतुर्युगी, ७ मन्वन्तर, ८ संधियों का समय है जो भोगने को शेष है। इसका गणित इस प्रकार है :—

७ मनुवों का समय	२१४७०४००००
वर्तमान मनु की ४३ चतुर्युगी	१८५७६००००
८ संधियों का समय	१३८२४०००
वर्तमान कलि का शेष	४२६९२३
	——————
	२३४७०५०९२३

इस प्रकार पूरे ब्राह्म दिन का हिसाब भी लग जाता है और सृष्टि-सम्वत् भी भली प्रकार से ठीक हो जाता है।

सूचना—यह पुस्तक १९७९ ईस्वी मे छप रही है अतः सृष्टि संवत् इस समय १९७२९४९०७९ है।.

कुछ आवश्यक समाधान

१—**संकल्पपाठ और सृष्टिसम्वत्**—नवीन मत खड़ा करने वाले साहसिक यह कहते हैं कि जो संकल्प पढ़ा जाता है और जिसका वर्णन महर्षि ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया है—उसमें इस एक अरब सत्तानवे करोड़ वाले सृष्टिसम्वत् से तात्पर्य नहीं है। यहां पर इसकी ही विचारणा की जाती है। यहां पर देखना है कि महर्षि क्या कहते हैं—"कुतो ह्यार्यैर्नित्यमों तत् सत् श्री ब्रह्मणो द्वितीय प्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरे.........इत्यादि; आर्यभाषा में—पूर्वोक्त

ब्राह्म दिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्त मनु के भोग होने को बाकी है उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे.........।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महर्षि ब्राह्मदिन के मध्याह्न में उतना ही समय शेष मान रहे हैं जितने वैवस्त मनु के भोग के बाकी है। एक अरब छानवे करोड़ वर्ष वाले सृष्टिसम्वत् को मानने वालों का यह ब्रह्म के मध्याह्न का गणित बन ही नहीं सकता है। वैवस्वत मनु के भोग के शेष काल की इस एक अरब छानवे वाले सृष्टि-सम्वत् में जोड़ने पर ब्रह्म दिन का मध्याह्न नहीं बनेगा। ब्रह्मदिन पूरी १ हजार चतुर्युगियों का होता है न कि ९९४ चतुर्युगियों का। यह गणित करने पर ९९४ चतुर्युगियों वाले ब्रह्मदिन का तो मध्याह्न बन सकता है एक हजार चतुर्युगियों वाले ब्रह्म दिन का नहीं। नया मत खड़ा करने वाले जरा इस समस्या को सुलझाकर दिखा ही दें। छ चतुर्युगी सृष्टि रचना में लगाकर ९९४ चतुर्युगी को ब्रह्मदिन बताने वाले इसे जरा हल तो करें। यदि छ चतुर्युगी पूर्व बीत चुकी है तब भी मध्याह्न नहीं होगा और यदि यह अन्त में जुड़नी है तब भी मध्याह्न नहीं होगा। यहां पर तो मध्याह्न ब्राह्म दिन का होना चाहिए।

जबकि एक अरब सत्तानबे करोड़ वाले वर्तमान सृष्टि सम्वत् पर यह मध्याह्न की समस्या ठीक बैठती है। गणित इस प्रकार किया जावेगा। ब्रह्म का दिन ४३२००००००० वर्ष है। इसका मध्याह्न जो कि अर्धभाग है २१६००००००० अर्थात् दो अरब १६ करोड़ वर्ष का होगा।

वर्तमान सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०७६ है। इसमें शेष समय जोड़ने पर गणित ठीक आवेगा।

सृष्टि सम्वत् जिसमे छ मन्वन्तर और ७ संधियों का काल जुड़ा हुआ है	—१९७२९४९०७६
वैवस्त मनु का भोग का शेषकाल	— १८६१८६९२४
आठवीं संधि का आधा समय	— ८६४०००
	योग—२१६०००००००

इस प्रकार ब्रह्मदिन का मध्याह्न ठीक ठीक बैठ गया। अतः यह वर्तमान सृष्टिसम्वत् ही ठीक है। कल्पनावादियों की कल्पना व्यर्थ है और निराधार है। इससे यह भी सिद्ध है कि संकल्प में यही सृष्टि सम्वत् ठीक है।

२—**वसिष्ठ का सूर्यसिद्धान्त और मय का सूर्यसिद्धान्त**—ये नये पक्ष की स्थापना करने वाले कहते हैं कि महर्षि ने तो वसिष्ठ के सूर्य-सिद्धांत को माना है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त को नहीं क्योंकि वह तो मय राक्षस का है, यह आर्ष नहीं। इस पर पूर्व पंक्तियों में लिखा जा चुका है परन्तु यहां और भी स्पष्टीकरण किया जाता है। कहने वाले न महर्षि को समझते हैं और न उन्हें इसका कुछ परिज्ञान है, अपनी अटकल पच्चू मारकर विद्वान् बनना चाहते हैं। महर्षि ने जो कुछ लिखा है वह इनके विपरीत ही जाता है। महर्षि के उल्लेख निम्न प्रकार हैं—

१—'ज्योतिषम वसिष्ठाद्यप्युक्तम्'—हिन्दी में—"वसिष्ठ मुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्यसिद्धान्त आदि—ऋ. भा. भू. ग्रन्थप्रामाण्या-प्रामाण्य।

२—तथा (एक) वर्ष में सूर्यसिद्धान्तादि में से कोई १ (एक) सिद्धान्त से········संस्कार विधि वेदारम्भ प्रकरण।

३—·········दो वर्ष में ज्योतिष शास्त्र सूर्यसिद्धातादि।

ये ऊपर दिये गये महर्षि के वाक्य हैं। इनमें कहीं भी केवल वसिष्ठ-कृत सूर्यसिद्धान्त आर्ष और प्रामाणिक है—ऐसा तो लिखा नहीं है। वसिष्ठ के साथ आदि लगाने और सूर्यसिद्धान्त के साथ आदि लगाने से पूर्व जैसा लिख चुका हूं ज्योतिष के १८ आचार्यों के ग्रन्थों का ग्रहण हो जाता है। इनमें यह सूर्यकृत वर्तमान सूर्यसिद्धान्त भी आ जाता है। ये अपनी बुद्धि पर पश्चात्ताप नहीं करते यह कितना आश्चर्यमय है। ये कहते हैं कि मय राक्षस है और उसका यह सूर्य सिद्धान्त है, अतः प्रामाणिक नहीं हैं। पहले कुछ पंक्तियों में इस विषय पर लिखा है। यहां और भी स्पष्ट किया जाता है। महर्षि के लेख, ग्रन्थों और सिद्धान्तों का इनको परिज्ञान है नहीं, केवल अपनी तुक मारते हैं और महर्षि की दुहाई देने लगते हैं। महर्षि मय के ग्रन्थों की प्रामा-णिकता और आर्षता स्वीकार करते हैं। मैं उनके ही लेखों को उद्धृत करता हूं :—

१—अथर्ववेदश्च विश्वकर्मत्वष्टृमयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः हिन्दी में—अर्थात् शिल्प शास्त्र जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई है"। ऋ० भा० भू० ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य।

२—तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्पशास्त्र कहते हैं जिसमें विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं उनको······ संस्कारविधि वेदारम्भ प्रकरण।

यहां इन उपर्युक्त सन्दर्भों में मय का शास्त्र और संहिता आर्ष में परिगणित हैं परन्तु ये नये साहसिक कहते हैं कि मय का होने से सूर्य सिद्धान्त अनार्ष है। जबकि वह सूर्य नामक ऋषि का मय को दिया गया उपदेश है। धन्य है इनकी बुद्धि को।

३—**प्रक्षेप और अनार्षता**—ये कहते हैं कि महर्षि के दिये हुये दो श्लोक (जिनको वे स्पष्ट दिखाते नहीं कि कौन से दो श्लोक हैं) और वाराहमिहिरकृत बृहत्संहिता के भाष्यकार भट्टोत्पलने भाष्य करते हुये सूर्यसिद्धान्त के तीन श्लोक (अ. ४ श्लोक १—३) उद्धृत किये हैं वे भी वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में नहीं है। अतः यह मयासुर ने बाद में बनाया। ये इनके तथा कथित आधार हैं। ये आधार भी आर्षता और अनार्षता के निर्णायक नहीं हो सकते हैं।

मनुस्मृति प्रक्षेपों से भरी है। महाभारत में मनु के दिये गयेइलोक वर्तमान मनुस्मृति में मिलते भी नहीं हैं परन्तु महर्षि ने उसे प्रक्षेपों को निकालकर आर्ष माना है। महाभारत, रामायण, ब्राह्मणग्रन्थ और कल्पग्रन्थ भी प्रक्षेप वाले हैं परन्तु वे माने गये हैं प्रक्षेप को निकालकर। इसके अतिरिक्त चरक और सुश्रुत आदि के संस्कार प्रति संस्कार आदि होते रहें फिर भी आर्ष ही हैं। आपका अमान्यता का लक्षण मनुस्मृति में भी पूर्णतया जा रहा है। परन्तु महर्षि उसी का प्रमाण दे रहे हैं और उसी की प्रक्रिया को लेकर चल रहे हैं। क्या यह भी सब अनार्ष है। ज्योतिष के १८ आचार्यों में मनु भी आता है। क्या यह सारी प्रक्रिया वसिष्ठ वाले सूर्यसिद्धान्त में आप ने देख ली है। जो श्लोक नही मिल रहे हैं क्या वे वसिष्ठ के सूर्य-सिद्धान्त में मौजूद हैं?

यहां पर थोड़ा सा विचार किया जाता है। पूर्वोक्त १८ ज्योतिष के आचार्यों के द्वारा लिखित सिद्धान्तों में आजकल सूर्य, पैतामह व्यास, वसिष्ठ, पराशर और लोमश सिद्धान्त ही प्राप्त होते हैं। शेष समय के प्रभाव से लुप्त हैं। श्री वाराहमिहिराचार्य ने ४२७ शालिवाहन शक काल में पौलिश, रोमश, वसिष्ठ, सौर और पैतामह इन पांच सिद्धान्तों के मत को लेकर "पंच सिद्धान्तिका" नामक ग्रन्थ बनाया और इन सिद्धान्तों के विषय में निम्नलिखित श्लोक लिखा—

पुलिशकृतः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ ॥१५॥

अर्थात्—पुलिश सिद्धान्त स्पष्ट है, रोमक उसके आसन्न है, सूर्य का बनाया हुआ सूर्यसिद्धान्त स्पष्टतर अर्थात् बहुत शुद्ध है। शेष वसिष्ठ और ब्राह्मसिद्धान्त बहुत भ्रष्ट हैं।

अब बतावें। जिस वाराहमिहिर की बृहत्संहिता के भाष्यकार के प्रमाण को लेकर इस सूर्य सिद्धान्त को अनार्ष और अप्रामाणिक कहा जा रहा है वह वाराहमिहिर स्वयम् इस वर्तमान सूर्यसिद्धान्त को स्पष्टतर कह रहा है और वसिष्ठ और ब्राह्म को भ्रष्ट कह रहा है। यहां १८ आचार्यों के क्रम को देखने से सूर्यसिद्धान्त (वर्तमान) ही सूर्य का होने से प्राचीन है। इसकी रचना आज से २१ वा २२ लाख वर्ष पूर्व कृतयुग में हुई। "अस्मिन् कृतयुगस्यान्ते" आदि श्लोक इस विषय में प्रमाण हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त वाराहमिहिर के समय ४२७ शालिवाहन शक में स्पष्टतर और शुद्ध था। उनके टीकाकार महोत्पल शक ८८८ के समय में भी यह अधिक शुद्ध था। उनके बाद भास्कराचार्य ने शक १०३६ में जन्म लिया, १०७२ में सिद्धान्तशिरोमणि नामक ग्रन्थ लिखा। इस समय भी सूर्यसिद्धान्त के अधिकतर दिये गये प्रमाण वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के ही हैं। परन्तु ८८८ से १०७२ के मध्य १८४ वर्षों में सूर्यसिद्धान्त में उलट पुलट हुआ। यह उलट पुलट है। बहुत सी पौराणिक बातें भी है, बहुत सी असम्बद्धतायें भी हैं परन्तु फिर भी इनको निकाल देने पर यह सूर्यसिद्धान्त ही प्राचीन और प्रामाणिक आर्ष है। थोड़े से श्लोक नहीं मिलते हैं, बहुत से मिलते हैं। फिर इसे अप्रामाणिक क्योंकर कहा जा सकता है। जो बातें अप्रामाणिक हैं उन्हें छोड़ देना चाहिए। जितनी टीकायें सूर्यसिद्धान्त पर लिखी गई हैं सब इसी पर हैं।

४—**सूर्यसिद्धान्त की संगति**—सूर्यसिद्धान्त पर आक्षेप करते समय ये लोग बिना किसी अर्थ की बात लेकर पंडिताई प्रकट करने लगते हैं। परन्तु इससे सूर्य सिद्धान्त का खण्डन न होकर इनकी अपनी योग्यता का खण्डन हो जाता है। ये कहते हैं मयासुरने सृष्टि के समय को पूरा करने के लिए एक संधि आदि में और एक संधि अन्त में मानी। वस्तुतः १३ संधियां ही हो सकती हैं १५ नहीं। इन ऊलजलूल बातों को कौन मानेगा। १३ संधि क्यों हो सकती हैं, १५ क्यों नहीं। इसमें कौन सा ज्योतिष का प्रमाण वा शास्त्रीय मानदण्ड है कि ये नहीं हो सकती हैं। आपकी तरह का ही कोई कह सकता है कि मन्वन्तर भी १२ वा १३ ही हो सकते हैं चौदह नहीं। ये जो चौदह की कल्पना है यह लोगों ने बना ली है। पूर्व संधि प्रलय के बाद होने से प्रलय को सृष्टि के प्रवाह के साथ जोड़ने वाली है और अन्त की संधि सृष्टि को होने वाले प्रलय के प्रवाह के साथ जोड़ने वाली है। १३ संधि मानने पर वह नहीं हो सकता है।

ब्रह्मदिन और ब्रह्मरात्रि का चक्र रात्रि दिन के प्रवाहचक्र के समान है। उसे इस प्रकार संधियों और मन्वन्तरों द्वारा पूर्ण किया गया है। रात्रि के बाद प्रातः उषा और बाद को दिन। दिन के बाद सायंकालिक उषा और पुनः रात्रि। इन जैसा आदमी कह सकता है कि दो उषायें क्यों हों। सिद्धान्त का आधार तो ब्रह्म दिन और ब्रह्म रात्रि है। उनके पूरा करने का पैमाना बनाना है न कि अपनी कल्पना का। ये मन्वन्तरों से बिना संधि के पूरे नहीं हो सकते हैं। पहले संधि से सृष्टि प्रारम्भ होती है अतः अन्त भी संधि से होता है। सृष्टिकाल मन्वन्तर से नहीं प्रारम्भ होता है संधि से प्रारंभ होता है अतः १५ वीं संधि का १४ वें मन्वन्तर के बाद होना स्वाभाविक है।

१५ वीं संधि जब तक न पूरी हो तब तक तो ब्रह्म दिन के १७२८००० (सत्तरह लाख अट्ठाइस हजार वर्ष) शेष हैं ही। वह १५ वीं संधि के भोग का समय है। आप १४ मन्वन्तर में सृष्टि को पूरा करते हैं तो इसमें कोई प्रमाण तो दें। १४ मन्वन्तरों में ब्रह्मदिन पूरा होता है और १४ वें मन्वन्तर के बाद प्रलय है—इसका कोई प्रमाण दें। बातें करने से तो कार्य बनता नहीं। यदि १४ वें मन्वन्तर की समाप्ति पर सृष्टि का प्रलय प्रारंभ हो जाता है और ब्रह्म दिन समाप्त हो जाता है तब तो १५ वीं संधि के भोग का काल नहीं रहता। परन्तु यह आप की कल्पना है। १४ वें मन्वन्तर में ब्रह्मदिन की समाप्ति का कोई प्रमाण नहीं। अतः आपकी शंका व्यर्थ है। संधि को मयासुर ने नहीं चलाया है। इसके प्रवर्तक तो मनु भी हैं। जो प्रमाण महर्षि ने मनु के दिये हैं उनमें संधियां हैं। आपने मन्वन्तरों को अर्थात् आधा सिद्धान्त मान-

कर और संधि सम्बन्धी आधा सिद्धान्त छोड़कर पूरा ब्रह्मदिन मध्याह्न और सृष्टिसम्वत् आदि कुछ भी नहीं सिद्ध कर सकते। मन्वन्तरों के साथ कही गई संधियों को अलग करके कोई मन्वन्तर व्यवस्था बन ही नहीं सकती है। यह मयासुर की कल्पना नहीं है। यह प्रजापति का मान है। देखे सूर्य० माना० अ० १४। श्लोक २२। मान है ब्रह्मदिन के मापने का अतः उस पर पूरा उतरना चाहिए। मन्वन्तरों को मानना और संधियों के बिना यह अपनी कल्पना होगी और वह ब्रह्मदिन का मान नहीं होगी।

५—अपनी बुद्धि का दोष सूर्यसिद्धान्त और विद्वानों पर न डालें

यहां पर इस नवीन वाद की कल्पना का एक और उदाहरण दर्शनीय है। सूर्य सिद्धान्त को समझा नहीं और तुक अपनी मार दी। यहां पर उन्हीं वाक्यों को उद्धृत किया जाता है—

(ङ) पांचवां दोष तो एक महान् दोष है। जिसका समन्वय (संगति) आज तक इस मत के विद्वान् नहीं कर सके हैं और संभावना भी नहीं दीखती। सूर्यसिद्धान्त १४ मन्वन्तरों के ६६४ चतुर्युगियों के काल को तो मानता ही है, साथ ही १५ संधियां भी मानता है जिसका समय छ चतुर्युगियों के बराबर है। और इनके अतिरिक्त प्रथम अध्याय के २४ वें श्लोकानुसार चराचरसृष्टि एक करोड़ ७० लाख ६४ वर्षों के बाद हुई। इस सृष्टि रचना के समय को कोई भी विद्वान् क्या १४ मन्वन्तरों तथा १५ संधियों के साथ जोड़कर सृष्टि की कुल आयु १ हजार चतुर्युगी पूरी कर सकता है? यदि इनका समन्वय नहीं हो सकता है, तब इसकी परस्पर विरोधी बातों को कौन विद्वान् स्वीकार करेगा?"

इन ऊपर की पंक्तियों में ये चले हैं सूर्य सिद्धान्त की कसौटी और अपने विपक्षी विद्वानों की कसौटी करने परन्तु यह इनको ही बुद्धि और कसौटी को दूषित कर रहा है। भला इनसे पूछो कि सूर्य सिद्धान्त में चराचर सृष्टि रचना के इस काल को ब्रह्म दिन, जो उसके अनुसार १४ मन्वन्तरों और १५ संधियों का काल है, उससे पृथक् कहां माना गया है। यह काल तो वह ब्रह्मदिन जो १४ मन्वन्तरों और १५ संधियों का काल है उसके अन्तर्गत मानता हैं।

वह जो कुछ लिख रहा है वह तो ब्रह्म दिन को मापने के लिए ही लिख रहा है। फिर १४ मन्वन्तर १५ संधियां और उक्त सृष्टि-काल को जोड़कर ब्रह्मदिन की एक हजार चतुर्युगी बनाने का आप-का महान् दोष रहता ही कैसे है? एक ब्रह्म दिन एक हजार चतुर्युगी का होता हैं। उसमें १४ मन्वन्तर और १५ संधियाँ होती हैं। सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर अब तक जो मन्वन्तर और संधियां बीती हैं वह सृष्टिकाल उसके अन्तर्गत है पृथक् नहीं। आप व्यर्थ का दोष दिखाने का प्रयत्न कर रहे। इसका कारण यह है कि आपके मस्तिष्क में आपको एक ही रट लगी है कि छ चतुर्युगियां पहले बीत जाती है और बाद में १४ मन्वन्तर बीतते हैं। इसी कसौटी पर आप सूर्य-सिद्धान्त को भी देख रहे हैं और दोष दिखा रहे हैं। परन्तु आपकी मानी कल्पना वेद का प्रमाण, ज्योतिष का सिद्धान्त अथवा शास्त्रीय मन्तव्य तो नहीं है कि उसके आधार पर सब कसे जावेंगे।

सूर्यसिद्धान्त में प्रक्षेप भी है। पौराणिक बातें भी मिलाई गई हैं। कुछ श्लोक निकले भी हैं—यह ठीक है। उसके आधार पर उसमें दिखाये गये ज्योतिष के सिद्धान्त सब असम्बद्ध और गलत हों ऐसा नहीं। संगति की बात लीजिए। वह इस प्रकार है :—

ग्रहर्क्ष देव दैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम्।
कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शतघ्ना वेधसो गताः॥ सू० अ० १/२४

अर्थात् ग्रह, नक्षत्र, देव और दैत्य आदि सम्पूर्ण स्थावर और जंगमात्मक जगत् की रचना करने में ब्रह्मा जी को ४७४०० दिव्य वर्ष अर्थात् १७०६४००० सौर वर्ष व्यतीत हुये हैं।

यह समय इस प्रकार देखें :—

तीन चतुर्युगी का समय—	१२९६०००० वर्ष
एक कृतयुग का समय—	१७२८००० वर्ष
एक त्रेता का समय—	१२९६००० वर्ष
एक द्वापर का समय—	८६४००० वर्ष
आधा कलियुग—	२१६००० वर्ष
योग :	१७०६४०००

पहले कहा जा चुका है कि सूर्य पृथ्वी ओषधि आदि की रचना में तीन चतुर्युगी का समय वेद के अनुसार लगता है। पुनः पृथिवी

पर मनुष्य की सृष्टि होती है। सूर्य-सिद्धान्त के श्लोक में चराचर व जड़-जङ्गम की उत्पत्ति का भी समय जोड़ दिया। इस प्रकार इस समय में तीन चतुर्युगी और चौथी चतुर्युगी का एक कृतयुग, एक त्रेता, एक द्वापर और आधा कलियुग सम्मिलित हैं। इससे भी तीन चतुर्युगी वाले पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। इस कल्पना को सूर्य-सिद्धान्त की प्रक्रिया और बाद के प्रक्षेपों के द्वारा इसके दुरुपयोग से भी १ अरब ९६ करोड़ वर्ष वाला सृष्टिसम्वत् नहीं बनता है। १ अरब ९७ करोड़ वाला ही बनता है। जब ब्रह्मदिन का प्रारम्भ हुआ तब प्रथम सन्धि का पूरा काल, स्वायम्भव जो १४ में प्रथम मन्वन्तर है उसकी भी तीन चतुर्युगी और चौथी चतुर्युगी का एक त्रेता, एक द्वापर और आधा कलियुग जितना समय लगा सूर्य-सिद्धान्त कथित चराचर सृष्टि में। बाकी समय आगे बीतता गया। अतः यह समय ब्रह्मदिन, सन्धियों और मन्वन्तरों के अन्दर है बाहर नहीं। यदि आप जैसी ही ऊटपटांग मारनी हो तो कोई आपसे भी पूछे कि १३ संधियां तो आप भी मान बैठे हैं, चौदह मन्वन्तर भी मानते हैं और छः चतुर्युगी सृष्टि की रचना में भी मानते हैं। आप ही ब्रह्मदिन का समय इन सब के योग से पूरा करें। जब छः चतुर्युगी मन्वन्तरों से पूर्व बीत चुकी और मन्वन्तर बाद में चालू हुये तो आपका माना सम्बत् सृष्टि सम्वत् कैसे? और छः चतुर्युगियों का समय जोड़ कर ज़रा १ अरब ९६ करोड़ बना ही दीजिए?

६—सूर्यसिद्धान्त से एक और ज्योतिष का रहस्य खुलता है

सृष्टिकाल का ज्योतिष तो आप अपनी तुक मिलाकर कर रहे हैं जो ठीक बन नहीं पा रहा है। परन्तु एक जीव को मुक्त होने पर ३१,१०,४०,०००००००० (इकत्तीस नील दस खरब चालीस अरब वर्ष) जो मुक्ति में रहना पड़ता है यह किस ज्योतिष से आप सिद्ध करोगे। इसे ही परान्तकाल कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्योतिष की गणना केवल ब्राह्म दिन तक ही नहीं परान्तकाल को भी अपने अन्दर लेती है। महर्षि दयानन्द जैसे महान् ज्योतिर्विद ने लिखा है जो सत्यार्थ प्रकाश के ९वें समुल्लास में इस प्रकार है—"इसकी (महाकल्प) की संख्या यह है कि तेंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का परान्तकाल होता है।"

उत्तर—"मुक्ति जन्ममरण के सदृश नहीं, क्यों कि जब तक ३६००० छत्तीस सहस्र बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है उतने समय पर्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना और दुःख का न होना क्या छोटी बात है?

महर्षि ने जो यह ज्योतिष के तथ्य लिखे हैं—इनका मूल क्या है और इस छत्तीस सहस्र वाली पद्धति का आधार क्या है आदि बातों को यह वर्तमान मय को प्राप्त सूर्यसिद्धान्त खोलता है। सूर्य सिद्धान्त के श्लोक निम्न हैं :—

ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पंचदशस्मृतः॥
इत्थं युगसहस्रेण भूत संहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती॥
परमायुः शतं तस्य तयाहोरात्रसंख्यया।
आयुषाऽर्धमितम् तस्य शेष कल्पोऽयमदिमः॥

सू. सि. १९, २०, २१

एक कल्प वा ब्राह्मदिन में अपनी संधियों सहित १४ मन्वन्तर होते हैं। वह संधि कृतयुग के समय जितनी होती है और कल्प में १५ होती है॥ १९

इसी प्रकार एक हजार चतुर्युगी के तुल्य भूतों का संहार करने वाला ब्राह्म लयात्मक कल्प होता है। सृष्टि-सम्बन्धी काल ब्राह्मदिन कहा गया है और उतने ही काल का प्रलय ब्राह्मरात्रि है॥ २०

इस पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और ब्राह्म रात्रि के प्रमाण से उस (ब्रह्मा) परांतकाल की आयु शतवर्ष की होती है। इस चालू परांतकाल की आयु=समय आधा बीत चुका है और शेष में यह प्रथम ब्राह्मदिन है॥२१

इन श्लोकों से ज्ञात हो गया कि १४ मन्वन्तर और १५ संधियों के काल का एक ब्राह्मदिन है जो १ हजार चतुर्युगी का भी कहा जाता है। उतने ही काल की ब्राह्मरात्रि है जो प्रलय है। ये दोनों मिलकर आठ अरब चौंसठ करोड़ वर्षों के होते हैं। ये ब्रह्म के अहोरात्र हैं। इनका महीना और उन महीनों के वर्ष और उन वर्षों के शत गुना वर्ष का परांत काल है। इसे ब्रह्म=मुक्त जीव की मुक्ति की आयु कहा गया है। अथवा ब्रह्म के सृष्टि और प्रलयरूपी दिनों का गणित-चक्र ब्रह्म के शत वर्ष के काल तक चलता है और उसके प्रति-

रिक्त सृष्टि-प्रवाह अनादि वा अनन्त शब्द से व्यक्त किया जाता है। परन्तु परांत काल तक का चक्र ज्योतिष की गणित की परिधि में आता है। उसमें भी ब्राह्मदिन मात्र का ज्योतिष के पूरे व्यवहार में आता है। उसमें भी मन्वन्तर और संधियों का मापदण्ड केवल ब्राह्म दिन के मापने में आता है। प्रलय वा रात्रि के मापने में नहीं। सूर्य-सिद्धान्त मा० १४/२२ से सुतराम् स्पष्ट है।

इस २१वें श्लोक के अनुसार ब्राह्म अहोरात्र आठ अरब चोंसठ करोड़ वर्षों का बनता है। ऐसे तीस अहोरात्रों का एक मास, बारह मासों का एक वर्ष और शत वर्षों का एक परान्तकाल। ब्राह्म अहोरात्र × ब्राह्ममास × ब्राह्मवर्ष × शत वर्ष = ३० × १२ × १०० = ३६०००। यह है वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का गणित जिसे महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में अपनाया है तथा लिखा है कि सृष्टि और प्रलय का ३६००० बार बीतने का जितना समय होता है उतने में एक मुक्त जीव मुक्ति का आनन्द भोगता है।

इस प्रकार ८६४००००००० × ३६००० = ३११०४०००००००००० इकत्तीस नील दस खरब और चालीस अरब वर्ष का एक परान्तकाल का समय होता है। सूर्य सिद्धान्त का यह गणित कितना पूर्ण है और महर्षि ने इसे ही सत्यार्थ प्रकाश में दिखाया है। क्या वर्तमान सूर्य-सिद्धान्त को अप्रमाण कहा जा सकता है। कोई उल्टी बुद्धि वाला ही ऐसा कहेगा। इस ऊपर दिये गये २१वें श्लोक में और भी स्पष्ट कर दिया है कि वर्तमान चतुर्युगी के कृतयुग मे, जिसके अन्त में यह सूर्य-सिद्धान्त बना इस वर्तमान परान्त काल चक्र में आधा अर्थात् १८००० बार सृष्टि और उत्पत्ति का समय व्यतीत हो चुका है और आधे में यह प्रथम ब्राह्मदिन है। इसी दृष्टि से मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के ८वें श्लोक में जिसे महर्षि ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उद्धृत किया है, 'मन्वन्तराण्यसंख्यानि लिखा' है। हिन्दी में वे लिखते हैं कि—इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती है अनेक बार सृष्टि हो चुकी है और अनेक बार होगी। मनु भी ज्योतिषशास्त्र के १८ आचार्यों में है अतः उसने भी संकेत कर दिया।

७—कुछ प्रश्न

ये नया वाद चलाने वाले इन प्रश्नों का उत्तर तो दें :—

(१) ब्रह्मदिन का प्रारम्भ कब से हुआ? छः चतुर्युगियों के प्रारम्भ के प्रथम दिन से अथवा आपके माने १ अरब ९६ करोड़ वाले सम्वत् के प्रारम्भ के प्रथम दिन से? यदि पहला पक्ष माने तो सृष्टि सम्वत् १ अरब ९६ करोड़ वर्ष नहीं होगा। उसमें छः चतुर्युगियों का समय और जोड़ना होगा और ब्राह्मदिन के भोग में शेष काल भी जो आप मानते हैं वह गलत होगा।

यदि आप दूसरा पक्ष मानें तो आपका माना ब्राह्मदिन केवल १४ मन्वन्तरों अर्थात् ९९४ चतुर्युगियों का ही बनता है और आपका माना सिद्धान्त छः चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन में खोट दिखाता है। दूसरा दोष यह भी आवेगा कि छः चतुर्युगी आपके माने ब्रह्मदिन से पूर्व अर्थात् प्रलय समय में हो प्रारम्भ हो गई।

(२) यदि आप कहें कि ब्राह्मदिन तो छः चतुर्युगियों सहित काल का होता है, परन्तु ऐतिहासिक सम्वत् केवल १४ मन्वन्तर अर्थात् ९९४ चतुर्युगियों का ही होता है। उसमें ये छः चतुर्युगियां नहीं जुड़तीं। यह पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि महर्षि ने ऐसा न तो माना है और न यह किसी शास्त्र से ही सिद्ध है। महर्षि सृष्टि सम्वत् और जिसे आप ऐतिहासिक कहते हैं दोनों को एक ही मानते हैं तथा वे अपना गणित ब्रह्मदिन का ही कर रहे हैं। जरा ध्यान से देखें—एकसप्ततिश्चतुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः भवति। ते चैकस्मिन् ब्राह्मदिने (१४) चतुर्दशभुक्तभोगाः भवन्ति। एक सहस्रं चतुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति।'[८] आप इसे सिद्ध करें। बिना संधि के माने यह सम्भव नहीं। महर्षि का कथन और गणित क्रियाकलाप केवल मन्वन्तर मात्र का है, संधियों को उसमें जोड़ने से सब समस्या ठीक हो जातो है।

पुनः आप पर प्रश्न होता है कि आप छः चतुर्युगी का काल पूर्व बीता मानते हैं वा पश्चात् बीतने वाला मानते हैं अथवा मनुओं के काल के साथ ही साथ उसका बीतना मानते हैं? यदि प्रथम पक्ष माने तो आपके सम्वत् में उसे जुड़ना चाहिए और शेष को सुधारना चाहिए। यदि दूसरा पक्ष मानते हैं तो शेष रहे वर्षों में जोड़ना चाहिए। यदि साथ-साथ बीतता मानते हैं तो सृष्टि सम्वत् १ अरब ९७ वें करोड़ वर्ष आदि बनेगा। आपकी इस प्रकार सारी व्यवस्था गड़बड़ और निराधार है।

६—सूर्यसिद्धान्त के अनुसार वर्तमान सृष्टिसम्वत्

सूर्यसिद्धान्त के अनुसार सृष्टि सम्वत् १ अरब ९७ करोड़ वाला ही बनेगा। १ अरब ९५वे करोड़ अथवा १ अरब ९६वे करोड़ वाला नहीं। उसकी गणना इस लेख में पूर्व कर दी गई है, परन्तु यहां पर पुष्टि के लिए पुनः की जाती है। वह इस प्रकार है। यह सूर्यसिद्धान्त जैसा कि इसके म० १।५७ श्लोक से सिद्ध है, इस बीते हुए कृतयुग के अन्त में बना। उस समय को लेकर उसमें अब तक के समय को जोड़ने पर गणित से फल ठीक संख्या मे आ जावेगा। सूर्यसिद्धान्त कहता है :—

> कल्पादस्माच्च मनवः षड्व्यतीताः ससन्धयः।
> वैवस्वतस्य च मनोर्युगानाम् त्रिघनो गतः ॥ १।२२
> अष्टाविंशाद्युगादस्माद्यातमेतत्कृतम् युगम्।
> अतः कालं प्रसंख्याय संख्यामेकत्र पिण्डयेत् ॥ २३

अर्थात् इस वर्तमान कल्प (ब्रह्मदिन) के छः मनु अपनी सात संधियों सहित इस कृतयुग के अन्त तक बीत चुके हैं। वैवस्वत मनु जो वर्तमान है उसकी भी २७ चतुर्युगियें बीत चुकी हैं ॥ २२ ॥ इस वैवस्वत मनु की २७वीं चतुर्युगी में भी यह कृतयुग व्यतीत हो गया है। इसके अनन्तर का जितना समय हो वह इसमें जोड़ देना चाहिए ॥ २३ ॥

इसके आधार पर गणित करने पर कृतयुग तक का बीता समय इस प्रकार होगा :—

६ मनु का काल	—	१८४०३२००००
७ सन्धि का काल	—	१२०९६०००
२७ चतुर्युगी का काल	—	११६६४००००
कृतयुग का काल	—	१७२८०००
सब का योग :		१९७०७८४०००

इस गणित करने से पता लगा कि १ अरब ९७ करोड़ ७ लाख ८४ हजार वर्ष तो सृष्टि सम्वत् के कृतयुग के अन्त तक ही हो चुके हैं। इसमें कृतयुग के बाद के इस २८वीं चतुर्युगी के बीते समय आज तक के जोड़ना है।

त्रेता का काल	—	१२९६०००
द्वापर का काल	—	८६४०००
कलियुग का बीता समय	—	५०७६
सब का योग—		२१६५०७६

इस २१ लाख ६५ हजार ७६ वर्ष के काल को कृतयुग पर्यन्त के काल में जोड़ने पर वर्तमान सम्वत् आवेगा—

कल्प के प्रारम्भ से कृतयुग तक—		१९७०७८४०००
कृतयुग से अब तक	—	२१६५०७६
		१९७२९४९०७६

यह १ अरब ९७वें करोड़ २९ लाख ४९ हजार ७६ सृष्टि का वर्तमान सम्वत् है। जब कृतयुग तक ही १ अरब ९७ करोड़ तक समय आ चुका था तो आज तक १ अरब ९६वें करोड़ तक कैसे आ सकता है।

रही बात सूर्यसिद्धान्त कथित सृष्टि रचना के १७०६४००० वर्ष घटाने के उसका तो यहां कोई प्रश्न ही नहीं है। वह काल तो इसमें सम्मिलित है और रहना ही चाहिए। उसके घटाने की प्रक्रिया ज्योतिष के दूसरे गणित कार्यों के लिए है सृष्टि सम्वत् के लिए नहीं। वह तो वहां पर पुष्टि के लिए है। जब कोई दस्तावेज लिखा जाता है तो यह प्रक्रिया वर्ती जाती है—अमुक ने ५० हजार रुपये दिये जिसके आधे २५ हजार होते हैं—आदि। यह कथन ठीक ५० हजार की परिपुष्टि और कमीवेशी की कल्पना को दूर करने के लिए होता है। उसी प्रकार यहाँ पर सूर्यसिद्धान्त में बता दिया कि कृतयुग पर्यन्त इस सृष्टि के १ अरब ९७वें करोड़ ७ लाख ८४ हजार वर्ष बीत चुके हैं, जिसमें से १७०६४००० वर्ष चराचर के निकालने पर १ अरब ९५ करोड़ ३७ लाख २ हजार वर्ष होते हैं। इस प्रकार वर्णित काल को कोई गड़बड़ न कर दे, उसके लिए बताया कि उसमें से इतना निकालने पर इतना शेष बनता है। वस्तुतः सूर्य सिद्धान्त और हर प्रकार के ज्योतिष सम्बन्धी गणित से सृष्टि का सम्वत् यही वर्तमान सम्वत् ही है।

इसी प्रसंग में यह भी जानना ठीक ही होगा कि परोपकारिणी सभा अजमेर की स्थापना के समय से उसके सदस्य आदि पदों पर

विराजमान और महर्षि के समय में जो विद्यमान थे ऐसे स्वर्गीय श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने आर्य समाज के दस नियमों की अपूर्व व्याख्या नामक एक पुस्तिका लिखी थी। यह पुस्तिका सन् १८६८ ईस्वी में सर्व प्रथम प्रकाशित हुई थी। यही इसका प्रथम संस्करण था। इसमें महर्षि और उनके द्वारा स्थापित सिद्धांतों के विषय में पण्ड्या जी ने जिस प्रकार की भक्ति-भावना का प्रदर्शन किया है वह देखने पढ़ने और अनुकरण करने योग्य है। लेखक ने सृष्टि-सम्वत् के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं वे इस प्रकार हैं—

इस वर्तमान जगत् और वेदों की उत्पत्ति को आर्यसमाजस्थ लोग तो आज विक्रमीय सम्वत् १९५३ शालिबाहन शक १८१८ ईसवी १८९६।९७ और दयानन्दाब्द १४ में, १९७२९४८९९८ एक अरब सतानवें करोड़ उन्तीस लाख अड़तालीस हजार नौ सौ अट्ठानवें सौर्य्य वर्ष हुए मानते हैं और उनके मानने का आधार वेद और सनातन वेदांग ज्योतिष अर्थात् गणित शास्त्र पर है। नीचे लिखे अथर्ववेद के मन्त्रों से ब्राह्म दिन और रात्रि की संख्या स्पष्ट प्रकाशित होती है कि जिसका सविस्तार वर्णन सूर्यसिद्धांत और सिद्धांत-शिरोमणि आदि में किया गया है :—

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत॥
शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥

अथर्व० काण्ड ८। प्र० १८। अनु० १। मं० २०। २१

इस ब्राह्म अहोरात्रि अर्थात् कल्प की गणना इस प्रकार से है:— कृतयुग १७२८०००+त्रेता १२९६०००+द्वापर ८६४०००+कलि ४३२०००+चतुर्युगी ४३२००००×७१ इकहत्तर चतुर्युगी ३०६७-२००००+सन्ध्या १७२८०००=एक मन्वन्तर ३०८४४८०००×१४ चौदह मन्वन्तर ४३१८२७२०००+कल्पादि संध्या १७२८०००=कल्प अथवा ब्राह्म दिन ४३२००००००० + ब्राह्म रात्रि के ४३२०००००००= महाकल्प अथवा ब्राह्म अहोरात्रि + ८६४०००००००० आठ अरब चोंसठ करोड़ वर्ष का होता है। अब इस पर से समाजों की मानी हुई वर्ष संख्या की गणना नीचे लिखे प्रमाण हैं :—

कल्पादि संध्या........................	१७२८०००
गत छः मन्वन्तर के ३०८४४८०००×६=	१८५६८८०००

वर्तमान मन्वन्तर की २७ चतुर्युगी के ४३२००००×२७	११६६४००००
वर्तमान मन्वन्तर की २८वीं चतुर्युगी के तीन युग के १७२८०००+१२९६०००+८६४०००	३८८८०००
शक १८१८, विक्रमीय १९५३, ईसवी १८९६।९७ में कलि=४९९८	
अब तक हुए	१९७२९४८९९८
भोगने रहे	६६६७०५१००२
महाकल्प अथवा अहोरात्रि	८६४०००००००

प्रमाण सन्दर्भ

१—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। ऋग्वेद १०।१९०।३

२—'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' यथापूर्वमकल्पयत्
यजुः ४०।८ तथा ऋग्वेद १०।१९०।३

३—देखें पुरुषसूक्त सभी वेदों का।

४—या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा इत्यादि। ऋग्वेद १०।९७।१ तथा उपह्वरे च गिरीणाम् संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽजायत्॥
यजुर्वेद

५—"पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति"। अथर्ववेद
इसी प्रकार जब जब परमेश्वर सृष्टि को रचता है तब तब प्रजा के हित के लिए सृष्टि की आदि में सब विद्याओं से वेदों का भी उपदेश करता है और जब जब सृष्टि का प्रलय होता है तब तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं। ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका शताब्दी संस्करण पृष्ठ ३०३, यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन्तामन्वविदनृषिषु प्रविष्टाम्। ऋग्वेद १०।७१।३, वाचा विरूप नित्यया। ऋग्वेद ८।७५।६।

६—एते असृग्रमिन्दवः तिरः पवित्रमाशवः। विश्वान्यभि सौभगा॥ साम उत्त., ४।२०१।१; शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्। वेदान्त। १।३२।८; भूरिति व्याहरत् सभूमिमसृजत्। तै० २।२।४।२; स भुवरिति व्याहरत् अन्तरिक्षमसृजत्। तै० २।२।४.२-३; स सुवरिति व्याहरत् स दिवमसृजत्। तै० २।२४।३; भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत् भुव इत्यन्तरिक्षम्॥ शत० २।१।४।११; सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० १।२१; ऋषीणां नामधेयायि, याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येव पुनर्ददात्यजः। शांकर भाष्य वेदान्त।

७—ऋषिषु प्रविष्टाम् । ऋ० १०।७१।३

८—देखें ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदोत्पत्ति विषय। इतने ही वर्ष वेदों की उत्पत्ति और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं। शता० संस्करण पृ० २८५; "एतावन्त्येव वर्षाणि वर्तमानकल्पसृष्टेश्चेति ॥ पृ० २८३; "यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति की ठीक है। पृ० २८८।

९— या ओषधीः । आदि मन्त्र चौथे अङ्क पर देखें ।

१०–छन्दोभिरिदं सर्वं वयुनं नद्धम् । शतपथः ॥ देवींवाच मजनयन्त देवास्ताम् विश्वरूपा पशवो वदन्ति । ऋग्वेद ८।१००।१; वाग्वै पराचि अव्याकृता-वदत्तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्मादियम् व्याकृता वाक् उद्यते। तै० शाखा ६।४।७ तथा देखें ऋग्वेद १०।१३० सूक्त ।

११–कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्रः अथर्व १०।७।९ यहां सहस्र चतुर्युगी का वर्णन है। सहस्रस्य प्रमासिः सहस्रस्य प्रतिमा असि ।

१२–शतं ते अयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः। अथर्व ८।२।२१ यहां सृष्टि की आयु वा ब्रह्मदिन चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष बताया गया है; 'दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे। ऋग्वेद १।१५८।६; यहां यह बताया गया है कि चतुर्युगी १० कलियुगों की होती है।

१३–देखें मनुस्मृति १।७३,७४। ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, सूर्यसिद्धान्त १।२०

१४–मनुस्मृति १।७१,७२

१५–देखें सूर्यसिद्धान्त १।१९ तथा मनु० १।७९,८० देखें।

१६–दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान दशमे युगे। ऋग्वेद १।१५८।६ सूर्य-सिद्धान्त १।१७।

१७–सूर्यसिद्धान्त १।२९।

१८–मनु० १।७९ तथा ६९, ७०।

१९–सूर्यसिद्धान्त १।१९।

२०–सूर्यसिद्धान्त १।१८।

२१–सूर्यसिद्धान्त १।१८।

२२–और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रति मन्वन्तर में बदलता जाता है, इसीलिए मन्वन्तर संज्ञा बांधी है।

॥ इति ॥

पुस्तक में उद्धृत वेदमंत्रों की अनुक्रमणिका

पुस्तकोद्धृत अन्य शास्त्र-वचनों की अनुक्रमणिका

मुखं वा० तै० १।१।२।१ पृ० ८५
मूलबर्हणी० तै० १।५।२।८ पृ० ८७
मस्तिष्को वै पुरोडाशः । तै० १।१।४।१२ पृ० १०७
मरुतः ० तै० १।१।३।१२ पृ० १०७
मनुर्हं वा० श० १।५।१।७ पृ० १०७
मरुतो ह्वै० ऐ० २।१६ पृ० १५१
मा छन्दः ० आपस्तम्ब श्रौ० १६।२८।१ पृ० १५१
यस्त्यागः० मनु० १।७६ पृ० २२६
यथा० योग व्यासभाष्य पृ० २१६
यज्ञो वै० श० १।७।१।५ पृ० १५
यज्ञः कस्माद्० नि० ३।४।१६ पृ० १५
यजति० मीमांसा ४।२।८ पृ० १५
यज्ञमेव० श० १।१।१।३ पृ० १६
यज्ञेषु० आ० धर्म० १।१३।४।६५ पृ० ४६
यज्ञियां वाचम्० गो० १।६।१।१८-२० पृ० ४६
यदा वा० छा० १।१०।१ पृ० ४६
यज्ञकर्मणि० अ० १।२।३४ पृ० ५७
याभिरादित्य० तै० आर० १०।६१
याज्ञिका पठन्ति० म० भा० १।१।१ पृ० ६१
यन्नु एवात्र० श० १।२।५।१० पृ० ७१
यज्ञो वै विष्णुः श० १।१।२।१३ पृ० ७१
यद्वै यज्ञस्य० श० ११।२।३।६ पृ० ८५
यन्नासहन्त० तै० १।५।१।४
यजमानो वै० तै० २।२।८।६
यत्परमे० श० ११।१।६।१६ पृ० १५०
यदा० मु० २।२ पृ० २०२
यस्य मुण्डक २।३ पृ० २०२
रोहिणी देव्युदयात्० तै० १।५।१।४
रसं ह्येवायं० तै० उ० २।७ पृ० २०८
वर्णणो ऽक्षरशः० वा० स० प्रा० ८।२७ पृ० ६१
विदाङ्कुर्वन्तु० अ० ३।१।४१ पृ० ५८
वेदस्य० शब्द कल्प० पृ० २५०

वसन्तग्रीष्मा० तै० १२।८।२।३४ पृ० ८५
विराट् सृष्टा प्रजापतेः० तै० १।२।२।२७ पृ० ८५
बृहस्पतैस्तिष्यः तै० १।५।१।२ पृ० ८६
वायोर्निष्ठ्या० तै० १।५।१।३ पृ० ८६
विष्णोः श्रोणा तै० १।५।१।४ पृ० ८७
वसूनां श्रविष्ठाः तै० १।५।१।५ पृ० ८७
वेदाश्छन्दांसि० गो० पू० १।३२ पृ० ८७
विष्णुर्देवनां द्वारपः । ऐ० १।३०
वेदनाम्० ऋग्वेदादि भा० भू० २२७
श्रुति-लिङ्ग वाक्य० मी० ३।३।१४ पृ० १६७
ससन्धयः सू० सि० १।१ पृ० २४५
समाधिसुषुप्ति० सां० ५।१।१६ पृ० २१०
सर्वदर्शनेषु० नि० स्कन्दभाष्य पृ० १५
स्त्री चाविशेषात्० का० १।२।७ पृ० ४६
स्वकर्म० सां० ३।३५ पृ० २१७
स यदुपांशु० श० १।६।३।२७ पृ० ७१
सा विराट्० तै० १।२।२।२७ पृ० ८५
सोमोराजा० तै० ३।१।१।२ पृ० ८६
स विद्धः ० एतरेय ३।३३ पृ० ८६
स एवम्० तै० ३।१।४।६ पृ० ८६
स एतम्० तै० ३।१।४।३ पृ० ८६
स वा एष० ऐ० २।६ पृ० १०२
स्रुचो गृह्णाति का० श्रौ० ३।६।१६ पृ० ११४
सत्यं वै देवा० श० १।१।१।४ पृ० १२४
सहस्रयोजनः ० ऐ० २।७
हस्तेन ते । यजुः प्रातिशाख्य १।१२१ पृ० ६०
हस्त एव० तै० १।५।२।२

पुस्तक में उद्धृत ग्रन्थों की सूची

अथर्ववेद संहिता
अष्टाध्यायी
अष्टाध्यायी महाभाष्य
अथर्ववेदीय सर्वानुक्रमणी
अथर्ववेद सायण भाष्य
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आपस्तम्ब श्रौत सूत्र
आश्वलायन गृह्यसूत्र
आश्वलायन श्रौतसूत्र
ऋग्वेद संहिता
ऋग्वेद सायणभाष्य
ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
ऋग्वेद महर्षि दयानन्द भाष्य
ऐतरेय ब्राह्मण
कठ शाखा
कठोपनिषद्
काण्वशाखा
कात्यायन श्रौतसूत्र
कौपीतकी
कौशिक गृह्यसूत्र
खदिर गृह्यसूत्र
गोपथ ब्राह्मण
गोभिल गृह्यसूत्र
छान्दोग्योपनिषद्
जैमिनीय ब्राह्मण
ज्योतिष चन्द्रिका
ताण्डय ब्राह्मण
तैत्तिरीय शाखा
तैत्तिरीयारण्यक
द्राह्यायण गृह्यसूत्र
निरुक्त और उसके भाष्य
न्यायदर्शन
न्याय वात्सायन भाष्य
पारस्कर गृह्यसूत्र
पंचमहायज्ञविधि
पाराशर स्मृति
बृहद्देवता
मीमांसा दर्शन
मशक सूत्र
मनुस्मृति
मुण्डकोपनिषद्
मानव श्रौतसूत्र
बोधायन गृह्यसूत्र
बौधायन श्रौतसूत्र
भारद्वाज सूत्र
मंत्र ब्राह्मण
मैत्रायणी शाखा
यजुः प्रातिशाख्य और यजुर्वेद
योग दर्शन एवं व्यास भाष्य
लाट्यायन श्रौत सूत्र
लौगाक्षि गृह्यसूत्र
वाजसनेय ब्राह्मण
वाजसनेय प्रातिशाख्य
वितान सूत्र

वैखानस सूत्र
वैदिक ज्योति
वेदान्तदर्शन
वैशेषिक दर्शन
शतपथ ब्राह्मण
शबरभाष्य
शब्द कल्पद्रुम
शास्त्र दीपिका
सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र
संस्कार विधि
सांख्य दर्शन
सांख्यायन श्रौतसूत्र
सांख्यायन आरण्यक
साम संहिता
सर्वानुक्रमणी (कात्यायन कृत)
सत्यार्थ प्रकाश
सिद्धान्तशिरोमणि
सूर्य सिद्धान्त

पुस्तक में उद्धृत अंग्रेज़ी ग्रन्थों की सूची

Aryasamaj Its Cult And Creed : A.V. Shastri
Gems of Aryan Wisdom.
History Of Ancient Sanskrit literature : Maxmuller.
Qriental Philosophy : Francis Grant.
Religion of the Veda : M. Bloomfield.
S.B.E, VolXLVI. Olden burge.
Sciences In the Vedas : A.V. Shastri.
Vedic Terminology, G.D. Vidyarthi
Vedic Age : B.V.B. Bombay.

कुछ पारिभाषिक पदों का स्पटीकरण

अघमर्षण—स्वयं द्वारा की गई बुराई के शोधन के लिए विचार करना और भविष्य में उससे बचने के लिए पुनः न करने का निश्चय करना।

अध्वर—यज्ञ का नाम अध्वर है क्योंकि उसमें हिंसा का अभाव होता है।

अमावस्या—यह उस तिथि का नाम है जिसमें सूर्य और चन्द्रमा एक साथ एक नक्षत्र पर रहते हैं।

आहुति—मंत्र पूर्वक यज्ञ की अग्नि में प्रदान किया जाने वाला घृत अन्नादि भाग आहुति कहलाता है।

उत्तरमीमांसा—व्यास कृत वेदान्त सूत्रों का नाम उत्तरमीमांसा है।

ऊह—मंत्र में किसी पद वा वाक्य को जो कर्मकाण्ड के प्रकार पूर्ण करने के लिए यथास्थान जोड़ा जाता है उसे ऊह कहा जाता है। यह ऊह एक प्रकार की बुद्धिशक्ति है जिसके आधार पर मंत्रार्थ खुलता है और इसी ऊहा पर कार्य-कारण आदि के विचार से होने वाली तर्कणाशक्ति तर्क कहाती है। ऋग्वेद में यह पद इस प्रकार के विस्तृत अर्थ के द्योतन के लिए आया है।

ऋत्विग्—यज्ञ के कराने वालों की ऋत्विग् संज्ञा है।

कल्प—वेद के छः अङ्गों में कल्प एक अङ्ग है। इसमें क्रिया, क्रतु और मन्त्रों को क्रिया से सम्बद्ध करने की विद्या वर्णित है। यह वर्णाश्रम धर्म, कार्याकार्य, आत्म अनात्म, सद् असद् और इन्द्रियगोचर और अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान देता है।

कन्यादान—वर जब पिता माता आदि के द्वारा दिये गए वधूहस्त को ग्रहण करता है तब इस क्रिया को कन्यादान कहा जाता है। पाणिग्रहण इसी के अनुसार होता है। कन्या+आदान अर्थात् कन्या स्वीकार वा ग्रहण करना कन्यादान है। कन्या+दान अर्थात् कन्या का दान नहीं होता है। माता-पिता कन्या का दान नहीं करते। वर की वधू तो उसके गुणकर्मानुसार बनने की स्वीकृति देते हैं परन्तु

अपना अधिकार वे किसी को प्रदान नहीं करते हैं। कन्या तो माता-पिता की सदा कन्या ही रहती है।

गाथा—जिन मन्त्रों में सम्वाद के रूप में ज्ञान का वर्णन मिलता है उन्हें गाथा कहा जाता है।

दक्षिणा—यज्ञ के ऋत्विजों को जो उनके द्वारा कराये गए कर्मकाण्ड का स्वर्ण, गौ, धन आदि के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता है उसे दक्षिणा कहा जाता है।

दर्शपौर्णमास—अमावस्या का नाम दर्श है अतः उस तिथि को होने वाला यज्ञ दर्श है और पूर्णमासी तिथि को होने वाला यज्ञ पौर्णमास है। ये सब यज्ञों की प्रकृति हैं। इनको करके तब मुख्य यज्ञ याग किये जाते हैं।

दाशतयी—दशति दश मन्त्रों की होती है। दशति से दाशतयी बना है। यह दाशतयी पद ऋग्वेद के लिए प्रयुक्त होता है।

देवता—यज्ञ में जिसके लिए मन्त्रपूर्वक आहुति दी जाती है वह देवता होता है। जैसे 'अग्नये स्वाहा' यहाँ पर अग्नि देवता है। जहां पर केवल मन्त्र मात्र ही बोला जाता है और आहुति दी जाती है वहाँ पर वह मन्त्र ही देवता हो जाता है। वैसे यज्ञ के मन्त्र और ईश्वर देवता होते ही हैं।

नग्नहु—सर्ज की छाल, त्रिफला, शुण्ठी, पुनर्नवा, चतुर्जातक, पिप्पली, राज-पिप्पली, वंशावका, बृहच्छत्रा, चित्रका, वारुणी, अश्वगन्धा, धात्यक, यवानी, दोनों जीरा, दोनों हरिद्रा, विरुढ यव और व्रीहि को एक कर देने पर इसका नाम नग्नहु होता है।

नाराशंसी—नाराशंसी उन मन्त्रों की संज्ञा है जिनमें माता-पिता आदि अथवा यज्ञ का वर्णन मिलता है। यज्ञ में भी नर ही शंसा करते हैं अतः यज्ञ को नाराशंस कहा जाता है।

न्यूङ्ख—षोडश मात्रायुक्त ओकार को न्यूङ्ख कहा जाता है।

पुराण—सृष्टि विद्या को वैदिक भाषा में पुराण कहा जाता है। भागवतादि को नहीं। अथर्व ११।७।२४ में 'पुराणं यजुषा सह' वाक्य में पुराण पद इसी अर्थ को देता है।

पूर्वमीमांसा—जैमिनिकृत मीमांसा शास्त्र को पूर्वमीमांसा कहा जाता है।

ब्राह्मण—ब्राह्मण का अर्थ वह विज्ञान है जिससे यज्ञ के रूप की समृद्धि, उसके उद्देश्य की सिद्धि और उसकी प्रशस्ति द्वारा लोगों में उसके प्रति श्रद्धा का उत्पादन होता है। अर्थवाद प्रायः इसी उद्देश्य को पूरा करते हैं।

यज्ञ—यज्ञ वह विशिष्ट कर्म है जिसमें ऋत्विग् यजमान द्वारा घृत सामग्री आदि का प्रयोग यज्ञ के देवता के लिए अग्नि में किया जाता है और 'इदन्नमम' बोलकर त्याग किया जाता है।

यजमान—व्रतधारण करके यज्ञ करने वाले पुरुष वा स्त्री को यजमान कहा जाता है।

यजुः—कर्मकाण्ड को यजुः कहा जाता है। अथर्व १७।७।२४ में "पुराणं यजुषा सह" वाक्य में यजुः से यही अभिप्रेत है।

लौकिकी—वेदातिरिक्त वाक् लौकिकी वाक् है।

बिनियोग—किसी मन्त्र का विशेष क्रिया के साथ सम्बन्ध नियुक्त करना जो अर्थ आदि की दृष्टि से संगत हो वह विनियोग कहाता है। जैसे समिधाग्निम्० आदि मन्त्र से समिधा डालें। यह विनियोग है।

वैदिकी वाक्—संहिता में प्रयुक्त मन्त्र वैदिकी वाक् है।

व्यपपृक्त—पृथक् की गई वस्तु को व्यपपृक्त कहते हैं। न पृथक् की गई को अव्यपपृक्त कहते हैं। जैसे तिल से तेल बनाने मे तेल व्यपपृक्त है और जब तिल में है तब अव्यपृक्त है।

समिधा—यज्ञ में प्रयुक्त की जाने वाली लकड़ी को समिधा कहा जाता है।

चतुर्युगी—चारों युगों का समुच्चय चतुर्युगी है।

परातन्काल—३६००० बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है अर्थात् ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्ष के काल का नाम परान्त काल है। यही ब्रह्म का सौ वर्ष है।

ब्रह्म दिन—चार अरब ३२ करोड़ वर्षों अर्थात् जितने समय यह सृष्टि विद्यमान रहती है उसका नाम ब्रह्म दिन है।

ब्रह्मरात्रि—प्रलय का चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का समय ब्रह्मरात्रि है।

मन्वन्तर—७१ चतुर्युगियों के काल का नाम मन्वन्तर है।

संधि—एक कृतयुग के जितना काल जो २४ मन्वतन्रों के आगे पीछे बीतता है वह सन्धि है और ये १४ मवन्तरों की १५ संधियाँ होती हैं।

लेखक द्वारा लिखित अन्य ग्रन्थ

१. कर्ममीमांसा
२. वैदिकज्योति
३. शिक्षणतरंगिणी
४. दयानन्द सिद्धान्त प्रकाश
५. आर्यसिद्धान्त सागर
६. सामवेद भाष्य (संपूर्ण)
२. वैदिक-इतिहास-विमर्श
८. वैदिक विज्ञान-विमर्श
९. वैदिक युग और आदि मानव
१०. तत्वार्थादर्श
११. छः दर्शनों का समन्वय
१२. दर्शन-तत्व-विवेक
१३. मुक्ति का साधन ज्ञान कर्म-समुच्चय
१४. महर्षि की जन्म तिथि
१५. आर्य समाज स्थापनातिथि
१६. ब्रह्मपारायण यज्ञ हो सकता है
१७. श्री नानजी भाई की जीवनी
१८. योग दर्शन व्यासभाष्य का अनुवाद (अमुद्रित)
१९. अन्तर्राष्ट्रीय आर्य सम्मेलन मारिशस के वेद सम्मेलन का अध्यक्षीय भाषण
२०. आर्यसमाज स्थापना शताब्दी के अवसर पर हुए वेद सम्मेलन का स्वागताध्यक्षीय भाषण और विविध विषयों पर लेख।
२१. ऋग्वेदभाष्य दशम मण्डल संस्कृत
२२. कालः
२३. सांख्यसम्प्रदायान्वेषणम्
२४. वैदिकं वाग्विज्ञानम्
२५. सदाचारः

English

26. The Arya Samaj Its Cult And creed.
27. Sciences In The Vedas.
28. Sanskarvidhi of Swami Dayananda
29. Gems Of Aryan Wisdom
30. The Commentary On Alharva Veda (Complete 20 Kandas.) manuscript in Sarvadashik Sabha, New Delhi-2
31. The Vedic Marriage Ceremony.
32. Vedic Sandhya.
33. Havan Mantras.
34. The Vedic Caste system.
35. The Canon of Vedic Interpretation Adopted by Swami Dayananda.
36. Some Prints of Vedic political Philosophy.
37. The Miscellanea of Vedic Religion and Philosophy (Un publiahed)
38. Unity At home and in the World.
39. Ban on Cow-slaugoter I part
40. ,, ,, ,, II ,,
41. Philosophy Of Swami Dayananda.
42. Morality is the Ultimate End Of Religion.

लेखक के साथ जिनकी हार्दिक सहानुभूति रही है।

श्री दीवान चन्द जी साहनी बम्बई
,, युधिष्ठिर जी पोपल ,,
,, के. एल आनन्द एण्ड संस ,,
,, बालकृष्ण जी. एम. गुप्ता ,,
,, जे. टी दिवेचा ,,
,, मणि भाई के पटेल ,,
,, विजय कुमार जी कपूर ,,
,, नरेन्द्र भाई शिवलाल गुप्ता ,,
,, शान्ती स्वरूप जी गुप्ता ,,
,, सी. गुप्ता ,,
,, सुखवर्धन जी शर्मा ,,
,, ब्रह्मपत जी (पाल साहेब) ,,
,, कपूर प्रोसेसिंग हाउस ,,
,, ओम प्रकाश जी अरोरा ,,
श्रीमती नीलम शेठी ,,
,, केसरबेन लालजी भाई मिस्त्री ,,
श्री धर्मेन्द्र जी कपूर ,,
,, केवलकृष्ण मेहरा ,,
,, मेघराज सेठी ,,
,, गोपाल दास जी ,,
,, सुरेन्द्र जी गोयल ,,
,, बलबीर जी गोयल ,,
,, रामप्रसाद अग्रवाल ,,
,, राधेलाल जी अग्रवाल ,,
,, बी. पी. गुप्त (मेहराना) ,,
,, आर्य समाज सात रस्ता ,,
,, रामरछपाल जी अग्रवाल ,,
,, चत्रमल साहेब ,,
,, रूपलाल जी मेहरा ,,
,, रमेश भारद्वाज ,,
,, जयदेव सिंग जी ,,
,, अरुणोदय कन्सट्रक्सन (मकवानाजी) ,,
,, आर्यसमाज बोरीवली ,,
आर्यसमाज नासिक
,, आर्य समाज भगूर
,, आर्य समाल देवलाली कैंप
,, नटवरलाल भागजी
,, जयदेव जी आर्य ,,
,, रमणदास बधियाणी ,,
,, मेहरचन्द गुप्त ,,
,, महर्षि दयानन्द महाविद्यालय ,,
,, आर्यसमाज घाटकोपर ,,
,, पृथवी पिक्चर्स ,,
,, कान्तीलाल पैन्टर ,,
,, वेकोसिल ,,
,, बिजय स्टील ,,
,, चेतन स्टील ,,
,, आर्य समाज राजकोट
,, आर्य स्त्रीसमाज काकड़वाड़ी ,,
श्रीमती राधा देवी
,, यशोदा देवी
,, प्रभादेवी आर्य

श्री गण्डाराम जी मेहता
श्रीमती ईश्वरी देवी प्रभाकर
-, पुष्पा खन्ना
,, ऋतप्रिया आर्य
श्री के. एल. सुरवीर
,, विद्याभूषण केशव जी
,, आश्विन दावला
,, शंकरलाल चौधरी
,, श्रीराम अग्रवाल
,, बालकृष्ण शास्त्री
,, कृष्ण लाल अरोरा
,, पूरणकुमार त्रिवेदी
,, शोभाकान्त मिश्र
,, शिल्प शिल्क मिल
,, देवीकान्त शास्त्री
,, विष्णु पण्ड्या
,, घनश्याम दास
,, राम निरंजन अग्रवाल
श्रीमती जगतपन देवी
श्री यशजी आहूजा बांद्रा
,, रामरतन जी कोचर
,, अमरनाथ जी कपूर
,, महाजन सिल्क मिल
,, हरीश टेक्सटाइल
,, हरीचन्द जी पाल
,, आर. के. चोपड़ा
,, महेशचन्द एन. शाह
,, अटलास प्रिण्टिंग प्रेस
,, जगदीश चन्द्र दुआ
,, छोटूलाल केशव लाल
,, जसवन्त लाल खाटलावाला
,, यश जी चोपड़ा

,, एस. बी. चड्ढा
,, हरीश भाई जेठा भाई
,, मोहन लाल शाम जी राठोर
श्रीमती जयावेन मोहन लाल राठोर
श्री चाकू भाई मूलजी भाई राठोर
श्रीमती रम्भावेन चाकू भाई
श्री नारनदास हरजी भाई
,, आर. बी. बंजारा
,, अर्जुन सुरेश कुमार
,, लालता प्रसाद पाठक
,, सखा राम
,, शिवराम हरी जगताप
,, नटवरलाल भावसार
,, आर्य समाज विनय नगर
,, आर्य समाज भड़ोंच
,, चम्पक लाल मिस्त्री
,, नन्दलाल सी. त्रिवेदी
,, गोकुलदास वल्लभदास संघवी
,, शुक्ला एण्ड असोसियेट्स
,, वर्मा ब्रदर्स
,, विपिन भाई भाईलाल ठक्कर
,, भूषण धर्मपाल
,, आर्य समाज फोर्ट
श्रीमती शान्ति देवी करसन दास
श्री भोरुका चरिटेबल ट्रस्ट
,, के. पी. मोदी
,, आर्यसमाज जामनगर
,, भगवती प्रसाद जी गुप्त
,, आर्य समाज कारेली बाग बड़ोदा
,, अरुणेश भाई श्राफ
,, जमनादास जी आर्य
,, रोशन लाल जी हवलानी

श्री वली मदान — बम्बई
,, भीखू भाई जोशी — ,,
श्रीमती रुक्मिणी देवी आर्य — ,,
श्री मणीलाल मोती लाल — ,,
,, अम्बा लाल पटेल
,, वाई. एन. वर्मा
,, आर. डी. चौहान
,, डी वी. मोरे
,, आर्यसमाज सान्ताक्रूज
,, गुलजारी लाल आर्य
,, जगदीश चन्द्र मेहरा
,, एलकन सिल्क मिल — ',
,, गोविंदकुमार दयाल जी चन्दन — ,,
,, आर्यसमाज मोटर स्टैंड अमरावती — ,,
,, आर्यन इलेक्ट्रिकल्स — ,,
,, के. मोतीराम वकील — ,,
,, चन्द्रकान्त आर. पटेल
,, सी. एफ. मेहता
,, शान्ताराम जी तारकर — बम्बई
,, आर्य समाज सूरत
,, श्री मंगलसेन जी चोपड़ा
श्रीमती माताजी स्नेहर्लालावेन ठक्कर — ,,
श्री हरदयाल जी रामसहाय — ,,
,, दयाशंकर सिंह — ,,
,, रमेश टोरनेजा — ,,
,, नरेन्द्र बी. मढ़ीवाला — ,,
,, महेन्द्र जी कपूर — ,,
,, अरोरा ब्रदर्स — ,,
,, जगदीशचन्द्र जी प्रवासी — ,,

,, कालाभाई करसन दास नन्द-वाणा — ,,
,, एल. के. नन्दवाणा — ,,
,, आर्य समाज — ,,
,, आर्यसमाज अहमदाबाद
,, वी. आर, पटेल — ,,
,, परशुराम दुधात — ,,
,, आर्यसमाज बान्द्रा — ,,
श्रीमती अमृता बहेन — ,,
,, शीला बहेन गुलाटी — ,,
श्री बजरंग लाल गोयल — ,,
,, श्रीराम नारायण दास — ,,
,, आर्यसमाज गोरे गांव — ,,
,' नारायणदास जुनेजा — ,,
,, ओमप्रकाश जी आर्य — ,,
,, श्री नवीनचन्द्र पाल — ,,
,, प्रकाश चन्द्र मुन्ना — ,,
श्रीमती लीलावती जाधवभाई परमार — ,,
,, प्रमिलावेन शाह — ,,
,, एम. डी. कन्थारिया — ,,
श्री किशनचन्द परशुराम — ,,
,, ओमप्रकाश कक्कड़ — ,,
,, जयचन्द भूपचन्द जी — ,,
,, रघुनाथ वर्मा — ,,
,, गुलाबदास प्रवासी — ,,
,, नगीनदास शेठ — ,,
,, प्रतिमा प्रताप राय चौधरी — ,,
,, जगदीश चन्द शिवाजी पार्क — ,,
श्रीमती प्रेमदेवी नागपाल — ,,
श्री पद्माकर अहाले — ,,
,, नाथू भाई प्रेमजी मिस्त्री — ,,

श्रीमता कलावती जी	,, ,, सुरेशजी टण्डन	,,
श्री रोशन लाल जी चड्ढा	,, ,, रामचन्द्र जी नन्दा	,,
,, प्रेमनाथ जी शर्मा	,, ,, सन्तराम जी अग्रवाल	,,
,, डा. दिवाकर गुप्ता	,, ,, प्रेम अरोरा	,,
,, आनन्दकुमार तिवारी	,, ,, लाल सिह जी	,,

